संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ३

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

नियमसारः

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचिततात्पर्यवृत्तिसहितः

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

हिन्दी अनुवाद

डॉ० पं० पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

नियमसार

कृतिकार : आचार्य कुन्दकुन्द

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर महाराज

अनुवादक : डॉ० पं० पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्

आवृत्ति : २५४३) ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल, ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

पूर्व में यह ग्रन्थ अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान बीना से प्रकाशित था। आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार पद्मप्रभमलधारीदेव हैं। इसका अनुवाद पं० पन्नालाल साहित्याचार्य ने किया है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था, अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आचार्य कुन्दकुन्द

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी गणना ऐसे युगसंस्थापक आचार्य के रूप में की गयी है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मंगलरूप में इनका स्तवन किया जाता है।

मंगलम् भगवान् वीरो मंगलम् गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

जिस प्रकार भगवान् महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म मंगलरूप हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य भी। इन जैसा प्रतिभाशाली अध्यात्म और द्रव्यानुयोग के क्षेत्र में प्रायः दूसरे आचार्य दिखलाई नहीं पड़ते।

कुन्दकुन्द ने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कहा है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के पश्चात् लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की। दर्शनसार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनन्दि की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंत्ति॥

अर्थात् पद्मनन्दिस्वामी ने सीमन्धरस्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे इस प्रबोधन कार्य को न करते तो श्रमण किस प्रकार सुमार्ग को प्राप्त करते।

कुन्दकुन्द के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से जो स्वीकार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कौण्डकुन्दपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पत्ति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण ग्रन्थाध्ययन में इनका अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्य-पद प्राप्त किया।

कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक विवादग्रस्त है। द्वादशअनुप्रेक्षा की अन्तिम गाथा में उसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में पद्मनन्दि का जयकार किया है। इन्द्रनन्दि ने भी अपने श्रुतावतार में कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश किया है? श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ४० में तथा ४२, ४३, ४७ और ५० वे अभिलेख में भी उक्त कथन पुनरावृत्त हुआ है। लिखा है–

तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥[१]

स्पष्ट है कि इनका पद्मनन्दि नाम था। पर वे जन्मस्थान के नाम पर कुन्दकुन्द नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए।

कुन्दकुन्द के षट्प्राभृतों के टीकाकार श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है उसमें इनके पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये नाम दिये हैं। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ में शक सं. १३०७ का विजयनगर का एक अभिलेखांश प्रकाशित है, जिस में लिखा है–

''आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥''

पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के बताये हैं। डॉ० हार्नले ने दिगम्बर पट्टावलियों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम बताये थे। अतः इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रवृत्ति तो निस्संदेह रही है; पर शेष तीन नामों के सम्बन्ध में विवाद है। शिलालेखों से तथा अन्य प्रमाणों से न तो वक्रग्रीव और न एलाचार्य या गृद्धपिच्छ नाम की ही सिद्धि होती है। वक्रग्रीव का उल्लेख ई० सन् ११२५ के ४९.३ संख्यक अभिलेख में द्रविड़ संघ और अरुंगलान्वय के आचार्यों की नामावली में आता है; किन्तु उसमें उनके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। ११२९ ई० के श्रवणबेलगोलाभिलेख नं. ५४ में वक्रग्रीव नाम आया है; पर इस अभिलेख से यह कुन्दकुन्द का नामान्तर है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

श्रवणबेलगोल के अभिलेख नं. ३०५ में समन्तभद्र और पात्रकेसरी के पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है और इन्हें द्रमिल संघ का अग्रेसर कहा है। इसी प्रकार अभिलेख नं. ३४७ और ३१९ में भी वक्रग्रीव का नाम अंकित है; पर इन सभी अभिलेखों से कुन्दकुन्द के साथ वक्रग्रीव का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से एलाचार्य के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं; पर

यह कुन्दकुन्द का नामान्तर सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार गृद्धपिच्छ भी। कुन्दकुन्द का नामान्तर घटित नहीं होता है। संभवतः यह नाम उमास्वाति का रहा है। संक्षेप में कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि अवश्य प्रमाणित होता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का क्या नाम था और उन्होंने किस गुरु-परम्परा को सुशोभित किया, इसके सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द-ग्रन्थों के टीकाकार जयसेनाचार्य के मतानुसार ये कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे। कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने गुरु का नाम भद्रबाहु माना है।

मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में उच्चनागर शाखा के एक कुमारनन्दि का निर्देश प्राप्त होता है। यह अभिलेख हुविष्क वर्ष सतासी का है। इस आधार पर भी कुमारनन्दि का गुरु-शिष्यत्व कुन्दकुन्द के साथ घटित नहीं होता। यतः उच्चनागर शाखा के साथ कुन्दकुन्द का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नन्दिसंघ की पट्टावलि में माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का क्रमशः उल्लेख आता है। इससे यह फलित होता है कि माघनन्दि के पश्चात् जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के पश्चात् कुन्दकुन्द को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ होगा। अतः हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र होना चाहिए।

कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में अपने को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। पर इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य थे या पारम्पर्य ? कुन्दकुन्द ने लिखा है–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ ॥६२॥

तीर्थंकर महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है–अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित हुआ है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों पर से उस को उसी रूप में जाना है। और बारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु को 'गमकगुरु' कह कर उनका कुन्दकुन्द ने जयघोष किया है।

समय-निर्धारण

कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार करने वाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये हैं। उन्होंने अपनी प्रवचनसार को विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में अपने से पूर्व प्रचलित सभी मतों की समीक्षा करते हुए स्वमत का निर्धारण किया है। डॉ० उपाध्ये ने अपने मत के निर्णय के हेतु निम्नलिखित तथ्यों पर विचार किया है–

१. भद्रबाहु का शिष्यत्व

२. श्रुतावतारानुसार षट्खण्डागम का टीकाकारित्व

३. संघभेदानन्तर प्राप्त सूचनाओं का आधारत्व

४. जयसेन एवं बालचन्द्र के उल्लेखानुसार शिवकुमार महाराज का समकालीनत्व

५. कुरलकर्तृत्व

१. डॉ० उपाध्ये का विचार है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद उत्पन्न होने के पश्चात् ही हुए हैं। यदि वे पहले हुए होते तो अचेलकत्व का समर्थन और स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते, यतः संघभेद की उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो चुकी थी। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में श्वेताम्बर प्रवृत्तियों का निषेध किया है।

२. प्रथम तथ्य पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली परम्परा शिष्य माना है। डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि दक्षिण में जो मुनिसंघ आया था, उनमें प्रधान भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। अतः उनके संन्यास मरण के पश्चात् भी प्रधान गुरु के रूप में उनकी मान्यता प्रचलित रही। दक्षिण में जो साधुसंघ था उसे धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार के रूप में भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशवासी कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना गुरु माना, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह यथार्थ है कि कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के साक्षात् शिष्य नहीं हैं, यतः उनका नामोल्लेख अंगधारियों में नहीं मिलता है और न ऐसी कोई किंवदन्ती ही प्राप्त होती है, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन माना जा सके।

३. श्रुतावतार में आया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने 'कषायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' इन दोनों ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी, यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। कुन्दकुन्द की ऐसी कोई भी टीका आज नहीं मिलती और न कहीं उसके अवशेष ही मिलते हैं। अतः इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं होता है। विबुध श्रीधर ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्तग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त करके 'षट्खण्डागम' के आदि के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक शास्त्र

लिखा। डॉ० उपाध्ये का एक अन्य तर्क यह है कि कुन्दकुन्द की प्रतिभा मौलिक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही अधिक है। टीका या टीकाकारिका लिखने की ओर नहीं। अतएव श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण संवत् ६८३ के पश्चात् माना जाना चाहिए, यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। सम्भव है कि कुन्दकुन्द इसके पहले हुए हों।

४. डॉ० उपाध्ये प्रो० चक्रवर्ती के इस तथ्य को समुचित मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लवराजवंशी हैं। किन्तु पल्लवराजवंश का समय अभी तक अनिर्णीत है। अतएव डॉ० उपाध्ये डॉ० पाठक के मत से असहमत होते हुए प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता को स्वीकार करते हैं।

५. कुरलकाव्यकर्ता के रूप में कुन्दकुन्द की मान्यता पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्ये ने बतलाया है कि कुरलकाव्य का जैन होना सम्भव है, उसमें ऐसे अनेक तथ्य आये हैं जो अन्य धर्मों में प्राप्त नहीं होते। इस काव्य का समस्त वर्ण्य विषय जैन आचार और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। अतएव कुरल का कर्ता कोई जैन कवि तो अवश्य है, पर आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसके समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुन्दकुन्द का अन्य नाम एलाचार्य बताया गया है उसकी पुष्टि भी अन्य प्रमाणों से नहीं होती। अतएव कुन्दकुन्द को ई० सन् प्रथम शताब्दी का विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक विचारक डॉ० ज्योति प्रसादजी ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है–All this shows that he may Safely be assigned to the ealry part of the first century A. D. or, to be exact, to 8 B. C.—A. D. 44.

अर्थात् इस आधार पर कुन्दकुन्द का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी आता है।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ

१. प्रवचनसार, २. समयसार, ३. पंचास्तिकाय, ४. नियमसार, ५. बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा), ६. दंसणपाहुड, ७. चारितपाहुड, ८. सुत्तपाहुड, ९. बोहपाहुड, १०. भावपाहुड, ११. मोक्खपाहुड, १२. लिंगपाहुड, १३.सीलपाहुड, १४. सिद्धभत्ति, १५. सुदभत्ति, १६. चारित्तभत्ति, १७. जोइभत्ति, १८. आइरियभत्ति, १९. णिव्वाणभत्ति, २०. पंचगुरुभत्ति, २१. थोस्सामि थुदि।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार

पद्मप्रभ मलधारिदेव

आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका के रचयिता पद्मप्रभ मलधारिदेव हैं। इन्होंने अपने को सुकविजन पयोगमित्र, पञ्चेन्द्रिप्रसरवर्जित और गात्रमात्रपरिग्रह बताया है। मलधारि यह विशेषण दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के मुनियों के साथ जुड़ा हुआ मिलता है। पद्मप्रभ ने अपनी गुरु परम्परा या गण-गच्छ का उल्लेख नहीं किया है। पर इन्होंने अपनी टीका में जिन ग्रंथकर्ताओं और ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनकी सहायता से इनके समय पर विचार किया जा सकता है। इन्होंने अपनी टीका में समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्द, गुणभद्र, अमृतचन्द्र, सोमदेव पण्डित, वादिराज, महासेन नाम के आचार्यों का तथा समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, उपासकाध्ययन, अमृताशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या, पद्मनन्दिपञ्चविंशति, तत्त्वानुशासन, श्रुतबिन्दु नाम के ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

मुद्रित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के पृष्ठ ५३-७३ और ९९ में 'तथाचोक्तम् गुणभद्रस्वामिभिः' कहकर गुणभद्राचार्य के ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। गुणभद्रस्वामी ने अपना उत्तरपुराण शक संवत् ८२० (ई.८९८) में समाप्त किया था। पृष्ठ ८३ पर सोमदेव के यशस्तिलक का एक पद्य उद्धृत मिलता है और यशस्तिलक की समाप्ति शक संवत् ८८१ (ई. सन्० ९५९) में हुई है। टीका के पृ. ६० पर, तथा चोक्तं वादिराजदेवैः लिखकर वादिराज का पद्य दिया है। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की समाप्ति शक सम्वत् ९४७ (ई. सन् १०२५) में की है। अतएव पद्मप्रभ मलधारिदेव का समय ई. सन् १०२५ के पश्चात् होना चाहिए।

पृष्ठ ६१ में टीकाकार ने चन्द्रकीर्ति मुनि के मन की वन्दना की है और पृ. १४२ में श्रुतबिन्दु नामक ग्रन्थ का एक पद्य उद्धृत किया है। श्रवणबेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में इन्हीं चन्द्रकीर्तिमुनि का स्मरण किया गया है और उन्हें श्रुतबिन्दुग्रन्थ का कर्ता भी बताया गया है–

विश्वं यश्श्रुत-बिन्दुनावरुरुधेभावं कुशाग्रीयया
बुध्येवाति-महीयसा प्रवचसा बद्धं गणाधीश्वरः।
शिष्यान्प्रत्यनुकम्पया कृशमतीनेदं युगीनान्सुगी-
स्तं वाचार्च्चत चन्द्रकीति-गणिनं चन्द्राभ-कीर्तिं बुधाः[1]**॥**

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य ३२

यह अभिलेख फाल्गुन कृष्णा तृतीया शक संवत् १०५० (ई. सन् ११२८) का लिखा हुआ है। इस दिन मल्लिषेण मुनि ने आराधनापूर्वक शरीरत्याग किया था। इसमें गौतमगणधर से लेकर उस समय तक के अनेक आचार्यों और ग्रंथकर्ताओं की प्रशस्तियाँ दी गयी हैं। यद्यपि इस अभिलेख में आचार्यों का पूर्वापर सम्बन्ध और गुरु-परम्परा का स्पष्टत: निर्देश नहीं मिलता है, तो भी अनेक नयी सूचनाओं के कारण यह प्रशस्ति अधिक उपादेय है। इसमें श्रुतबिन्दु के कर्ता चन्द्रकीर्ति के बाद कर्मप्रकृति भट्टारक, श्रीपालदेव, उनके शिष्य मतिसागर, प्रशिष्य वादिराजसूरि, हेमसेन, दयापाल, श्रीविजय, कमलभद्र, दयापाल, शान्तिदेव, गुणसेन, अजितसेन और उनके शिष्य मल्लिषेण का उल्लेख आया है। चन्द्रकीर्ति मल्लिषेण की मृत्यु के २५ वर्ष पहले हुए हों, तो इनका समय वि. संवत् ११०८ के आस-पास आता है। अतएव पद्मप्रभ मलधारिदेव का समय भी ई. सन् ११०३ के पूर्व होना चाहिए।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में और पाँचवें अध्याय के अन्त में वीरनन्दिमुनि की वन्दना की गयी है। मद्रास प्रान्त के पटशिवपुरम् ग्राम में एक स्तम्भ पर पश्चिमी चालुक्यराजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेव के समय का शक सम्वत् ११०७ का एक अभिलेख है। जबकि उसके माण्डलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेवचोल्ल हेजरा नगर पर राज्य कर रहे थे। उसी में यह लिखा है कि जब यह जैनमन्दिर बनवाया गया था, तब श्री पद्मप्रभमलधारिदेव और उनके गुरु श्रीवीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यमान थे। अतएव इन प्रमाणों के आधार पर पद्मप्रभ मलधारिदेव का समय ई. सन् की १२वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

श्री पण्डित नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि पञ्चविंशति के कर्ता पद्मनन्दि पद्मप्रभ मलधारिदेव से अभिन्न हैं, क्योंकि दोनों के गुरु एक हैं। दूसरी बात यह है कि एकत्वसप्तति प्रकरण के अनेक पद्य नियमसार-टीका में उद्धृत मिलते हैं, पर यह अनुमानमात्र ही है। मलधारि पद्मप्रभदेव पद्मनन्दिपञ्चविंशति के कर्ता पद्मनन्दि से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

रचनाएँ

नियमसारटीका के साथ पार्श्वनाथस्तोत्र की रचना भी इनके द्वारा की गयी है। नियमसार की टीका में नियमसार के विषय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् होने के कारण टीका में आये हुए विषयों का विशद स्पष्टीकरण किया है।

पार्श्वनाथस्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम लक्ष्मीस्तोत्र भी इसमें ९ पद्य हैं। अन्तिम पद्य में कवि ने अपने को तक, नाटक, व्याकरण और काव्य के कौशल में विख्यात कहा है तथा अन्त में लेखक ने अपना नाम

भी दिया है। स्तोत्र में पार्श्वनाथ के गुणों की चर्चा करते हुए उनके मरुभूति और कमठ भवों की ओर भी संकेत किया गया है। स्तोत्र में पार्श्वनाथ की शरीराकृति, गुण उनकी अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी का वर्णन किया गया है। इस स्तोत्र में अनुप्रास और पदों की चारुता अद्भुत सौन्दर्य का सृजन करती है। यहाँ उदाहरणार्थ एकाध पद्य उद्धृत किया जाता है–

लक्ष्मीर्महस्तुल्यसती सती सती प्रवृद्धकालो विरतो रतो रतो।
जरारुजाजन्महता हता हता पार्श्वं फणे रामगिरौ गिरौ गिरौ॥

× × ×

विवादिताशेषविधिर्विधिर्विधिर्बभूव सर्प्यावहरी हरी हरी।
त्रिज्ञानसज्ञानहरो हरोहरो पार्श्वं फणे रामगिरौ गिरौ गिरौ॥

× × ×

श्रीपद्मप्रभदेवनिमित्तमिदं स्तोत्रं जगन्मंगलं॥[1]

१. पार्श्वनाथस्तोत्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य १, ५, ९

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवादक
डॉ॰ पण्डित पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

- ❑ बहुमुखी-प्रतिभा सम्पन्न एवं राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित पण्डितजी का जन्म पारगुवां (सागर) में ५ मार्च, १९११ को हुआ। बाल्य काल से ही आप विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। अर्थाभाव के कारण आपने बाल्यकाल से संघर्ष किया, किन्तु आप अपनी लगन एवं परिश्रम के कारण प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण रूप से सफल हुए।
- ❑ डॉ॰ पन्नालालजी साहित्याचार्य की गणना जैन समाज के प्रथम पंक्ति के विद्वानों में की जाती है। पण्डित जी अपने शान्त स्वभाव, सरल व्यक्तित्व और व्रती आचरण से जन-जन की श्रद्धा के पात्र थे। आपके व्यक्तित्व में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी के दर्शन होते थे।
- ❑ पंडितजी देश के उन ख्याति प्राप्त विद्वानों में से एक थे, जिनकी लेखनी लगभग ५० वर्ष तक अनवरत चलती रही। आपने लगभग ६५ ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद किया। आपने कुछ ग्रन्थ संस्कृत में मौलिक रूप से लिखे। २५ ग्रन्थ प्रथमानुयोग, ७ ग्रन्थ करणानुयोग, १९ ग्रन्थ चरणानुयोग तथा १४ ग्रन्थ द्रव्यानुयोग के हैं। स्तोत्रादि के ग्रन्थ के अतिरिक्त आपके द्वारा अन्य सम्पादित और संयोजित स्मृति ग्रन्थ व स्मारिकाएँ भी हैं।
- ❑ आपको महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन ग्रन्थ पर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त हुई।
- ❑ आपने जीवन में जितनी साहित्य सेवा की है, उसका मूल्यांकन सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर हुआ। भारत सरकार, मध्यप्रदेश सरकार एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं की ओर से पंडितजी को अनेक बार सम्मानित किया गया।
- ❑ आपके विद्यार्जन का प्रमुख केन्द्र सागर एवं विद्वानों की जननी काशी रही है, आध्यात्मिक संत प्रवर पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी के सान्निध्य में आप बहुत समय तक रहे हैं। जीवन के अंतिम १५ वर्ष तक वर्णी जी द्वारा स्थापित श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, जबलपुर में मूल ग्रन्थों का पठन-पाठन कराकर लगभग २१ ब्रह्मचारी भाइयों को जैन विद्या में निष्णात बनाया।
- ❑ आप संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि, सफल टीकाकार, चिन्तक, विचारक एवं आदर्श शिक्षक के रूप में रहे।
- ❑ आपकी साहित्यिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक सेवाओं की सूची बहुत लम्बी है, जिस पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है।

नियमसार : एक अध्ययन

'नियमसार' आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। इसका परिमाण १८७ प्राकृत गाथा मात्र है। इसकी भाषा शौरसेनी है। ग्रन्थ का विषय श्रमणाचार है। मूलग्रन्थ में अधिकार विभाजन नहीं है। संस्कृत टीकाकार ने नियमसार को बारह अधिकारों में विभाजित किया है। नियमसार ग्रन्थ पर पद्मप्रभमलधारिदेव की संस्कृत टीका है, जिसका नाम तात्पर्यवृत्ति है। यह टीका गद्य-पद्यमय है। दूसरी संस्कृत टीका आर्यिका ज्ञानमती कृत है, जिसका नाम स्याद्वादचन्द्रिका है। तीसरी बालबोध नामक हिन्दी भाषा टीका ब्र० शीतलप्रसाद कृत है। चौथी अंग्रेजी भाषा टीका उग्रसेन कृत है। आचार्य ज्ञानसागर एवं आचार्य विद्यासागर ने भी इस ग्रन्थराज पर गद्य-पद्यानुवाद किया है। इसके अतिरिक्त नियमसार मूल और तात्पर्यवृत्ति के हिन्दी, गुजराती, कन्नड, अंग्रेजी भाषाओं में अनेक अनुवाद हुए हैं। मूलप्राकृत गाथाओं का मराठी भाषा में भी अनुवाद हुआ है। उक्त सब सामग्री प्रकाशित है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार बालचन्द्रकृत कन्नड़ टीका है, (जैन एण्टीक्येरी, भाग ३७ किरण २ दिसम्बर १९८४ पृ. १३) किन्तु प्रयत्नशील रहने पर भी इसके विषय में किसी अन्य स्रोत से जानकारी नहीं प्राप्त हो पायी। इसके अतिरिक्त नियमसार ग्रन्थ पर श्री मनोहर वर्णी सहजानन्द और कानजी स्वामी के महत्त्वपूर्ण प्रवचन भी प्रकाशित हैं। उक्त प्रवचनों की अपनी स्वतन्त्र उपयोगिता है।

प्रमुख विशेषताएँ

नियमसार की कतिपय मौलिक विशेषताओं को निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है –

१. श्रुत—कुन्दकुन्द ने स्वयं नियमसार को 'श्रुत' नाम देकर इसे केवलियों और श्रुतकेवलियों द्वारा उपदेशित कहा है। संस्कृत टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने इसे 'परमागम', 'परमेश्वरशास्त्र' और 'भागवतशास्त्र' कहा है तथा इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख (निर्वाण) बताया है।

२. नियम—'णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं' (गा० ३) अर्थात् नियम से करने योग्य कार्य नियम है, वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। यहाँ नियम को मोक्ष का उपाय या मोक्षमार्ग और उसका फल निर्वाण बताया गया है। जैनागमों तथा संस्कृत के पारम्परिक ग्रन्थों में अन्यत्र कहीं भी इस अर्थ में 'नियम' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह विशिष्ट प्रयोग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग व्यवहारनय से नियम कहा गया है। शुभाशुभ रूप वचन तथा राग आदि भावों का निवारण करके आत्मा का ध्यान करना, नियम से नियम है अर्थात् निश्चय से नियम है।

३. तत्त्वार्थ—नियमसार में विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा गया है। यहाँ तत्त्वार्थ या द्रव्य को परिभाषित नहीं किया गया है। आगे 'जीवादि दव्वाणं' तथा एदे 'छद्दव्वाणि' शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य कायवान् तथा बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहे गये हैं। काल द्रव्य कायवान् नहीं होने से तथा एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की पहली गाथा में अर्थ (पदार्थ) को द्रव्यमय कहा गया है। पंचास्तिकायसंग्रह में एक सौ दो गाथाओं में पाँच अस्तिकायों और छह द्रव्यों का विवेचन हुआ है। वहीं १०३ वीं गाथा में कहा गया है कि जो प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह को जानकर राग-द्वेष को छोड़ता है, वह संसार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है। १०४ वीं गाथा में पाँच अस्तिकायों और छह द्रव्यों के लिए (अट्ठं) शब्द का प्रयोग हुआ है। १६० वीं गाथा में धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है।

नियमसार में द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहे जाने से ज्ञात होता है कि 'पंचास्तिकाय' और षड्द्रव्य को तत्त्वार्थ मानने की प्राचीन परम्परा रही है, जिसे कुन्दकुन्द ने यथावत् सुरक्षित रखा किन्तु उनके समय तक सात तत्त्वों या नौ पदार्थों की मान्यता भी विकसित हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने पंचास्तिकायसंग्रह में इनका भी समावेश कर दिया।

४. ज्ञान-दर्शन का स्वभाव-विभाव कथन—जीव उपयोगमय होता है। उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। अतीन्द्रिय और असहाय केवलज्ञान स्वभावज्ञान कहा गया है। तात्पर्यवृत्तिकार ने इसके दो भेद किये हैं—कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान। समस्त प्रकार से निर्मल केवलज्ञान कार्यस्वभाव ज्ञान है और परम पारिणामिक भाव में स्थित तीन काल सम्बन्धी उपाधि रहित आत्मा का सहजज्ञान कारण स्वभाव ज्ञान कहलाता है। पुनः विभाव ज्ञान भी संज्ञान और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप दो प्रकार का होता है। संज्ञान के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये चार भेद तथा अज्ञान के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि से तीन भेद होते हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हुए।

दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव ये दो भेद होते हैं। इन्द्रियों की सहायता से रहित केवलदर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है। टीकाकार ने इसके भी कारणस्वभावदर्शन और कार्यस्वभावदर्शन ये दो भेद किये हैं। चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन ये तीन विभाव-दर्शनोपयोग के भेद हैं। इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद हुए।

५. स्वभाव-विभावपर्याय—पर्याय के दो भेद हैं—स्वभाव व विभावपर्याय। कर्मों की

उपाधि से रहित जो पर्याय है, वह स्वभावपर्याय है। तात्पर्यवृत्तिकार ने इसके कारण शुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ये दो भेद बताये हैं। विभावपर्याय के मूलतः चार भेद हैं—नर, नारक, तिर्यंच और देव। पुनः इनके क्रमशः दो, सात, चौदह और चार भेद कहे गये हैं।

६. कारण-कार्यपरमाणु—परमाणु का लक्षण कहते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त है, इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है तथा अविभागी है, वह परमाणु जानो। उसके कारण और कार्य परमाणु रूप दो प्रकार हैं। जो परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का हेतु है, वह कारण परमाणु है। जो स्कन्धों के अवसान से उत्पन्न होता है, वह कार्य परमाणु है। यहाँ परमाणु के स्वभाव गुण और विभावगुण, स्वभावपर्याय और विभावपर्याय तथा निश्चय और व्यवहारनय से पुद्गल द्रव्यत्व कहे गये हैं।

७. हेय और उपादेय—नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्ज्ञान के लिए 'सण्णाणं' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने संशय, विमोह और विभ्रम रहित तथा हेय और उपादेय तत्त्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बताया है। वे कहते हैं कि जीव के स्वभावस्थान, मानापमानभाव स्थान, हर्षभावस्थान, अहर्षभावस्थान, स्थितिबन्धस्थान, प्रकृतिबन्धस्थान, प्रदेशबन्ध-स्थान, अनुभागबन्धस्थान, उदयस्थान, क्षायिकभावस्थान, क्षयोपशमस्वभावस्थान, औदयिकभावस्थान, उपशमस्वभावस्थान, चतुर्गतिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि पर्यायें, संस्थान और संहनन नहीं हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से उक्त सभी जीव के माने गये हैं, किन्तु यथार्थ में ये सब परद्रव्य हैं, इसलिए हेय (त्याज्य) कहे गये हैं।

निश्चयनय से जीव/आत्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निष्कल, निरालम्ब, नीराग, निर्मूढ़, निर्दोष, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निःशल्य, समस्त दोष रहित, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान, निर्मद, रूप-रस-गन्धरहित, अव्यक्त, चेतना गुण वाला, अशब्द, किसी लिंग के द्वारा अग्राह्य और किसी भी आकार द्वारा अनिर्दिश्य होता है। ऐसे शुद्ध जीव या आत्मतत्त्व को उपादेय कहा गया है। उक्त हेय और उपादेयतत्त्वों का संशय, विमोह तथा विभ्रम रहित ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

८. आलोचना के चार भेद—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि कर्म और नोकर्म रहित तथा विभावगुणों और पर्यायों से भिन्न अपनी आत्मा का ध्यान करना आलोचना है। आगम में उसके आलोचना, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि ये चार भेद कहे गये हैं। आलोचना का ऐसा विभाजन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

९. षडावश्यक (प्राचीन परम्परा)—आवश्यक श्रमण की दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण,

प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मान्य हैं। किन्तु नियमसार में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि और भक्ति इन छह का इसी क्रम में विवेचन किया गया है। वहाँ इनके साथ आवश्यक शब्द का प्रयोग नहीं है। किन्तु प्रतिक्रमणादि का कथन करने के बाद अठारह गाथाओं में निश्चय आवश्यक का स्वरूप कहा गया है। वहीं आवश्यक शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

प्रतिक्रमण में अतीतकालीन दोषों का निराकरण किया जाता है। अनागत दोषों के परिहार के लिए प्रत्याख्यान होता है। वर्तमान दोषों की आलोचना की जाती है। उक्त तीनों आवश्यकों में विचारित दोषों के शोधन के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। प्रायश्चित्त तपश्चरण स्वरूप होता है। इसमें ही कायोत्सर्ग भी समाहित है। इस प्रकार दोषमुक्त होने के बाद परमसमाधि और भक्ति होती है। इनमें सामायिक और ध्यान ही प्रमुख क्रियाएँ हैं। यह आवश्यकों की प्राचीन परम्परा है, जिसे कुन्दकुन्द ने नियमसार में सुरक्षित रखा है। यहाँ यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के समय तक आवश्यकों की प्राचीन परम्परा प्रचलित थी, जिसे बाद में संशोधित करके नवीन परम्परा को विकसित किया गया।

१०. अन्तरात्मा-बहिरात्मा तथा अवश-अन्यवश श्रमण—जो श्रमण आवश्यक से युक्त, जल्परहित और धर्म तथा शुक्लध्यान में परिणत होता है, वह अन्तरात्मा है। जो श्रमण आवश्यक से हीन, जल्प सहित और ध्यान विहीन होता है वह बहिरात्मा है। जो श्रमण अन्य के वश नहीं है, वह अवश कहलाता है और उसी अवश के ही आवश्यक कर्म होता है। जो श्रमण अशुभ भावों में, शुभभावों में और द्रव्यगुणपर्याय में चित्त को लगाता है, वह अन्यवश होता है। उसके आवश्यक कर्म नहीं होता। श्रमण के ये भेद सर्वप्रथम नियमसार में बतलाये गये हैं। इस प्रसंग में पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द का ही अनुकरण किया है।

११. ज्ञान, दर्शन तथा आत्मा का स्वपर प्रकाशकत्व—नियमसार में ज्ञान, दर्शन और आत्मा की एकता तथा इनके स्वपर-प्रकाशकत्व का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता और आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रहता। इस कथन से उस चिन्तन के संकेत मिलते हैं, जिसमें ज्ञान को आत्मा से भिन्न माना गया है। इसी तरह कहीं ज्ञान को मात्र पर-प्रकाशक माना गया है। यहाँ कुन्दकुन्द ने ज्ञान, दर्शन और आत्मा के स्व-पर-प्रकाशकत्व का तर्कपूर्ण विवेचन किया है, जो उत्तरवर्ती दार्शनिकों को चिन्तन के लिए आदर्श रूप में उपलब्ध हुआ।

१२. ज्ञान और दर्शन युगपत् होते हैं—नियमसार में कहा गया है कि केवली के ज्ञान और दर्शन सूर्य के प्रकाश और ताप की तरह युगपत् (एक साथ) होते हैं। यह कथन सर्वप्रथम कुन्दकुन्द

ने किया है, जिसे बाद में सभी दार्शनिकों ने अपनाया है।

१३. सर्वज्ञता—नियमसार में जैनदर्शन की सर्वज्ञता विषयक यह अवधारणा अत्यन्त स्पष्टरूप से व्याप्त हुई है कि केवली सर्वज्ञ व्यवहार से समस्त लोकालोक को जानता है, किन्तु निश्चय से वह अपने को ही जानता है। सर्वज्ञता विषयक विचार कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है। नियमसार में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है।

१४. निश्चय और व्यवहारनय—आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहारनय का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। किन्तु उन्होंने निश्चयनय तथा व्यवहारनय को परिभाषित नहीं किया है। उन्होंने अवश्य बताया है, यह निश्चय का कथन है और यह व्यवहारनय का। कुन्दकुन्द से पूर्व किसी ग्रन्थकार ने नयों को निश्चय और व्यवहार नाम नहीं दिया। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चयनय द्रव्यार्थिकनय के समान तथा व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय के समान है। वे निश्चयनय को परमार्थ, शुद्ध और भूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ और अशुद्ध बतलाते हैं। कुन्दकुन्द के टीकाकारों एवं उत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थकारों ने उक्त नयों के अनेक भेद-प्रभेद किये हैं।

१५. निर्वाण कहाँ है?—नियमसार में निर्वाण के सन्दर्भ में कहा गया है कि केवली की आयु का क्षय होने से शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। पश्चात् वे शीघ्र एक समय मात्र में निर्वाण को प्राप्त करते हैं। वे जन्म, जरा और मरण रहित, परम, आठ कर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानादि चार स्वभाव वाले, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालम्ब हो जाते हैं। जहाँ दुःख-सुख, पीड़ा, बाधा, मरण, जन्म, इन्द्रियाँ, उपसर्ग, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कर्म, नोकर्म, चिन्ता, आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान नहीं है, वही निर्वाण है। निर्वाण का इतना स्पष्ट विवेचन कुन्दकुन्द से पूर्व कहीं उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनेक दृष्टियों से कुन्दकुन्द के नियमसार का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनके ग्रन्थों में जिनवाणी की मूल विरासत सुरक्षित है।

भाषा

यहाँ नियमसार की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत है –

स्वरप्रयोग—नियमसार में अ, इ, उ, ए और ओ इन पाँच ह्रस्व स्वरों एवं आ, ई, ऊ इन तीन दीर्घ स्वरों का प्रयोग मिलता है। उक्त स्वर ध्वनियों से प्रारम्भ होने वाले शब्द उदाहरण स्वरूप इस प्रकार हैं—अ अक्खयं (१७७), अगंधं (४६), इ इत्थि (५९), इरिया (६१), उ उदयठाणा (४०), उवओगो (१०), ए-एक्को (१५७), एगो (१०२), ओ-ओही (१२), ओदइय (४१), आ-आदा

(१८), आयासं (९), ई–ईहापुव्वं (१७५), ईसाभावेण (१८६) ऊ–दीर्घ स्वर से प्रारम्भ होने वाला कोई शब्द नियमसार में नहीं मिला। ऊ स्वर का मध्य एवं अन्त्य प्रयोग उपलब्ध है। यथा–हेऊ (२५), णमिऊण (१)।

व्यंजनप्रयोग–ग्रन्थ में क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, ध, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स और ह इन व्यंजनवर्णों का प्रयोग मिलता है। इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं–क–कज्जं (३), कक्कसं (६२), ख–खइया (४१), खमया (११५), ग–गमणं (१८४), गहण (६४), घ–घणघाइ (७१), च– चउ (२३), चक्खु (५१), छ–छद्दव्वाणि (३४), छप्पयारा (२०), ज–जणणं (१७९), जप्पं (९५), झ–झाणं (६९), झायदि (८३, ८९), ठ–ठाणं (१७५), ठिदा (९२), ण–णयरे (५८), णाणा (१५६), त–तच्चं (५०), तण्ह (८), थ–थावरेसु (१२६), थी (४५), द–दप्पो (७३), दव्वं (२०), ध–धम्मो (९), धम्मत्थी (१८४), प- पच्चक्खं (१६७), पज्जंतं (१८३), फ–फलं (१५७), फासं (२७), ब–बहुणा (११७), बहिरप्पा (१४९), भ–भत्ती (१३४), भयं (१३२), म–मग्गं (१२६), मज्झं (२६), य–य (९), र–रइ (६), रसो (२७), ल–लक्खणं (१०८), लोयं (१६९), व- वयणं (३), ववदेसो (२९), स–सज्झायं (१५३), सण्णा (५९), ह–हस्सं (१३१), हरिस्सठाणा (३९) आदि। उपर्युक्त व्यंजनों में से ट, ड तथा ढ का प्रयोग शब्दारम्भ में नहीं मिलता है। मध्य और अन्त में इनका प्रयोग उपलब्ध है। यथा–अट्टं (१२९), णिद्दंडो (४३), पडिक्कमणं (८२-९१) गूढे (६५), अगाढत्तं (५२) आदि।

संयुक्त व्यंजन प्रयोग–यहाँ २५ संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें निम्नलिखित उदाहरणों में देखा जा सकता है–क्क–कक्कसं (६२), सुक्कं (८९), क्ख–चक्खु (४१), पच्चक्खं (१६९), ग्ग–उवसग्गा (१८०), मग्गं (१८६), ग्घ–सिग्घं (१७६), च्च–तच्चं (५०), पच्चक्खं (६९), च्छ–अच्छेयं (१७७), मिच्छा (९१), ज्ज–कज्जं (३), पज्जंतं (१८३), ज्झ–मज्झं (२६), सज्झायं (१५३), ट्ट–अट्टं (१२९) (१८१), परियट्टण (३३), ट्ठ–अट्ठ (४७), उवट्ठिदो (९९), ड्ढं–उड्ढं (७६) बुड्ढो (७९), ण्ण–सण्णाणं (११, १२), सण्णा (५९), त्त–अत्ता (२५), भत्ती (१३४), त्थ–धम्मत्थी (१८४), इत्थि (५९), द्द–णिद्दंडो (४३) णिद्दा (६, १८०), द्ध–लद्धी (१५६) सुद्धं (८, १७७), प्प–जप्पं (९५), अप्पवसो (१४६), णिब्भयो (४३), अब्भुट्ठिदो (१५२), म्म–जम्म (४७), धम्मो (९), ल्ल–णिस्सल्लो (४४), अल्लिय (४७), व्व–दव्वं (२०), णिव्विअप्पेण (१२१), स्स–हस्सं (१३१), हरिस्सठाणा (३९), ण्ह–तण्ह (६), जोण्ह (१३९), म्ह–तम्हा (५४, ९२), जम्हा (३९), ण्ड–कमण्डल (६४)।

विभक्ति रूप–पुलिंग विभक्तियों में निम्नलिखित प्रयोग यहाँ उपलब्ध होते हैं–कर्त्ता एकवचन में जीवो (१०, ३७), जोगो (१३७), बहुवचन में समणा (१४५), पुरिसा (१५३), कर्म

एकवचन में जिणं (१), जीवं (४६), बहुवचन में जीवा (४८, ४९) सिद्धा (७२), करण एकवचन में जीवेण (९०), दोसेण (५७), बहुवचन में पज्जऐहिं (९), दुविहेहिं (१९), जिणेहिं (१३४), सम्प्रदान और सम्बन्ध एकवचन में जीवस्स (३९, ४०) समणस्स (१०७), बहुवचन में जीवाणं (५६), भावाणं (६६), अपादान एकवचन में ववहारो (१८), चरणदो (१४८), कम्मादो (१११), अधिकरण एकवचन में संवरे (१००) जोगे (१००) पदेसे (५५), बहुवचन में तसेसु (१२६) थावरेसु ()।

स्त्रीलिंग रूपों में कर्त्ता एकवचन में छुहा (१८०) बाहा (१७९) पीडा (१७९), कर्म एकवचन में मायं (११५) किरियं (१२२, १५२), करण एकवचन में खमया (११५), सम्बन्ध में पयडीणं (१७६), अधिकरण एकवचन में भावणाए (७६, ११४)।

नपुंसकलिंग रूप में—कर्त्ता एकवचन में णाणं (१६०, १६१), दंसणं (१६२), बहुवचन में दव्वाणि (३४), रुद्धाणि (१६१), सेसाणि (३७), कर्मएकवचन कम्मं (१४६), आयासं (१४७), करण एकवचन में णाणेण (१६१), अपादान एकवचन में कम्मादो (१११), सम्प्रदान एकवचन में कम्मस्स (१८), बहुवचन में तच्चाणं (५, ५२), कम्माणं (११७), अधिकरण एकवचन में णाणे (१००) दंसणे (१००), चरित्ते (१००) चरिए (१५२) बहुवचन में तच्चेसु (१३९) सुत्तेसु (६९) जप्पेसु (१५०) आदि।

सर्वनाम रूप—सर्वनाम रूपों में कर्त्ता एकवचन में सो (७, २६), जं (३, २५) जा (६९), बहुवचन में से (१५) जे (१५४), एदं एदे (३४, ४९) रूप मिलते हैं। कर्म एकवचन में तं (३, ११, १३) करण एकवचन में जेण (४९), तेण (८, ८२), अपादान एकवचन में जम्हा (३५) तम्हा (९२) सम्बन्ध एकवचन में जस्स (१२७) तस्स (२, ४) बहुवचन में तासु (५९) रूप मिलते हैं। निजवाचक सर्वनामों में मए (१८७) मज्झ/मज्झं (१००, १८४) मे (९९) रूप मिलते हैं। सर्व शब्द के सव्वं (९७, १०३) सव्वे (४५) एवं सव्वेसिं (६०) रूप प्राप्त होते हैं।

धातुरूप—वर्तमान काल प्रथमपुरुष (उत्तमपुरुष) एकवचन में करोमि (१०३) होमि (८१) परिवज्जामि (९९) एवं वोसरे (९९, १०३) रूप मिलते हैं। मध्यमपुरुष एकवचन में इच्छसि (१४७) एवं मण्णसे (१६१) रूप प्रयुक्त हुए हैं। अन्यपुरुष के एकवचन और बहुवचन दोनों के रूप पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। एकवचन में उच्चइ (२९) कुणइ (९३) कुणदि (८५) कुव्वइ (१०६) जणेति (१२८) जाणइ (१६९) जाणदि (९७) जाणेइ (१७०) जुंजदि (१३९) जुंजदे (१३७) आदि। झादि (१४६) झायइ (१२१) झायदि (८३) भावेइ (१११) भावइ (९१) विज्जदि (५४) विज्जदे (१७९) हवदि (४) हवेइ (५, २०) होइ (२, ४) होदि (१८, २१) आदि। अन्य रूपों में ये दृष्टव्य हैं–णिवत्तदे (५९) की भाँति अन्तिम 'द' लोप वाले गेण्हए (९७) चिंतए (९७) एवं पडिवज्जए

(१०४) अन्यपुरुष बहुवचन में कहयंति (१४५) गच्छंति (१०४), णिंदंति (१८६), परूवेंति (२४) भणंति (१४१, १४५) संति (३२, ४२) हवंति (८, २४) होंति (१९, ३३)।

भविष्यत्काल उत्तमपुरुष एकवचन में वोच्छामि (१) एवं पवक्खामि (५४, ७६) रूप मिलते हैं। मध्यमपुरुष का कोई रूप प्रयुक्त नहीं हुआ। अन्यपुरुष एकवचन में काहदि (१२४) रूप मिला है। विधि एवं आज्ञार्थक रूपों में विणु (१७१) धरु (१४०) कुज्जा (१४८) करेज्ज (१५४) जाण (४५, १५३) जाणह (१०९) जाणीहि (६९) जाणेहि (१८४) विजाणाहि (१५१) वियाणाहि (२३) कुणह (१८६) चिंतिज्जो (९८) वज्जिज्जो (१५६) हवे (५) एवं पूरयंतु (१८५) के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

प्रत्यय प्रयोग—कृदन्तप्रयोगों की दृष्टि से देखने पर सम्बन्धकृदन्त, वर्तमानकृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, विध्यर्थकृदन्त तथा हेत्वर्थ कृदन्त के रूप मिलते हैं। सम्बन्ध कृदन्त के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं–मोत्तूण (८३, ८४) काऊण (१४०) चउऊण (९१) ठविऊण (१३६) णमिऊण (१), दट्ठूण (५९) परीक्खऊण (१५५) पेच्छिऊण (५८) लद्धूण (१५७)। किच्चा (८३, ९५) णच्चा (९४) सोच्चा (१६६) चइत्तु (१५७) परिहरित्तु (१२१) संठवित्तु (१०९) चत्ता (८८) परिचत्ता (६२)।

वर्तमान कृदन्त के कतिपय प्रयोग इस प्रकार देखे जा सकते हैं–अवलोगंतो (६१), कुव्वंतो (१५२) जाणंतो (१७२) पस्संतो (१७२) पच्छंतस्स (१७६) वदंतस्स (६२) वहंतस्स (६०) भूतकालिक कृदन्त के भी कतिपय उदाहरण देखे जा सकते हैं–भणिदं (१, १३) कदं (१८७) आदि। विध्यर्थकृदन्त के कायव्वं (१३८) कायव्वो (११३), णादव्वं (१७), णादव्वा (१६) णादव्वो (२५) बोद्धव्वा (१४२), मुणेयव्वं (१६०) रूप मिलते हैं। हेत्वर्थ कृदन्त के धरिदुं (१०६) एवं कादुं (११९, १४४) रूप मिलते हैं।

अव्यय प्रयोग—'अथवा' इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'अहव' (३१, ५९) 'व' (५७) एवं 'वा' (३९, ४० आदि) का प्रयोग मिलता है। 'इति' अर्थक इदि, त्ति (२९, ३४), ति (२, ११) प्रयुक्त हुए हैं।

नियमसार में 'एव' का प्रयोग स्वतन्त्र शब्द के रूप में नहीं हुआ है। यहाँ यह सर्वत्र अपने पूर्ववर्ती शब्द के साथ सन्धि कर लेता है। यथा चेव च-एव (१२, २०), णेव ण-एव (२६, ७७) तस्सेव तस्स-एव (५७, ५८) तत्थेव तत्थ-एव (९८) आदि।

निश्चयार्थक 'खलु' के अर्थ में 'खलु' (३, ३९, १४४) एवं 'खु' (१००, ११५) दोनों प्रयोग उपलब्ध हैं। इसी अर्थ में 'च' और 'य' दोनों का प्रयोग हुआ है। 'यदि' के लिए 'जइ' (१४७, १६६, १६७) तथा 'जदि' (१५४, १६१) दोनों मिलते हैं। 'तु' के लिए 'दु' का बत्तीस बार प्रयोग हुआ है तथा 'तु' (३१, १०३) भी उपलब्ध होता है। 'न' (नहीं) अर्थ में (ण) बत्तीस बार तथा पाँच बार 'णो' भी आया है। निषेध अर्थ में 'मा' (१२६) भी मिला है। 'अपि' के लिए 'पि' (४, १३५)

एवं 'वि' (१४) का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त अव्ययों के अतिरिक्त 'इह' (१०८) एत्तो (७८) एवं (१०६), कह (१३७) किंचि (१०३) केइं (९७) कोई (१६६, १६९) जह (४८, ९४) तह (४८, ९४) तावं (३५) णं (१०४) तइया (१६२) तत्तो (१८४) तत्थ (९८, १७९) तदा (९४) पुणो (२५, २४) संपदी (३२) भी देखे जा सकते हैं।

संख्यात्मक प्रयोग—नियमसार में कतिपय संख्यात्मक प्रयोग भी मिलते हैं। यहाँ एक के लिए 'एक्को' (१५७) एगो (१०१, १०२) एवं एय (२७, ३९) दो के लिए 'दु' (२, १०, १३) एवं दो (२७), तीन के लिए 'ति' (१२, ३१) तिण्णि (१४) एवं तिदिय (५८), चार के 'चउ' (१२, १७) चउक्कस्स (२५) चउण्णाणं (३३) पाँच के लिए 'पंच' (७३) एवं 'पंचम' (६०) छह के लिए 'छ' (२०, २१, ३४) सात के लिए 'सत्त' (१६) आठ के लिए 'अट्ठ' (४७, ७२, १७७) तथा चौदह के लिए 'चउदह' (१७) शब्दों का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से नियमसार की भाषा के सन्दर्भ में निम्नांकित निष्कर्ष सामने आते हैं –

१. प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध होने वाले वर्णों में से नियमसार की भी भाषा में ऊ, ट, ड एवं ढ वर्ण का प्रयोग शब्द के आरम्भ में नहीं हुआ है, किन्तु इनका अनादिप्रयोग उपलब्ध है।

२. पुलिंग शब्दरूपों में कर्त्ता एकवचन में–'ओ', बहुवचन में 'आ', कर्म एकवचन में 'अनुस्वार' (ं) बहुवचन में 'आ', करण एकवचन में 'एण', बहुवचन में 'एहिं' 'एहि', सम्प्रदान और सम्बन्ध एकवचन में 'स्स', बहुवचन में 'आणं' और 'आण' अपादान एकवचन में 'ओ' एवं 'दो–आदो', अधिकरण एकवचन में 'ए', बहुवचन में 'एसु' विभक्ति चिह्न पाये जाते हैं।

३. स्त्रीलिंग रूपों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ। कर्त्ता एकवचन में 'आ', कर्म एकवचन में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है तथा अनुस्वार का प्रयोग मिलता है। करण एकवचन में संस्कृत की भाँति 'खमया' रूप है। सम्बन्ध बहुवचन में 'इणं' और अधिकरण एकवचन में 'ए' चिह्न मिलते हैं।

४. नपुंसकलिंग में कर्त्ता एवं कर्म एकवचन में अनुस्वार तथा बहुवचन में 'आणि' चिह्न मिलते हैं। शेष पुलिंग रूपों की भाँति ही हैं। यहाँ 'त' लोप के प्रयोग भी अधिकरण एकवचन में मिलते हैं। यथा–चरित्ते (१००) चरिए (१५२)।

५. सर्वनाम रूपों में कर्त्ता बहुवचन में 'ए', अपादान एकवचन में 'म्हा' सम्बन्ध बहुवचन में 'एसिं' अधिकरण एकवचन में 'म्हि' 'ए', बहुवचन में 'तु' विभक्ति चिह्न मिलते हैं। शेष रूपों में से कुछ यहाँ उपलब्ध नहीं हैं और अन्य कतिपय संज्ञारूपों जैसे ही हैं।

६. नियमसार के धातु रूपों में अन्यपुरुष एकवचन में 'इ' एवं 'दि' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग

उपलब्ध होता है। हस्तलिखित प्रतियाँ भी इसका समर्थन करती हैं। संस्कृत के आत्मनेपद के रूपों की भाँति यहाँ 'णिवत्तदे' तथा अन्तिम 'द' लोप वाले 'गेण्हए' एवं 'पडिवज्जए' रूपों को भी देखा जा सकता है।

७. धातुरूपों की विविधता 'झादि', 'झायइ', 'हवदि', 'हवेइ', 'होइ', 'होदि' और 'कुणदि', 'कुव्वइ', 'कुणइ' जैसे रूपों में देखी जा सकती है।

८. भविष्यत्काल अन्यपुरुष एकवचन का 'काहदि' रूप यहाँ आया है। कतिपय सम्पादकों ने इसे वर्तमान का रूप मानकर 'क्रियते' रूपान्तर किया है, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

९. आज्ञार्थक धातुओं में एक ही धातु के निम्नलिखित रूप प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं–जाण, जाणह, जाणीहि, जाणेहि, विजाणाहि और वियाणाहि।

१०. आज्ञार्थक 'जाण' के ही अर्थ में यहाँ 'विणु' का प्रयोग भी उपलब्ध है।

११. सम्बन्ध कृदन्त के ऊण, त्ता, च्चा, तूण, और त्तु ये पाँच प्रत्यय दृष्टिगोचर होते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपयोग–सम्प्रति मानव भौतिक चकाचौंध का दास हो गया है। जिसके फलस्वरूप उसे मानसिक तनाव, अशान्ति, ईर्ष्या, द्वेष आदि का शिकार होना पड़ रहा है। भौतिक सुख–सुविधाओं के चक्कर में पड़कर वह सत्पथ से भी विमुख हो रहा है। इसी कारण वह न्याय–नीति को छोड़कर अनुचित साधनों के द्वारा अर्थोपार्जन कर रहा है। जिससे उसे भी नैतिक सुख–सुविधाएँ तो अवश्य मिल रहीं हैं किन्तु उसका जीवन अशान्त हो गया है। आधुनिकता के कारण मानव का खान–पान भी बिगड़ा है, इससे भी मानसिक तनाव बढ़ रहा है। इन सब कठिनाइयों के मूल में भौतिक चकाचौंध ही है, जिसे नियंत्रित करने की जरूरत है। तभी जीवन तनाव रहित और शान्तिमय हो सकता है।

वर्तमान समय में मानव जीवन अत्यन्त उलझन व समस्यापूर्ण बनता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण मनुष्य का धर्म से विमुख होना है। धर्म से विमुख होकर भौतिकता के कारण सदाचरण नहीं कर पाते, जिसके परिणाम स्वरूप तनाव–अशान्ति आदि जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, फलते हैं। इसी से अमूल्य और दुर्लभ मानवजीवन अजागलस्तनवत् हो रहा है। आज मानव के अस्तित्व की रक्षा एवं उसके विकास के लिए नियमसार में वर्णित नियम का आचरण नितान्त आवश्यक है।

प्रस्तुत संस्करण

नियमसार का प्रथम संस्करण ब्र० शीतलप्रसादजी की स्वरचित बालबोध नामक हिन्दी भाषा टीका के साथ १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण सामने आये। उसी क्रम में प्राच्य भाषाओं के अध्ययन, अध्यापन, अनुसन्धान, सम्पादन और अनुवाद

आदि विशिष्ट कार्यों के लिए राष्ट्रपति सम्मानप्राप्त डॉ० (पं०) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने नियमसार की पद्मप्रभ मलधारिदेव द्वारा रचित तात्पर्यवृत्ति नामा संस्कृत टीका का मूल प्राकृत पाठ के साथ हिन्दी भाषा में अनुवाद १९३१ ई० में किया था। उनके जीवनकाल में इसका प्रकाशन नहीं हो पाया। क्रमशः इसकी पाण्डुलिपि क्षुल्लक ध्यानसागरजी के पास पहुँची। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक ब्र० डी० राकेशजी एवं ब्र० संदीपजी 'सरल' के सहयोग से इसे स्वाध्यायार्थ समाज के सामने प्रस्तुत करने का मानस बनाया, उनका यह समवेत प्रयत्न ई० सन् २०१० में कार्यरूप में परिणत होकर अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना का प्रमुख प्राभृत बना। साहित्याचार्यजी का उक्त हिन्दी अनुवाद हिन्दी भाषा टीका के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उन्होंने प्रशस्ति में इसे हिन्दी टीका कहा है। इस कार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी सहयोगी आभार और साधुवाद के पात्र हैं।

परम पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष २०१७-१८ के पावन-पुनीत प्रसंग पर विभिन्न भाषाओं के महत्त्वपूर्ण शतार्ध (५०) ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहा है, जो समाज और इस कार्ययोजना में सहयोगी सभी श्रेष्ठियों, विद्वानों, त्यागी-व्रतियों के लिए गौरवान्वित करेगा। मेरा परम पूज्य आचार्यश्री एवं समस्त मुनिसंघ के चरणों में सादर नमोऽस्तु एवं वंदन।

वैशाली **डॉ० ऋषभचन्द फौजदार**

१८.०१.२०१७

अनुक्रमणिका

ॐ

नमः श्री परमात्मने

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

नियमसार

(टीका सहितः)

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचिततात्पर्यवृत्तिसहितः

१.

जीवाधिकार

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
[1]कथमतनुवश[2]त्वाद्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमग[3]धरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥१॥

''हे परमात्मन्! आपके रहते हुए में मेरे ही समान मोह से मुग्ध और काम के वशीभूत हुए बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश को कैसे पूज सकता हूँ? मैं तो उसी बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा और महेश को पूज सकता हूँ, जिसने कि संसार को जीत लिया हो एवं जो ज्ञानादिलक्ष्मी से देदीप्यमान हो, ऐसे बुद्ध आदि श्री जिनेन्द्रदेव ही हो सकते हैं। क्योंकि वही सुगत हैं, उत्तम ज्ञान से युक्त हैं, वही अगधर हैं–उन्हीं की धरा अर्थात् मोक्षरूपी अग–पर्वत की तरह अचल है, वही वागधीश हैं–द्वादशांग वाणी के अधिपति हैं और वही शिव हैं–आनन्दरूप हैं ॥१॥''

१. अतनोः कामस्य वशत्वं येषां तान्। २. कश्च अश्च ईशश्चेति केशाः ब्रह्मविष्णुमहेशाश्च ये देवाः तान् इति। ३. अगस्य पर्वतस्य धरम् श्रीकृष्णं विष्णुमित्यर्थं पक्षे अगधरा यस्य स पर्वतवन्निश्चलमोक्षस्थान इत्यर्थः। अथवा न गच्छति अगः धरं यस्य सः।

(अनुष्टुप्)

वाचं वाचं यमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम्।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धवश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलङ्कम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम् ॥३॥

अनुष्टुप्

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

किञ्च –

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

अपि च –

''मैं उस जिनवाणी को नमस्कार करता हूँ जो मुनियों के इन्द्र श्री जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से प्रकट हुई है और जिसमें निश्चय तथा व्यवहाररूप दो नयों के आधीन समस्त पदार्थों का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया गया है ॥२॥''

''मैं सिद्धान्तरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी के पति श्री सिद्धसेन को, तर्करूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्यसमान–न्यायशास्त्र के रचयिता श्री भट्टाकलंकदेव को, शब्दरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा तुल्य–व्याकरणशास्त्र के निर्माता श्री पूज्यपाद स्वामी को और अनुपम विद्याओं से युक्त मुनिराज श्री वीरनन्दि स्वामी को नमस्कार करता हूँ ॥३॥''

''इस प्रकार देव, शास्त्र और गुरुओं की स्तुति करके मैं भव्य जीवों के मोक्ष के लिए और अपने आत्मा की शुद्धि के अर्थ नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य नामक वृत्ति को कहूँगा ॥४॥''

''यद्यपि वह परमागम बुद्धि ऋद्धि आदि गुणों को धारण करने वाले गणधरदेव के द्वारा रचा गया है और श्रुतधारी आचार्यों की परम्परा द्वारा प्रकट हुआ है अतः ऐसे परमागम में प्रणीत अर्थ के समूह का प्रतिपादन करने के लिए हम मन्दमति कौन होते हैं ॥५॥''

(अनुष्टुप्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥
पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥७॥

अलमलमतिविस्तरेण। स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय।

अथ सूत्रावतारः -

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितम् —

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

अनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः। वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते

''फिर परमागम की जो परिपुष्ट रुचि-दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उसने इस समय हमारे अन्तःकरण को इसके लिए बार-बार प्रेरित किया है ॥६॥''

''पहले सूत्रकार ने पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ और प्रत्याख्यान आदि समीचीन क्रियाओं का वर्णन किया है ॥७॥''

''इसलिए अधिक विस्तार करना व्यर्थ है। हमारे लिए तो यही विवरण मङ्गल रूप हो।''

अब यहाँ से मूल ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। उसमें सर्वप्रथम णमिऊण जिणं वीरं इन शब्दों द्वारा शास्त्र के आदि में असाधारण मङ्गल का प्रतिपादन करते हैं-

अन्वयार्थ-(अणंतवरणाणदंसणसहावं) अनंत, उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाले **(वीरं जिणं)** श्री महावीर जिनेन्द्र भगवान को **(णमिऊण)** नमस्कार करके **(केवलिसुदकेवलीभणिदं)** केवली और श्रुतकेवली के द्वारा कहे गये **(णियमसारं)** नियमसार ग्रन्थ को **(वोच्छामि)** कहूँगा।

गाथार्थ-''अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान एवं दर्शन ही जिनका स्वभाव है ऐसे श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार कर मैं केवलियों और श्रुतकेवलियों द्वारा प्रतिपादित नियमसार को कहूँगा ॥१॥''

टीकार्थ-जिन शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है-''जयतीति जिनः'' अर्थात् जो अनेक जन्मरूपी वन को प्राप्त कराने वाले समस्त मोह, राग, द्वेष आदि को जीतता है वह जिन कहलाता है और वीर शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है-''वीरो विक्रान्तः वीरयते शूरयते इति वीरः'' जो कर्म शत्रुओं को

सच्चे अनन्त दृग ज्ञान स्वभाव धाता, वे वीर हैं जिन जिन्हें शिर मैं नवाता।
भाई तुम्हें नियमसार सुनो सुनाता, जो केवली व श्रुतकेवलि ने कहा था ॥१॥

विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः-श्रीवर्द्धमान-सन्मति-नाथ-महति-महावीराभिधानैः सनाथः परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिमतीर्थनाथः त्रिभुवनसचराचर-द्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्ति-समर्थसकलविमल-केवलज्ञानदर्शनाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः। कम्? नियमसारम्। नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते; नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्। किंविशिष्टम्? केवलिश्रुत-केवलिभणितम्। केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्यश्रुतधरास्तैः केवलिभिः श्रुतकेवलिभिश्च भणितं सकलभव्यनिकुरम्बहितकरं नियमसाराभिधानं परमागमं वक्ष्यामीति विशिष्टेष्ट-देवतास्तवनानन्तरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम्। इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम्।

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः,
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः,
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

मोक्षमार्गतत्फलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम् —

जीतता है या जो विक्रमशाली है वह वीर कहलाता है। ऐसे वीर जिन अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी हैं। वे वर्द्धमान, सन्मति, महति और महावीर नामों से प्रसिद्ध हैं, अष्ट प्रातिहार्य रूप ऐश्वर्य से सहित हैं, देवाधिदेव हैं, तीनों लोकों के समस्त चराचर द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानने में समर्थ हैं और सम्पूर्ण-निर्मल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से सहित हैं उन्हें नमस्कार करके नियमसार ग्रन्थ को कहता हूँ। नियमसार यहाँ नियम शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। और उसका सार शुद्ध रत्नत्रय है इसलिए नियमसार इस शब्द से आत्मा का शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप कहा गया है। इसका कथन केवली और श्रुतकेवली ने किया है।

उक्त मंगलसूत्र के सब पदों का तात्पर्य यह है कि जो सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान के धारण करने वाले हैं उन्हें केवली कहते हैं और जो समस्त द्रव्यश्रुत के धारक हैं वे श्रुतकेवली कहलाते हैं। ऐसे केवलियों और श्रुतकेवलियों के द्वारा प्रतिपादित तथा समस्त भव्य समूह का हित करने वाले नियमसार नामक परमागम को मैं उत्तमदेवता श्री महावीरस्वामी के स्तवन के अनन्तर कहूँगा। यह सूत्रकार-पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्रतिज्ञा है।

टीकाकार कहते हैं –''जिन्होंने अपने शुद्ध भावों से काम को नष्ट कर दिया है, जो त्रिभुवन के समस्त जीवों के द्वारा पूज्य हैं, जिन्होंने पूर्ण केवलज्ञान का अद्वितीय राज्य प्राप्त कर लिया है, जिन्हें देवसमूह नमस्कार करते हैं, जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष के बीज को नष्ट कर दिया है, जो समवसरण में विद्यमान हैं और केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी के निवास स्वरूप हैं, ऐसे श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र तीनों लोकों में जयवन्त रहें ॥८॥''

अब मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप का निरूपण करते हैं–

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥२॥

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्ग-फलमपुनर्भव-पुरन्ध्रिकास्थूलभालस्थललीलालङ्कारतिलकता। द्विविधं किलैवं परमवीतरागसर्वज्ञशासने चतुर्थज्ञानधारिभिः (चतुर्थज्ञानधारिभिः) पूर्वसूरिभिः समाख्यातम्। परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्व सम्यक् श्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः, तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति।

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः,
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो,
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ॥९॥

अत्र नियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् —

अन्वयार्थ—(मग्गो) मार्ग **(य मग्गफलं)** और मार्ग का फल **(ति)** इस प्रकार **(दुविहं)** दो तरह से **(जिणसासणे)** जिनशासन में **(समक्खादं)** कथन किया गया है। **(मोक्खउवायो मग्गो)** मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और **(तस्स फलं णिव्वाणं होइ)** उसका फल निर्वाण है।

गाथार्थ—''जिनशासन में मार्ग और मार्ग का फल इन दो भेदों का वर्णन किया गया है। उनमें मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और निर्वाण उसका फल है ॥२॥''

टीकार्थ—''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं'' इस उल्लेख से यह सिद्ध है कि शुद्ध रत्नत्रयमार्ग है और मुक्तिरूपी स्त्री के विस्तृत ललाट स्थल पर लीलालंकारभूत तिलकपने को प्राप्त करना मार्ग का फल है। इस प्रकार चार ज्ञान के धारी पूर्वाचार्यों ने परम वीतराग सर्वज्ञदेव का शासन दो प्रकार का कहा है—परम निरपेक्ष भाव से स्वकीय परमात्म तत्त्व का समीचीन श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और उसी में स्थिरता रूप सम्यक् चारित्र इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग ही मोक्ष का उपाय है और स्वात्म तत्त्व की प्राप्ति ही उस शुद्ध रत्नत्रय का फल है।

''मन्द बुद्धि प्राणी कहीं तो स्त्रियों के संभोग से उत्पन्न हुए सुख की ओर दौड़ता है और कहीं धन की रक्षा करने में बुद्धि लगाता है पर जो बुद्धिमान जिनेन्द्रदेव का मार्ग पाकर निज आत्मा में लीन होता है वही इस मुक्ति को प्राप्त करता है ॥९॥''

अब नियम शब्द के सारपने के प्रतिपादन द्वारा स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप कहते हैं—

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया, सन्मार्ग-मार्ग-फल को जिनने बताया।
सन्मार्ग तो परम-मोक्ष-उपाय प्यारा, निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला ॥२॥

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं, खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

यः सहजपरमपारिणामिकभावस्थितः स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतना-परिणामः स नियमः। नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रम्। ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलम्बत्वेन निःशेषतोऽन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरमतत्त्वपरिज्ञानमुपादेयं भवति। दर्शनमपि भगवत्परमात्म-सुखाभिलाषिणो जीवस्य शुद्धान्तस्तत्त्व-विलासजन्मभूमिस्थाननिजशुद्ध-जीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति। चारित्रमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थितिरेव। अस्य तु नियमशब्दस्य निर्वाणकारणस्य विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति।

अन्वयार्थ—(णियमेण य जं कज्जं) नियम से जो कार्य करने योग्य है **(तं णाणदंसणचरित्तं)** वह ज्ञान-दर्शन और चारित्र **(णियमं)** नियम है। **(विवरीय परिहरत्थं)** विपरीत का परिहार करने के लिए **(सारं इदि वयणं)** 'सार' यह वचन **(खलु)** निश्चय से **(भणिदं)** कहा है।

गाथार्थ—जो नियम से करने योग्य है, वह नियम कहलाता है, जो कि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूप है, उनमें विपरीतता अर्थात् मिथ्यापन का परिहार करने के लिए सार ऐसा वचन कहा है ॥३॥

टीकार्थ—''जो सहज परम पारिणामिक भाव में स्थित तथा स्वाभाविक अनन्त चतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनारूप परिणाम है वह 'नियम' कहलाता है। जो नियम से अर्थात् निश्चय से कर्त्तव्य है अर्थात् प्रयोजनभूत है वह नियम कहलाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र ऐसे हैं जो प्रयोजनभूत माने गये हैं, इसलिए नियम शब्द से ये तीनों लिए गये हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उन तीनों में, परद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर समस्त योगशक्ति को अन्तर्मुखी करने से जो निज परम तत्त्व का ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। भगवान् परमात्मा के अतीन्द्रिय सुख की अभिलाषा रखने वाले जीव के शुद्ध अन्तरङ्ग तत्त्व के आनन्द की उत्पत्तिस्थानभूत अपने शुद्ध निश्चय ज्ञान-दर्शन रूप कारण परमात्मा में जो निश्चल स्थिति है—लीनता है, वह सम्यक् चारित्र है। ये तीनों ही उपादेय हैं। उक्त प्रकार के सम्यग्ज्ञानादि ही निर्वाण के कारण हैं अन्य रूप नहीं, यह सूचित करने के लिए ही नियम शब्द के साथ सार शब्द कहा है।''

जो भी रहा नियम से करतव्य सत्ता, सोही रहा नियम दर्शन ज्ञान वृत्ता।
मिथ्यात्व आदि विपरीतन को मिटाने, संयुक्त 'सार' पद है सुन तू सयाने ॥३॥

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनङ्गशं यामि ॥१०॥

रत्नत्रयस्यभेदकरणलक्षणकममिदम्–

णियमं मोक्खउवायो तस्स, फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होई ॥४॥

मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेनासादितमहानन्दलाभः, पूर्वोक्तनिरुपचाररत्नत्रय-परिणतिस्तस्य महानन्द-स्योपायः। अपि चैषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां त्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति। कथम्? इदं ज्ञानमिदं दर्शनमिदं चारित्रमित्यनेन विकल्पेन। दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति।

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा,
स्वात्मज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्-
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः ॥११॥

टीकाकार कहते हैं कि–''इस तरह विपरीत भाव से रहित उत्तम रत्नत्रय को प्राप्त कर मैं मुक्तिरूपी स्त्री में उत्पन्न होने वाले अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त होता हूँ ॥१०॥''

विशेषार्थ– मनुष्य के जीवन में नियम से कर्त्तव्यभूत कार्य स्व है जो कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है, इसलिए यहाँ नियम शब्द से दर्शन, ज्ञान और चारित्र लिए गये हैं।

अब रत्नत्रय के भेदपूर्वक लक्षण कहने की सूचना करते हैं–

अन्वयार्थ–(णियमं) नियम **(मोक्खउवायो)** मोक्ष का उपाय है **(तस्स)** उसका **(फलं)** फल **(परमणिव्वाणं हवदि)** परमनिर्वाण है **(एदेसिं तिण्हं पि य)** इन तीनों की भी **(पत्तेय परूवणा होई)** प्रत्येक की पृथक् प्ररूपणा करते हैं।

गाथार्थ–नियम यह मोक्ष का उपाय है और परम निर्वाण की प्राप्ति ही उसका फल है। अतः आगे इन तीनों का अलग-अलग वर्णन करते हैं ॥४॥

टीकार्थ–समस्त कर्मों के नाश से प्राप्त हुए अतीन्द्रिय सुख का साक्षात् लाभ ही मोक्ष है और पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रय रूप परिणति का होना ही उस मोक्ष का उपाय है, अतः इन तीनों – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का–यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र है इस प्रकार पृथक्-पृथक् निरूपण होना चाहिए। आशय यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लक्षण आगे के सूत्रों में कहा गया है ऐसा यहाँ जानना चाहिए।

हैं मोक्ष का नियम सत्य उपाय साता, निर्वाण ही फल रहा इसका सुहाता।
प्रत्येक का यह जिनागम-गीत गाता, ज्ञानादि रत्नत्रय रूप हमें दिखाता ॥४॥

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् —

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आप्तः शङ्कारहितः। शङ्का हि सकलमोहरागद्वेषादयः। आगमस्तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्त-वस्तुविस्तार-समर्थनदक्षश्चतुरवचनसन्दर्भः। तत्त्वानि च बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्व-परमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति। तेषां सम्यक् श्रद्धानं व्यवहार-सम्यक्त्वमिति।

आर्या

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न शमस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

''मुनियों की जो शुद्ध रत्नत्रय रूप परिणति है वही मोक्ष का उपाय है, स्वात्मा का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं। स्वात्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है अन्य नहीं और स्वात्म रूप में स्थिरता ही सम्यक्चारित्र है अन्य नहीं। इस प्रकार मोक्षगामी पुरुषों के द्वारा कहे इस तत्त्व को जो भव्य जीव समझ लेता है, वह फिर माता के उदर को प्राप्त नहीं होता ॥११॥''

अब व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(अत्तागम-तच्चाणं) आप्त, आगम और तत्त्वों के **(सद्दहणादो)** श्रद्धान से **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व **(हवेइ)** होता है। **(ववगय असेस दोसो)** समस्त दोषों से रहित **(सयल-गुणप्पा)** सकल गुणों वाला आत्मा **(अत्तो हवे)** आप्त होता है।

गाथार्थ–''आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं और जिसकी आत्मा में समस्त गुण प्रकट हुए हैं वह आप्त है ॥५॥''

टीकार्थ–आप्त शङ्कारहित होता है तथा शङ्का का अर्थ है समस्त मोह, राग और द्वेष आदि। आप्त के मुखारविन्द से प्रकट हुए समस्त वस्तुओं के विस्तार के समर्थन करने में निपुण जो उत्तम वचनों का समुदाय है वह आगम कहलाता है। बहिस्तत्त्व, अन्तस्तत्त्व और परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्व तीन प्रकार का है। अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के भेद से सात प्रकार का है। उन आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

टीकाकार कहते हैं कि–''संसार के भय को नष्ट करने वाले भगवान् में क्या आपकी भक्ति है? यदि नहीं है, तो संसाररूपी समुद्र के मध्यवर्ती ग्राह के मुख के भीतर होओ ॥१२॥''

लो! आप्त-आगम-सुतत्त्वन में जमाना, श्रद्धा, नितान्त समदर्शन लाभ पाना।
हो दोष-रोष-मल से अति दूर सारे, निर्दोष, कोष-गुण के वह आप्त प्यारे ॥५॥

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत् –

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।[१]
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

असातावेदनीयतीव्रमन्दक्लेशकरी क्षुधा। असातावेदनीयतीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतर-पीडया समुपजाता तृषा। इहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाकस्मिकभेदात् सप्तधा भवति भयम्। क्रोधनस्य पुंसस्तीव्र-परिणामो रोषः। रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगुरुजन-वैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचोरभक्तविकथालापाकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः। चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव। चिन्तनं धर्मशुक्लरूपं प्रशस्तमितरोऽप्रशस्तमेव। तिर्यङ्मानवानां वयःकृत-देहविकार एव जरा। वात-पित्तश्लेष्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा। सादिसनिधनमूर्तेन्द्रिय-

---

भावार्थ–भगवद्भक्ति ही संसार-समुद्र से पार होने का कारण हो, यदि वह नहीं है तो फिर संसार-समुद्र में जन्म-मरण को प्राप्त होओ।

अब अठारह दोषों के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं–

अन्वयार्थ–(छुह-तण्ह-भीरु-रोसो) क्षुधा, तृष्णा, भय, रोष **(रागो)** राग **(मोहो)** मोह **(चिंतो)** चिंता **(जरो)** बुढ़ापा **(रुजा)** रोग **(मिच्चू)** मृत्यु **(सेदं)** पसीना **(खेदमदो)** खेद, मद **(रइ)** रति **(विम्हिय-णिद्दा)** विस्मय, निद्रा **(जणुव्वेगो)** जन्म और उद्वेग।

गाथार्थ–''क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं ॥६॥''

टीकार्थ–असातावेदनीय कर्म के उदय से तीव्र तथा मन्दकर्म को जो करे वह क्षुधा है। असातावेदनीय के उदय से तीव्र, तीव्रतर, मन्द और मन्दतर पीड़ा से जो उत्पन्न होती है, वह तृषा है। इहलोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक के भेद से भय सात प्रकार का है। क्रोधी पुरुष का जो तीव्र परिणाम है वह रोष है। राग के दो भेद हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त। दान, शील, उपवास और गुरुजन की वैयावृत्ति आदि से जो उत्पन्न होता है वह प्रशस्तराग है तथा स्त्री, राजा, चोर और भोजन सम्बन्धी चार विकथाओं के कहने और सुनने के जो कौतूहल रूप परिणाम है वह अप्रशस्त राग है। इसी प्रकार मोह के भी दो भेद हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त। चारों वर्ण के मुनियों के संघ में जो राग परिणाम है वह प्रशस्तमोह है और अन्य अप्रशस्तमोह है। धर्म और शुक्लध्यान रूप प्रशस्त चिन्ता है, अन्य आर्त्त-रौद्रध्यान रूप अप्रशस्त चिन्ता है। तिर्यंच और मनुष्यों के शरीर में जो अवस्था कृत विकार होता है वह बुढ़ापा है। वात, पित्त और कफ की विषमता से जो शरीर में पीड़ा

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे, उद्वेग नींद भय विस्मय जन्म सारे।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे, चिन्ता तृषादिक सदोष, जिनेश टारे ॥६॥

---

१. द्वितीयचरण में चार मात्राएँ अधिक होने से छन्दोभंग है।

विजातीयनर-नारकादिविभाव-व्यञ्जनपर्य्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः। अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगन्धसम्बन्धवासनावासितवार्बिन्दुसन्दोहः स्वेदः। अनिष्टलाभः खेदः। सहजचतुरकवित्व-निखिलजनता-कर्णामृत-स्यन्दिसहजशरीरकुलबलैश्वर्यैरात्माहङ्कारजननो मदः। मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। परमसमरसी-भावभावनापरित्यक्तानां क्वचिदपूर्वदर्शनाद्विस्मयः। केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभकर्मणा मायया, शुभाशुभमिश्रेण, देव-नारकतिर्यङ्मनुष्यपर्यायेषूत्पत्तिजन्म। दर्शनावरणीय-कर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा। इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः। एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः। एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति।

तथा चोक्तम् —

''सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो॥''

तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः —

मालिनी

''अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

होती है वह रोग है। सादि, सान्त, मूर्तिक और इन्द्रियों से युक्त विजातीय नर-नारकादि विभाव व्यंजनपर्याय का नाश होना ही मृत्यु है। अशुभकर्म के उदय और शरीर के परिश्रम से उत्पन्न हुए तथा दुर्गन्ध से युक्त जो जल की बूँदों का समूह है वह स्वेद-पसीना है। अनिष्ट की प्राप्ति होना खेद है। स्वाभाविक चतुराई से युक्त कविता के द्वारा एकत्र जनसमूह के कानों में अमृत झराने वाले सुन्दर वचन तथा जन्म से ही सुन्दर शरीर, कुल, बल और ऐश्वर्य आदि के द्वारा आत्मा में जो अहंकार होता है वह मद है। मनोज्ञवस्तुओं में जो अत्यन्त प्रीति होती है वह रति है। परम-समरसीभाव की भावना से शून्य मनुष्यों के किसी अपूर्ववस्तु के देखने से जो आश्चर्य होता है वह विस्मय है। केवल शुभकर्म से, केवल अशुभकर्म से, मायाचार से और शुभाशुभ मिले हुए कर्म से जो देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य पर्याय में उत्पत्ति होती है वह जन्म है। दर्शनावरण कर्म के उदय से ज्ञान ज्योति का अस्तमित होना निद्रा है। इष्ट के वियोग में जो वैचित्र्य रूप परिणाम होता है वह उद्वेग है। इन अठारह महादोषों से तीनों लोक व्याप्त हो रहे हैं, केवल एक वीतराग सर्वज्ञदेव ही ऐसे हैं जो इनसे रहित हैं।

जैसा कि कहा भी है-''धर्म वह है जहाँ दया है, तप वह है जहाँ विषयों का निग्रह है और देव वह है जो अठारह दोषों से रहित है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं॥२॥''

इसी प्रकार विद्यानन्दिस्वामी ने भी कहा है-''इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सच्चे शास्त्र से होता है और उसकी उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिए उनके प्रसाद से

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥''

तथा हि –

मालिनी

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः,
स्मरगिरसुरनाथः प्रास्तदुष्टाष्टयूथः।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ॥१३॥

तीर्थंकरपरमदेवस्वरूपाख्यानमेतत् –

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

प्रबोध को प्राप्त हुए पुरुषों द्वारा वे आप्त-यथार्थदेव पूज्य ही हैं। क्योंकि साधु पुरुष किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते ॥३॥''

टीकाकार कहते हैं–

''जो सौ इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, जिन्हें उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञान - केवलज्ञान का राज्य प्राप्त हुआ है, जो कामरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए इन्द्र के समान हैं, जिन्होंने अतिशय दुष्ट अष्ट कर्मों के समूह का नाश कर दिया है, जिनके चरणों में नारायण नम्रीभूत रहता है, और जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं वे आनन्द के स्थान श्रीनेमिनाथ स्वामी हमें निरन्तर सुख प्रदान करते रहें ॥१३॥''

अब तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(णिस्सेस-दोस-रहिओ) जो सभी दोषों से रहित हैं **(केवलणाणाइ-परमविभवजुदो)** केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त हैं **(सो परमप्पा)** वे परमात्मा **(उच्चइ)** कहे जाते हैं **(तव्विवरीओ)** उसके विपरीत **(परमप्पा ण)** कोई परमात्मा नहीं हैं।

गाथार्थ–''जो समस्त दोषों से रहित हैं और केवलज्ञान आदि परम विभव से युक्त हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। इससे विपरीत कोई परमात्मा नहीं हो सकता ॥७॥''

निश्शेष दोष बिन शोभित हो रहे हैं, कैवल्यज्ञान दृग वैभव ढो रहे है।
सिद्धान्त में परम आतम वे कहाते, दोषी कदापि परमात्मपना न पाते ॥७॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयकर्माणि, तेषां निरवशेषेण प्रध्वंसनान्निश्शेषदोषरहितः अथवा पूर्वसूत्रोपात्ताष्टादशमहादोषनिर्मूलनान्निःशेष-दोषनिर्मुक्त इत्युक्तः। सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेक-विभवसमृद्धः। यस्त्वेवंविधः त्रिकाल-निरावरणनित्यानन्दैकस्वरूपनिजकारणपरमात्म-भावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः। अस्य भगवतः परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मकाः सर्वे देवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः।

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः —

''तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो॥''

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

शार्दूलविक्रीडित

''कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥''

टीकार्थ—जो आत्मा के गुणों का घात करें उन्हें घातिकर्म कहते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय ये चार घातिया कर्म हैं। परमात्मा के इनका सम्पूर्ण रूप से नाश हो चुका है अतः उन्हें समस्त दोषों से रहित कहा है अथवा पूर्व गाथा में कहे हुए अठारह महादोषों का समूल नाश हो जाने से उन्हें समस्त दोषों से रहित कहा गया है। वे परमात्मा सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन और परम वीतराग स्वरूप आनन्द आदि अनेक विभव से सम्पन्न हैं। इस तरह जो इस प्रकार का है और जो तीन काल में निरावरण रहने वाले एक नित्यानन्द रूप निज कारण परमात्मा की भावना से जो कार्य परमात्मा रूप हुआ है वही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर हैं, किन्तु जो भगवान् परमेश्वर के विपरीत गुणों से युक्त हैं और जो ''मैं देव हूँ,'' इस अभिमान से दग्ध हैं, वे संसारी ही हैं।

ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अन्यत्र भी कहा है—''जिनका बल, ज्ञान, दर्शन, इच्छित सुख, ऐश्वर्य और माहात्म्य सभी तीनों लोकों में प्रधानता सिद्ध करने वाले हैं वे अरहन्तदेव हैं।''

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—''जो अपनी कान्ति से ही दशों दिशाओं को नहलाते हैं, अपने तेज के द्वारा अत्यन्त तेजस्वी पुरुषों के तेज को रोकते हैं, अपने रूप से मनुष्यों का मन हरण करते हैं, दिव्यध्वनि के द्वारा कानों में सुखदायी अमृत झराते हैं और एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं वे तीर्थंकरदेवरूपी सूर्य वन्दना करने योग्य हैं।''

तथाहि –

मालिनी

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम्।
तमपि किल यजेऽहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत् –

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजविनिर्गतचतुरवचनरचनाप्रपञ्चः पूर्वापरदोषविरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिंसादिपापक्रियाभावाच्छुद्धः परमागम इति परिकथितः। तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रवणाञ्जलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरीमुखदर्पणेन संसरण-वारिनिधिमहावर्तनिमग्नसमस्त-

---

टीकाकार कहते हैं कि–''जिनके ज्ञानरूपी कमल के भीतर यह लोक और अलोक भ्रमर की तरह निरन्तर स्पष्टरूप से प्रकाशित हो रहा है, उन नेमिनाथ तीर्थंकर की भी मैं पूजा करने चला हूँ सो मानों अपनी भुजाओं से लहराते हुए समुद्र को पार करना चाहता हूँ ॥१४॥''

अब परमागम के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(तस्स) उन आप्त के **(मुहग्गदवयणं)** मुख से निकले हुए वचन **(पुव्वावर-दोस-विरहियं)** पूर्वापर दोष से रहित **(सुद्धं)** शुद्ध हैं **(आगममिदि)** इस प्रकार आगम **(परिकहियं)** कहा गया है। **(तेण दु)** उस आगम से **(कहिया)** कहा हुआ **(तच्चत्था हवंति)** तत्त्वार्थ होता है।

गाथार्थ–''उन अरहन्त भगवान् के मुखकमल से निकला हुआ पूर्वापर दोष रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है। उसी के द्वारा सात तत्त्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है ॥८॥''

टीकार्थ–उन पूर्वोक्त परमेश्वर के मुखकमल से निकले हुए उत्तम वचनों की रचना का जो विस्तार है वह परमागम कहलाता है, वह परमागम पूर्वापर दोष से रहित और चूँकि उसके प्रतिपादक भगवान् परमेश्वर के रागादि का अभाव है इसलिए अन्य पापोपदेशक शास्त्रों की तरह-हिंसादि पापक्रिया का अभाव होने से शुद्ध है, भव्य जीवों को वह परमागम रूपी अमृत अपने कर्णरूप अञ्जलियों के द्वारा पान करने योग्य है, मुक्तिरूपी सुन्दरी का मुख दिखलाने के लिए

पूर्वापरा सकल दोष विहीन प्यारा, जो पूज्य आप्त मुख से निकला निहाला।
सोही जिनागम रहा गुरुदेव गाते, तत्त्वार्थ वे कथित आगम में सुहाते ॥८॥

भव्यजनतादत्त-हस्तावलंबनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखर-शिखामणिना अक्षुण्णमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूता-प्रशस्तरागाङ्गारैः पच्यमान-समस्तदीनजनतामहत्क्लेशनिर्नाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः खलु सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः —

आर्या

''अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥''

हरिणी

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ॥१५॥

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक्नामधेयमुक्तम् —

दर्पण के समान है, संसार रूपी समुद्र की बड़ी-बड़ी भँवरों में फँसे हुए समस्त भव्यजीवों के लिए हस्तावलम्बन देने वाला है, सहज वैराग्य रूपी महल के शिखर पर रखे हुए शिखामणि के समान है, मोक्षरूपी अखण्ड महल की पहली सीढ़ी के समान है और काम-भोग से उत्पन्न अप्रशस्तराग रूपी अंगारों द्वारा पचते हुए समस्त दीन जनसमूह के महान् क्लेशों के नष्ट करने में समर्थ जलयुक्त मेघ के समान है। इसी परमागम के द्वारा सात तत्त्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है।

ऐसा ही श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने कहा है–''जो प्रयोजनभूत पदार्थों को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और सन्देह रहित ज्यों का त्यों जानता है, आगम के जानकार उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि–''मैं उस जिनवाणी की प्रतिदिन वन्दना करता हूँ, जो कि अत्यन्त मनोहर है, शुद्ध है, मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि का कारण है, समस्त भव्यजीवों के कानों को सन्तुष्ट करने के लिए अमृत रूप है, संसार के दुःखरूपी जंगल में जलने वाले प्राणियों को शान्त करने के लिए जल के समान है और जैन योगियों के द्वारा सदा वन्दनीय है ॥१५॥''

अब यहाँ छह द्रव्यों के पृथक्-पृथक् नामों का निर्देश करते हैं–

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनोवाक्कायायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। संग्रहनयोऽयमुक्तः। निश्चयेन भावप्राणधारणा-ज्जीवः। व्यवहारेण द्रव्यप्राण-धारणाज्जीवः। शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः। अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः। शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादि-परमस्वभाव-गुणानामाधार-भूतत्वात्कारणशुद्धजीवः। अयं चेतनः। अस्य चेतनगुणाः। अयममूर्तः। अस्या-मूर्तगुणाः। अयं शुद्धः। अस्य शुद्धगुणाः। अयमशुद्धः। अस्याशुद्धगुणाः। पर्यायश्च। तथा गलनपूरण-स्वभावसनाथः पुद्गलः। श्वेतादिवर्णाधारो मूर्तः। अस्य हि मूर्तगुणाः। अयमचेतनः। अस्याचेतनगुणाः। स्वभावविभाव-गतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिहेतुः धर्मः। स्वभावविभावस्थिति-क्रिया-

---

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव **(पोग्गलकाया)** पुद्गलकाय **(धम्माधम्मा य)** धर्म, अधर्म और **(काल आयासं)** काल, आकाश **(णाणागुणपज्जएहिं)** नाना गुण-पर्यायों से **(संजुत्ता)** संयुक्त हुए **(इदि)** इस तरह **(तच्चत्था)** तत्त्वार्थ **(भणिदा)** कहे गए हैं।

गाथार्थ—''जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह तत्त्वार्थ कहे गये हैं, जो नाना गुणों और नाना पर्यायों से युक्त हैं ॥९॥''

टीकार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास नाम के दश प्राणों से जो जीवित है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था वह जीव कहलाता है, यह संग्रहनय की अपेक्षा उल्लेख है। निश्चयनय से जो ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों को धारण करे वह जीव है और व्यवहारनय से जो द्रव्य प्राणों को धारण करे वह जीव है। शुद्धसद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधारभूत होने से यह कार्यशुद्ध जीव कहलाता है और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधारभूत होने से कारणशुद्ध जीव कहा जाता है। यह चेतनद्रव्य है, इसके गुण भी चेतन हैं, यह अमूर्तिक है इसके गुण भी अमूर्तिक हैं, यह शुद्ध है, इसके गुण भी शुद्ध हैं, यह अशुद्ध है इसके गुण भी अशुद्ध हैं। इसकी पर्याय भी इसी के अनुरूप है। जो गलन और पूरण स्वभाव से सहित हो-परमाणु और स्कन्ध रूप से जो मिलता-बिछुड़ता हो वह पुद्गल है, यह शुक्ल आदि वर्णों का आधार है इसलिए मूर्तिक है, इसके गुण भी मूर्तिक हैं, यह अचेतन है इसके गुण भी अचेतन हैं। ''स्वाभाविक और वैभाविक गतिरूप क्रिया में परिणत जीव और पुद्गल की गति में जो कारण है वह धर्मद्रव्य है,

---

नाना निजीय गुण पर्यय-माल धार, थे जीव पुद्गल-ख धर्म अधर्म काल।
जो शोभिते जगत में स्वयमेव सारे, 'तत्त्वार्थ वे कहत हैं जिनदेव प्यारे ॥९॥

परिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्मः। पञ्चानामवकाशदानलक्षणमाकाशम्। पञ्चानां वर्तनाहेतुः कालः। चतुर्णाममूर्तानां शुद्धगुणाः, पर्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च।

मालिनी

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरू पः ॥१६॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम् —

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं त्ति ॥१०॥

आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती यः परिणामः स उपयोगः। अयं धर्मः। जीवो धर्मी। अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत्। ज्ञानदर्शनविकल्पेनासौ द्विविधः। अत्र ज्ञानोपयोगोऽपि स्वभाव-विभावभेदाद् द्विविधो

स्वाभाविक-वैभाविक स्थिति में परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति में जो हेतु है वह अधर्मद्रव्य है, जीवादि पाँच द्रव्यों को अवकाश देना जिसका लक्षण है, वह आकाश है, जो जीवादि पाँच द्रव्यों की वर्तना का कारण है, वह काल है। जीव और पुद्गल को छोड़कर अन्य चार अमूर्तिक द्रव्यों के गुण सदा शुद्ध रहते हैं और इनकी पर्याय भी उसी प्रकार शुद्ध रहती हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार कान्ति के समूह से व्याप्त यह षट्द्रव्यों का समुदाय जिनेन्द्रदेव के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित रत्न के समान है, जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष आभूषण रूप से इसे हृदय में धारण करता है वह मुक्ति रूपी लक्ष्मी का स्वामी होता है ॥१६॥''

यहाँ उपयोगरूप लक्षण का कथन है–

अन्वयार्थ–(जीवो) जीव **(उवओगमओ)** उपयोगमय है **(उवओगो)** उपयोग **(णाण-दंसणो होइ)** ज्ञान दर्शन रूप होता है। **(णाणुवओगो)** ज्ञानोपयोग **(दुविहो)** दो प्रकार है। **(सहाव-णाणं)** स्वभाव ज्ञान **(विहावणाणं ति)** और विभाव ज्ञान।

गाथार्थ–''जीव उपयोगमय है, उपयोग के दो भेद हैं–ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के दो भेद हैं–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ॥१०॥''

टीकार्थ–आत्मा का चैतन्य गुण के अनुरूप जो परिणाम है वह उपयोग है। यह धर्म है

है जीव लक्षण रहा उपयोग भाता, है ज्ञान-दर्शनमयी द्विविधा कहाता।
'ज्ञानोपयोग' वह भी द्विविधा निराला, भाई स्वभावमय और विभाव शाला ॥१०॥

भवति। इह हि स्वभावज्ञानम् अमूर्तम् अव्याबाधम् अतीन्द्रियम्, अविनश्वरम्। तच्च कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति। कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकाल-निरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात्। केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रुतविभङ्गभाञ्जि भवन्ति। एतेषां उपयोगभेदानां ज्ञानानां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्य इति।

मालिनी

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा (प्रबुद्ध्य)
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

अत्र च ज्ञानभेदलक्षणमुक्तम् —

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२॥

निरुपाधिस्वरूपत्वात् केवलम्, निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम्, अप्रतिवस्तु-

---

और जीव धर्मी। इन दोनों का सम्बन्ध दीप और प्रकाश के समान है। ज्ञान और दर्शन के भेद से यह दो प्रकार का है। ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। स्वभावज्ञान अमूर्तिक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। यह भी कार्य-कारण के भेद से दो प्रकार का है। सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान कार्यस्वभाव ज्ञान है और परमपारिणामिक भाव में स्थित तथा त्रिकाल में उपाधि रहित जो सहजज्ञान है वह कारणस्वभाव ज्ञान है। विभावज्ञान के सिर्फ तीन भेद हैं—कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि। इन उपयोगों के भेदरूप ज्ञानों के भेद अगले दो सूत्रों में-गाथाओं में बतलाये गये हैं, इसलिए वहाँ से जानना चाहिए।

अब टीकाकार कहते हैं कि—''इस प्रकार जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए ज्ञान के समस्त

होता अतीन्द्रिय स्वभावज ज्ञान प्यारा, जो नित्य 'केवल' न ले पर का सहारा।
सत् ज्ञान औ वितथ ज्ञान विभाव बाना, दोनों मिटे मिलत कैवल का ठिकाना ॥११॥

सत् ज्ञान भी मति श्रुतावधि तीन, चौथा, सिद्धान्त मान्य मनपर्यय ज्ञान होता।
अज्ञान भी त्रिविध है जिन हैं बताते, जो मत्यज्ञान कुश्रुतावधि ना सुहाते ॥१२॥

व्यापकत्वात् असहायम्, तत्कार्यस्वभावज्ञानं भवति। कारणज्ञानमपि तादृशं भवति। कुतः, निजपरमात्म-स्थितसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखसहजपरमचिच्छक्ति-निजकारणसमयसारस्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं समर्थत्वात् तथाविधमेव। इति शुद्धज्ञान-स्वरूपमुक्तम्।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते। अनेकविकल्पसनाथं मतिज्ञानम् उपलब्धि-भावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा। लब्धिभावनाभेदाच्छ्रुतज्ञानं द्विविधम्। देशसर्वपरम-भेदादवधिज्ञानं त्रिविधम्। ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनःपर्ययज्ञानं च द्विविधम्। परमस्वभाव-स्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्संज्ञानचतुष्कं भवति। मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिं परिप्राप्य कुमतिकुश्रुत-

---

भेदों को जानकर जो परभाव का त्याग करता हुआ स्व-स्वरूप में स्थित रहता है और चैतन्यचमत्कार मात्र स्व-स्वभाव में प्रवेश करता है, वह शीघ्र ही मुक्तिरूपी स्त्री का पति होता है ॥१७॥''

अब यहाँ ज्ञान के भेदों का लक्षण कहते हैं–

अन्वयार्थ– **(केवलं)** केवलज्ञान तो **(इंदियरहियं)** इंद्रिय से रहित और **(असहायं)** असहाय है **(तं सहावणाणं ति)** उसे 'स्वभावज्ञान' इस प्रकार कहते हैं। **(सण्णाणिदरवियप्पे)** सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से **(विहावणाणं)** विभावज्ञान **(दुविह हवे)** दो प्रकार का होता है, **(सण्णाणं)** सम्यग्ज्ञान **(मदिसुदओही)** मति श्रुत अवधि **(तहेव)** तथा **(मणपज्जं)** मनःपर्यय के भेद से **(चउभेयं)** चार प्रकार का **(अण्णाणं)** अज्ञान **(मदियाई भेददो)** मति आदि के भेद से **(तिवियप्पं)** तीन भेद वाला **(चेव)** ही है।

गाथार्थ– ''अतीन्द्रिय एवं असहाय जो केवलज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। विभावज्ञान के दो भेद हैं–सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञान के चार भेद हैं–मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। मिथ्याज्ञान के तीन भेद हैं–कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ॥११-१२॥

टीकार्थ–स्वभाव ज्ञान को उपाधि से रहित होने के कारण केवलज्ञान कहते हैं। यह आवरण रहित होने के कारण क्रम तथा इन्द्रियजनित व्यवधान से रहित है और किसी भी वस्तु की सहायता से न होने के कारण असहाय है। यह कार्यस्वभाव ज्ञान है। कारणस्वभाव ज्ञान भी वैसा ही है। कैसे? क्योंकि यह निज परमात्मा में स्थित सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख और सहजोत्कृष्ट चैतन्य शक्ति रूप निजकारण समयसार के स्वरूप को एक साथ जानने में समर्थ हैं इसलिए वैसा ही है। इस प्रकार शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा। अब शुद्धाशुद्धज्ञान के स्वरूप और भेद कहे जाते हैं। उपलब्धि भावना और उपयोग रूप जो मतिज्ञान है वह अवग्रहादि के भेद से अथवा बहु-बहुविध आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से अवधिज्ञान तीन प्रकार का है। ऋजुमति

विभङ्गज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेदिरे।

अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम्। केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम्। ''रूपिष्ववधेः'' इति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम्। तदनन्तभागवस्त्वंशग्राहकत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकलप्रत्यक्षम्। मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षं व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति।

किञ्च, उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव। अपि च पारिणामिक-भावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति।

अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्मामृतेन अप्रतिहतनिरावरण-परमचिच्छक्ति-रूपेण सदान्तर्मुखे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा सन्निहित-परमचिद्रूपश्रद्धानेन अनेन स्वभावानन्तचतुष्टयेन सनाथं अनाथ-मुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं भावयेत्।

इत्यनेनोपन्यासेन संसारव्रततिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः कृत इति।

और विपुलमति के भेद से मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। ये चार सम्यग्ज्ञान, उत्कृष्ट आत्मस्वभाव में स्थित रहने वाले सम्यग्दृष्टि के होते हैं। मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और विभंग इन दूसरे नामों को प्राप्त हो जाते हैं।

इनमें से सहजज्ञान शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है, सहजज्ञान-केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। ''रूपी पदार्थों में अवधिज्ञान का विषय है''-इस वचन के अनुसार अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष है और उसके अनन्तवें भाग रूप वस्त्वंश को ग्रहण करने वाला होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष है। मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परमार्थ से परोक्ष होने पर भी व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं। आशय यह है कि इन ऊपर कहे हुए ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का कारण निज परम तत्त्व में स्थित रहने वाला एक सहज ज्ञान ही है। चूँकि यह पारिणामिकभाव रूप होने से भव्य जीव का परम स्वभाव है, अतः उससे बढ़कर दूसरा ज्ञान उपादेय नहीं है।

इस प्रकार जो सहज चैतन्य के विलास रूप है सदा सहज परम वीतराग सुखामृत-मय है, निराबाध तथा निरावरण परम चैतन्यशक्तिरूप है, सदा अन्तर्मुख रहने वाला स्व-स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज उत्कृष्ट चारित्रमय है और त्रिकाल में अविनाशी होने से सदा सन्निहित रहने वाले परम चैतन्यरूप श्रद्धानमय ऐसे स्वाभाविक अनन्त चतुष्टयरूप से इस सहज ज्ञान के द्वारा सनाथ हुए स्वतन्त्र तथा मुक्तिरूपी सुन्दरी के पति रूप स्वतन्त्र आत्मा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार संसाररूपी लता के मूल को काटने वाले इस उल्लेख के द्वारा यहाँ शुद्धात्मा का उपदेश किया गया है।

टीकाकार कहते हैं कि-

''इस प्रकार कहे हुए भेदविज्ञान को प्राप्त कर जो भव्यजीव समस्त संसार के मूल कारण

मालिनी

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः,
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥१८॥

अनुष्टुप्

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ॥१९॥

शार्दूलविक्रीडित

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्,
द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधिप्रव्यक्तिनित्योदितं,
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मङ्गलम् ॥२०॥

मन्दाक्रान्ता

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च।

ऐसे पुण्य-पाप तथा सुख-दुःख को छोड़ता है वह तदनन्तर सम्पूर्ण और स्थायी सुख को प्राप्त होता है ॥१८॥''

''परिग्रह का आग्रह छोड़कर और शरीर में उपेक्षा कर विद्वज्जन आकुलता रहित चैतन्य मात्र ही जिसका शरीर-आकार है ऐसे शुद्धात्मा का चिन्तन करें ॥१९॥''

''शुभ-अशुभ सभी प्रकार के राग के नष्ट हो जाने से मोह के निर्मूल होने और द्वेष रूपी जल से भरे हुए मनोविकार रूपी घट के फूट जाने से जो पवित्र है, उत्कृष्ट है, उपाधिरहित है, स्पष्ट है, निरन्तर उदित रहता है और जगत् में मंगलरूप है ऐसा यह भेदज्ञानरूपी वृक्ष का समीचीन फल सदा वन्दना करने योग्य है ॥२०॥''

''प्रत्येक मोक्ष अवस्था में प्रकट होने वाला वह सहज ज्ञान निरन्तर जयवन्त रहे, जिसमें कि आनन्द का विस्तार रहता है, जो बाधारहित होता है, जिसमें आत्मा की सहज अवस्था प्रकट हो जाती है, जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी रहती है, जो सहज विलास से युक्त चैतन्य-चमत्कार मात्र स्व-स्वरूप में लीन रहता है, जिसकी सहज ज्योति से अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो चुकता है और जो निरन्तर मनोहर रहता है ॥२१॥''

लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योति:प्रतिहततमोवृत्तिनित्याभिरामम् ॥२१॥

अनुष्टुप्

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥२२॥

दर्शनोपयोगस्वरूपाख्यानमेतत् —

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥

यथा ज्ञानोपयोगो बहुविधविकल्पसनाथः दर्शनोपयोगश्च तथा। स्वभावदर्शनोपयोगो विभाव-दर्शनोपयोगश्च। स्वभावोऽपि द्विविधः, कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति। तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदारिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभाव-स्वभावस्य कारण-समयसारस्वरूपस्य निरावरणस्वभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परमचैतन्यस्वरूपस्य

''जिसे सहजज्ञान का साम्राज्य प्राप्त है और शुद्धचैतन्य ही जिसका स्वरूप है ऐसे सर्वस्व रूप अपनी आत्मा को जानकर मैं निर्विकल्प होता हूँ ॥२२॥''

अब यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(तह) तथा **(दंसणउवओगो)** दर्शन उपयोग **(ससहावेदर-वियप्पदो)** स्वभाव और विभाव के विकल्प से **(दुविहो)** दो प्रकार है। **(केवल-मिंदिय रहियं)** जो केवलदर्शन है वह इन्द्रियरहित **(असहायं)** और असहाय है **(तं)** उसे **(सहावमिदि)** स्वभाव दर्शन ऐसा **(भणिदं)** कहा है।

गाथार्थ–''ज्ञानोपयोग की तरह दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। जो अतीन्द्रिय तथा पर-पदार्थों की सहायता से रहित केवलदर्शन है वह स्वभावदर्शन है ॥१३॥''

टीकार्थ–जिस प्रकार ज्ञानोपयोग के अनेक विकल्प हैं, उसी प्रकार दर्शनोपयोग के भी अनेक विकल्प हैं–स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। स्वभाव भी दो प्रकार का है–कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव। उनमें से जो सदा पवित्र है, औदयिकादि चार विभाव स्वभावरूप परभाव के अगोचर है, सहज परमपारिणामिक भाव रूप है, कारणसमयसार रूप है, निरावरण स्वभाव है, जो स्वकीय स्वभाव की सत्तामात्र है, परमचैतन्य रूप है इसका शुद्ध चारित्र अकृत्रिम

हे मित्र! दर्शनमयी उपयोग होता, द्वेधा स्वभावपन और विभाव ढोता।
होता अतीन्द्रिय स्वभावज एक प्यारा, कैवल्य दर्शन न लें पर का सहारा ॥१३॥

अकृत्रिमपरमस्वस्वरूपाविचलस्थितिसनाथ शुद्धचारित्रस्य नित्यशुद्धनिरंजनबोधस्य निखिलदुरघवीर-वैरिसेनावैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव।

अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव। अस्य खलु क्षायिकजीवस्य सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथाख्याताभिधान-कार्यशुद्धचारित्रस्य साद्यनिधानामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्‍भूतव्यवहारनयात्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनता-प्रत्यक्षवन्दनायोग्यस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियमपि युगपल्लोकालोकव्यापिनीति।

कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः। विभाव-दर्शनोपयोगोऽप्युत्तरसूत्र-स्थितत्वात् तत्रैव दृश्यत इति।

इन्द्रवज्रा

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव, चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम्।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चै-रेतेन मार्गेण विना न मोक्षः ॥२३॥

अशुद्धदृष्टिशुद्धाशुद्धपर्यायसूचनेयम् —

चक्खु अचक्खु ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिट्ठित्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

परम रूप स्वरूप में अविचल स्थिति से युक्त शुद्ध चारित्ररूप है। नित्य शुद्ध और निरावरण ज्ञानस्वभाव है एवं दुष्ट पापरूपी प्रबल शत्रु सेना की पताका के नष्ट करने का कारण है। उसका स्वरूप श्रद्धानमात्र ही कारणदर्शन है। दूसरा कार्यस्वभावदर्शन है जो कि दर्शनावरण आदि घातिया कर्मों के क्षय से होता है। यह दर्शन भी उन तीर्थंकर परम देव के केवलज्ञान की तरह लोकालोक को व्याप्त करने वाला है। जो कि क्षायिक जीव रूप है, समस्त निर्मल केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोकों को जानने वाले हैं, स्वकीय आत्मा से समुत्पन्न वीतराग सुख रूप सुधा के समुद्र हैं, यथाख्यात नाम के कार्यरूप शुद्ध चारित्र से युक्त हैं, सादि-अनिधन, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय स्वभाव से युक्त तथा शुद्धसद्‍भूत व्यवहारनय रूप है और तीन लोक के भव्य जीवों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं। इस प्रकार कार्यकारण रूप से स्वभावदर्शनोपयोग का वर्णन किया। विभावदर्शनोपयोग का आगे के सूत्र में वर्णन किया है इसलिए उस पर वहीं विचार किया जायेगा।

टीकाकार कहते हैं कि-''दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप एक चैतन्य सामान्य ही निज तत्त्व है। यही मोक्षाभिलाषी जनों को मोक्ष का उत्कृष्ट मार्ग है। इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं हो सकता ॥२३॥''

अब अशुद्धदर्शन की शुद्धाशुद्धपर्याय की सूचना करते हैं-

होता विभावमय दर्शन भी त्रिधा है, चक्षू अचक्षु अवधी सुन तू मुधा है।
पर्याय दो रहित कर्म उपाधि से हैं, वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से हैं ॥१४॥

मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानाति तथा चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च। यथा श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुत-निगदितमूर्तामूर्तसमस्तं वस्तुजातं परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शनरसन घ्राणश्रोत्रद्वारेण तत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च। यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन शुद्धपुद्गलपर्यन्तं मूर्तद्रव्यं जानाति तथा अवधिदर्शना-वरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तं मूर्तपदार्थं पश्यति च।

अत्रोपयोगव्याख्यानानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते। परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः। अत्र स्वभावपर्यायः षड्द्रव्यसाधारणः अर्थपर्यायः अवाङ्मनसगोचरः अतिसूक्ष्मः आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्ढानिवृद्धिविकल्पयुतः। अनन्तभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते। अशुद्धपर्यायो नरनारकादिव्यंजनपर्याय इति।

अन्वयार्थ—(चक्खु) चक्षु **(अचक्खु)** अचक्षु **(ओही)** अवधि **(तिण्णि वि)** ये तीनों **(विभावदिट्ठि)** विभाव दर्शन **(त्ति) (भणिदं)** कहे गये हैं **(पज्जाओ)** पर्याय **(दुवियप्पो)** दो प्रकार की है **(सपरावेक्खो)** स्व-परापेक्ष **(य)** और **(णिरवेक्खो)** निरपेक्ष।

गाथार्थ— ''चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीनों ही विभावदर्शन कहे गये हैं। पर्याय दो प्रकार की है—स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष ॥१४॥''

टीकार्थ—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस प्रकार यह जीव मूर्तिक वस्तु को जानता है उसी प्रकार चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मूर्तिक वस्तु को देखता भी है। जिस प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के द्वारा द्रव्यश्रुत में कहे गये मूर्त और अमूर्त समस्त वस्तुओं के समूह को परोक्ष रूप से जानता है, उसी प्रकार अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्ण द्वारा अपने-अपने योग्य विषयों को देखता भी है और अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस प्रकार मूर्त द्रव्य को जानता है उसी प्रकार अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए अवधिदर्शन द्वारा समस्त मूर्त पदार्थों को देखता भी है।

यहाँ उपयोग की व्याख्या के अनन्तर पर्याय का स्वरूप कहा जाता है। जो सब ओर से भेद को प्राप्त हो वह पर्याय है। इसका एक भेद स्वभावपर्याय है जो कि छहों द्रव्यों में साधारण रूप से पाया जाता है, अर्थपर्याय रूप है, वचन और मन के अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है, आगम-प्रमाण से स्वीकार करने योग्य है और छह हानि-वृद्धि के विकल्प से युक्त है— अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह वृद्धियाँ हैं, इसी प्रकार छह हानियाँ हैं। दूसरा भेद अशुद्धपर्याय है जो नर-नारकादि व्यंजनपर्याय रूप है।

मालिनी

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२४॥

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥२५॥

पृथ्वी

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयै सदा ॥२६॥

स्वभावविभावपर्यायसंक्षेपोक्तिरियम् —

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५॥

टीकाकार कहते हैं कि–''जो तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य उत्कृष्ट भाव के होने पर अथवा विभावदर्शन में परत्व की भावना होने पर स्वाभाविक गुणरूपी मणियों की खान और पूर्ण ज्ञानसम्पन्न एक शुद्ध आत्मा का भजन करता है। वह शुद्धदृष्टि पुरुष मुक्तिरूपी स्त्री का पति होता है ॥२४॥''

इस प्रकार परद्रव्य सम्बन्धी गुण और पर्यायों के रहते हुए भी उत्तम मनुष्यों के हृदयरूपी कमल में जो कारण रूप आत्मा सुशोभित होता है, भव्यसिंह! तू निज से समुत्पन्न उस परब्रह्मरूप आत्मा का शीघ्र भजन कर। यदि भजन करेगा तो तू भी तद्रूप हो जावेगा ॥२५॥

''यह जीव तत्त्व कभी अपने सद्भूत गुणों से उल्लसित होता है और कभी अशुद्ध गुणों से। कभी सहज शुद्ध पर्यायों से शोभित होता है और कभी अशुद्धपर्यायों से। इस प्रकार यह इन समस्त विकल्पों से सहित होने पर भी वास्तव में इनसे रहित है। मैं अपने सकल प्रयोजनों की सिद्धि के लिए इसी जीव तत्त्व को नमस्कार करता हूँ और सदा इसी का चिन्तन करता हूँ ॥२६॥''

तिर्यञ्च नारक नरामररूप सारी, पर्याय ये बस विभावमयी हमारी।
पर्याय जो रहित कर्म उपाधि से हैं, वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१५॥

तत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारण-शुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति। इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रिय-स्वभावशुद्धसहजज्ञान सहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूप-स्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपञ्चमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः। साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभाव- शुद्धसद्भूत-व्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन सार्धं परमोत्कृष्ट-क्षायिक-भावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च। अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्मऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्द्रव्यसाधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः। उक्तः समासतः शुद्धपर्यायविकल्पः।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते। व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः। कुतः? लोचन-गोचरत्वात् पटादिवत्। अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात् दृश्यमानविनाश-स्वरूपत्वात्।

अब यह स्वभाव और विभावपर्यायों का संक्षेप से कथन हैं–

अन्वयार्थ–(णर-णारय-तिरिय-सुरा) नर, नारकी, तिर्यंच और देव **(ते पज्जाया)** ये पर्यायें **(विभावमिदि)** विभाव इस प्रकार **(भणिदा)** कही गई हैं और **(कम्मोपाधि-विवज्जिय-पज्जाया)** कर्म उपाधि से रहित जो पर्यायें हैं **(ते सहावमिदि)** वे स्वभाव हैं, इस प्रकार **(भणिदा)** कहा गया है।

गाथार्थ–''जो मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव रूप पर्याय होती है वह विभावपर्याय कही गई है और जो कर्मों की उपाधि से रहित पर्याय होती है, वह स्वभावपर्याय कही गई है ॥१५॥''

टीकार्थ–उन स्वभाव और विभावपर्यायों के बीच स्वभावपर्याय दो प्रकार की कही जाती है–एक कारणशुद्धपर्याय और दूसरी कार्यशुद्धपर्याय। इस लोक में सहजशुद्ध निश्चय की अपेक्षा अनादिनिधन, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय और स्वभाव शुद्ध ऐसे सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजपरमवीतराग सुखमय तथा शुद्ध अन्तस्तत्त्व के स्वरूप ऐसे स्वाभाविक अनन्तचतुष्टय रूप से सुशोभित पंचम-पारिणामिक भाव रूप जो जीव की परिणति है, वह कारणशुद्धपर्याय है और सादिअनिधन, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभावशुद्ध सद्भूतव्यवहार की अपेक्षा कार्य रूप केवलज्ञान-केवलदर्शन, केवलसुख एवं केवलवीर्यमय फलरूप अनन्तचतुष्टय की परमोत्कृष्ट क्षायिक भाव रूप जो परिणति है, वह कार्यशुद्ध पर्याय है। अथवा पूर्वसूत्र में जिसका संकेत किया है ऐसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से षड्द्रव्यों में सामान्य रूप से पाई जाने वाली जो सूक्ष्म अर्थपर्याय हैं, वे शुद्धपर्याय हैं ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में शुद्धपर्याय के भेद कहे।

अब व्यंजनपर्याय का विशेष कथन करते हैं–व्यंजनपर्याय का निरुक्त्यर्थ–व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेन–''जिसके द्वारा पदार्थ प्रकट किया जाये वह व्यंजनपर्याय है। कैसे? यह घटादि पदार्थों की तरह चक्षु इन्द्रिय के विषय होने से स्पष्टतः ज्ञात होती है इसलिए इसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय के गोचर होने से, पटादि की तरह। अथवा सादिसान्त, मूर्तिक और विजातीय विभाव

व्यंजनपर्यायश्च-पर्यायिनामात्मबोधमन्तरेण पर्यायस्वभावात्, शुभाशुभमिश्रपरिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः, तस्य नराकारो नरपर्यायः, केवलेनाशुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा नारको जातः, तस्य नारकाकारो नारकपर्यायः, किंचिच्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्-कायजो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक्पर्यायः, केवलेन शुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा देवः, तस्याकारो देवपर्यायश्चेति।

अस्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे दृष्टव्य इति।

मालिनी

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२७॥

स्वरूप होने से अथवा विनश्वररूप प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिए इसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। व्यंजनपर्याय निम्न प्रकार है –

संसारी जीवों के आत्मज्ञान नहीं होने से पर्याय में ही स्वभाव बुद्धि हो जाती है, जिससे शुभाशुभ रूप मिश्र (यह आत्मा व्यवहार से) परिणाम के कारण मनुष्य कहा जाता है और उसका जो मनुष्य आकार है वह मनुष्यपर्याय है, केवल अशुभकर्म के कारण व्यवहार की अपेक्षा आत्मा नरक में पैदा होता है और उसकी नर-नारकादि पर्याय कहलाती है। कुछ-कुछ शुभ परिणामों से मिले हुए माया रूप परिणाम के कारण आत्मा व्यवहार से तिर्यंच के शरीर में उत्पन्न होता है और उसका आकार तिर्यंच पर्याय कहलाती है तथा केवल शुभपरिणाम के कारण से आत्मा व्यवहार से देव होती है और उसका आकार देवपर्याय कहलाती है।

इस व्यंजनपर्याय का विशेष विस्तार अन्य आगम ग्रन्थों में देखना चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि–''यद्यपि विभाव भाव बहुत हैं तो भी उनके रहते हुए जो सम्यग्दृष्टि पुरुष ''समयसार'' से बढ़कर और कुछ नहीं है, ऐसा मानकर सहज परमतत्त्व शुद्ध जीव तत्त्व के अभ्यास से अपनी बुद्धि को निष्णात बनाता है वह शीघ्र ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी का स्वामी होता है ॥२७॥''

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत् –

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥१६॥
चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

मनोरपत्यानि मनुष्याः। ते द्विविधाः, कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति। तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः, आर्या म्लेच्छाश्चेति। आर्याः पुण्यक्षेत्रवर्तिनः। म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः। भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः एकद्वित्रिपल्योपमायुषः। रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभिधान–

अब चतुर्गति के स्वरूप का निरूपण करते हैं–

अन्वयार्थ–(माणुस्सा) मनुष्य **(दुवियप्पा)** दो प्रकार के हैं **(कम्म-महीभोग-भूमि-संजादा)** कर्मभूमि और भोगभूमि में उत्पन्न वे मनुष्य हैं **(णेरइया)** नारकी जीव **(पुढविभेएण)** पृथ्वी के भेद से **(णादव्वा सत्तविहा)** सात प्रकार के जानना चाहिए।

(तेरिच्छा) तिर्यंच **(चउदह भेदा)** चौदह प्रकार के **(भणिदा)** कहे गये हैं। **(सुरगणा)** देव समूह **(चउब्भेदा)** चार प्रकार का है **(एदेसिं)** इनका **(वित्थारं)** विस्तार **(लोयविभागेसु)** लोक विभाग विषयक ग्रन्थों से **(णादव्वं)** जानना चाहिए।

गाथार्थ–''मनुष्य दो प्रकार के हैं–कर्मभूमिज और भोगभूमिज। रत्नप्रभा आदि पृथिवियों के भेद से नारकी सात प्रकार के हैं। तिर्यंचों के चौदह भेद हैं और देवों के चार भेद कहे गये हैं। इनका विस्तार लोकविभाग का निर्देश करने वाले ग्रन्थों में जानना चाहिए ॥१६-१७॥''

टीकार्थ–मनु की सन्तान को मनुष्य कहते हैं। उनके दो भेद हैं–कर्मभूमिज और भोगभूमिज। उनमें से कर्मभूमिज मनुष्य दो प्रकार के हैं–आर्य और म्लेच्छ। जो पुण्यक्षेत्र में रहते हैं वे आर्य कहलाते हैं और जो पापक्षेत्र में रहते हैं वे म्लेच्छ हैं। भोगभूमिज भी आर्य कहलाते हैं और जो जघन्य, मध्यम और उत्तमभोगभूमि में रहते हैं। उनकी आयु क्रमशः एक, दो और तीन पल्यप्रमाण होती है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन

ये कर्म-भोगमय भूमिज भेद से हैं, होते मनुष्य द्विविधा युत खेद से हैं।
हैं सप्त ही नरक की मिलती मही हैं, तो सप्तधा, समझ नारक भी वहीं हैं ॥१६॥
होते चतुर्दश विधा पशु नित्य रोते, भाई चतुर्विध सुरासुर सर्व होते।
विस्तार चूँकि इनका यदि जानना है, तो 'लोक भाग' जिन आगम बांचना है ॥१७॥

सप्तपृथ्वीनां भेदान्नारकजीवा: सप्तधा भवन्ति। प्रथमनरकस्य नारका ह्येकसागरोपमायुष:। द्वितीयनरकस्य नारका: त्रिसागरोपमायुष:। तृतीयनरकस्य सप्त। चतुर्थस्य दश। पञ्चमस्य सप्तदश। षष्ठस्य द्वाविंशति:। सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत्। अथ विस्तरभयात् संक्षेपेणोच्यते। तिर्यञ्च: सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तक-बादरैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तक द्वीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्रीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकचतुरिन्द्रिय-पर्याप्तकापर्याप्तकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तक- भेदाच्चतुर्दशभेदा भवन्ति। भावनव्यंतरज्योति: कल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकाया:। एतेषां चतुर्गतिजीवभेदानां भेदो लोकविभागाभिधान परमागमे दृष्टव्य:। इहात्मस्वरूप-प्ररूपणान्तरायहेतुरिति पूर्वसूरिभि: सूत्रकृद्भिरनुक्त इति।

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्ज्योतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूति:
भूयो भूयो भवतु भवत: पादपङ्केजभक्ति: ॥२८॥

सात पृथिवियों के भेद से नारकी जीव सात प्रकार के हैं। प्रथम नरक के नारकियों की आयु एक सागर है, द्वितीय नरक के नारकियों की तीन सागर, तृतीय नरक के नारकियों की सात सागर, चतुर्थ नरक के नारकियों की दश सागर, पंचम नरक के नारकियों की सत्तरह सागर, षष्ठ नरक के नारकियों की आयु बाईस सागर और सप्तम नरक के नारकियों की आयु तैंतीस सागर है। यह उत्कृष्ट आयु है। अब विस्तार के भय से संक्षिप्त कथन किया जाता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, बादर एकेन्द्रियअपर्याप्तक, द्वीन्द्रियपर्याप्तक, द्वीन्द्रियअपर्याप्तक, त्रीन्द्रियपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय-अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रियपर्याप्तक, चतुरिन्द्रियअपर्याप्तक, असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तक, असंज्ञिपंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तक और संज्ञिपंचेन्द्रिय अपर्याप्तक इस प्रकार से तिर्यंचों के चौदह भेद होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी के भेद से देवों के चार भेद हैं। इन चतुर्गति जीवों के भेद और प्रभेद लोकविभाग नामक परमागम में देखना चाहिए। प्रकृत में उनका विशेष कथन करना आत्मस्वरूप के वर्णन में अन्तराय का कारण होगा, ऐसा समझकर पूर्वाचार्यों ने उनका विशेष कथन नहीं किया।

टीकाकार कहते हैं कि–''हे जिनेन्द्र! चाहे स्वर्ग लोक में, चाहे मनुष्य लोक में, चाहे विद्याधर लोक में, चाहे ज्योतिर्लोक में, चाहे नागलोक में, चाहे नरकलोक में और चाहे अन्य किसी लोक में हमारे कर्मों का विपाक हो – हमें वहाँ उत्पन्न होना पड़े परन्तु आपके चरण कमलों की भक्ति मुझे बार-बार प्राप्त होती रहे ॥२८॥''

शार्दूलविक्रीडित

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥२९॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम् –

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥

आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्धनिश्चयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूत-व्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता, उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूप-मुक्तम्।

''रे मूर्ख! चक्रवर्तियों के अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम वैभवों को देख-सुनकर तू व्यर्थ ही क्यों दुःखी होता है? वे उन्हें पुण्य से प्राप्त हुए हैं। जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों की पूजा में यह शक्ति है कि यदि तेरे पास भक्ति है तो वे वैभव तुझे भी प्राप्त हो सकते हैं ॥२९॥''

अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व रूप भेदों का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(ववहारो) व्यवहारनय से **(आदा)** आत्मा **(पोग्गल-कम्मस्स)** पुद्गल कर्मों का **(कत्ता)** कर्ता **(भोत्ता)** भोक्ता **(होदि)** होता है। **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(दु)** तो **(कम्मज-भावेणादा)** कर्म-जनित भावों का आत्मा **(कत्ता)** कर्ता **(भोत्ता)** भोक्ता होता है।

गाथार्थ–''आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता-भोक्ता है यह व्यवहार है किन्तु निश्चय से वह कर्मनिमित्तक भावों का कर्त्ता-भोक्ता है ॥१८॥''

टीकार्थ–निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता और उनके फल स्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह, राग, द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा नोकर्म का कर्त्ता है और उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा घड़ा, कपड़ा तथा गाड़ी आदि का कर्त्ता है। इस प्रकार अशुद्ध जीव का स्वरूप कहा।

भोक्ता निजातम रहा चिरकाल से है, कर्त्ता कुकर्म-जड़ का व्यवहार से है।
भाई अशुद्धनय से भवराह राही, रागादि को करत भोगत आतमा ही ॥१८॥

मालिनी

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥३०॥

अनुष्टुप्

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥३१॥

वसंततिलका

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके ॥३२॥

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे ।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥३३॥

टीकाकार कहते हैं कि–''जो वर्तमान में समस्त राग, द्वेष और मोह से तन्मय हो रहा है, वह यदि परम गुरु के चरणकमल युगल की सेवा करता है तो उसके प्रसाद से विकल्पातीत सहज समयसार को जानकर मुक्ति रूपी लक्ष्मी का मनोज्ञ वर हो जाता है ॥३०॥ ''

भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्मों का निरोध हो जाता है और द्रव्यकर्म के निरोध से संसार का निरोध हो जाता है ॥३१॥

जो मूढ़ प्राणी सम्यग्ज्ञान रूपी भाव से विमुक्त होकर अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म कर रहा है और मुक्ति का थोड़ा भी मार्ग नहीं जानना चाहता, संसार में उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है ॥३२॥

''वास्तव में एक भव्य ही ऐसा है जो कर्म के अभाव में होने वाले सुख समूहरूपी अमृत जल के प्रवाह में निमग्न होते हुए ऐसे चैतन्य रूप स्वकीय अद्वैतभाव को प्राप्त होता है अर्थात् उसी का अनुभव करता है ॥३३॥''

मालिनी

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥३४॥
भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेऽपि नित्यं
निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥३५॥

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् –

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥१९॥

''विभाव परिणाम रहें चाहे नहीं, इसकी चिन्ता नहीं। हम तो हृदयकमल में स्थित सर्व कर्मों से रहित एक शुद्ध आत्मा का ही निरन्तर अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ॥३४॥''

''संसारी जीव में सांसारिक-विभाव भाव निवास करते हैं और मुक्त जीवों में निरन्तर आत्मिक सिद्धि से प्राप्त हुए समस्त आत्मिक परम गुण निवास करते हैं। यह कहना भी व्यवहार है। निश्चय से तो इस जीव के न मुक्ति है और न संसार है। इस विषय में विद्वानों का यही निर्णय है ॥३५॥''

अब दोनों नयों की सफलता का निर्देश करते हैं–

अन्वयार्थ–(दव्वत्थिएण) द्रव्यार्थिक नय से **(जीवा)** जीव **(पुव्व-भणिद-पज्जाया)** पहले कही गई सब पर्यायों से **(वदिरित्ता)** भिन्न होते हैं **(पज्जयणएण)** पर्यायार्थिकनय से **(जीवा)** जीव **(दुविहेहिं)** दोनों प्रकार की पर्यायों से **(संजुत्ता)** संयुक्त **(होंति)** होते हैं।

गाथार्थ–''द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव पूर्वोक्त समस्त पर्यायों से रहित है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा यह दोनों प्रकार की पर्यायों से संयुक्त है, इस प्रकार दोनों नयों की अपेक्षा जीव का स्वरूप जानना चाहिए ॥१९॥''

है द्रव्य दृष्टिवश आतम भिन्न न्यारा, पूर्वोक्त भाव-दल का नहिं ले सहारा।
पर्याय दृष्टिवश तो स्वपरावलम्बी, किंवा नितान्त निरपेक्ष निजावलम्बी ॥१९॥

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ, द्रव्यार्थिक: पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थ: प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक:। पर्याय एवार्थ: प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक:। न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्य:, किन्तु तदुभयायत्तोपदेश:। सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यंजनपर्यायेभ्य: सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्त-जीवराशय: सर्वथा व्यतिरिक्ता एव। कुत:? ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' इति वचनात्। विभावव्यंजन-पर्यायार्थिकनयबलेन ते सर्वे जीवास्संयुक्ता भवन्ति। किंच सिद्धानामर्थपर्यायै: सह परिणति:, न पुनर्व्यंजनपर्यायै: सह परिणतिरिति। कुत:? सदा निरंजनत्वात्। सिद्धानां सदा निरंजनत्वे सति। तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ता: सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो व्यर्थ:। निगमो विकल्प:, तत्र भवो नैगम:। स च नैगमनयस्तावत् त्रिविध:, भूतनैगम: वर्तमाननैगम: भाविनैगमश्चेति। अत्र भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यंजनपर्यायत्वमशुद्धत्वं च संभवति। पूर्वकाले ते भगवन्त: संसारिण इति व्यवहारात्। किं बहुना, सर्वे जीवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थ:।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि: —

भगवान् अरहन्तदेव ने दो नय कहे हैं—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जिसका प्रयोजन द्रव्य ही है वह द्रव्यार्थिक और जिसका प्रयोजन पर्याय है वह पर्यायार्थिक है। जो उपदेश एक नय के आश्रित है वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। तो क्या है? किन्तु दोनों नयों के आश्रित उपदेश ही ग्रहण करने योग्य है। सत्तामात्र को ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से मुक्त और संसारी सभी प्रकार के जीव पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से रहित ही हैं। क्योंकि ''शुद्धनय की अपेक्षा सब जीव शुद्ध हैं।'' ऐसा आगम का वचन है। वैभाविकव्यंजनपर्याय के ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वे सभी जीव पूर्वोक्त पर्यायों से सहित हैं। यह बात विशेष है कि सिद्धों का परिणमन अर्थपर्यायों रूप से ही होता है, व्यंजनपर्यायों रूप से नहीं। क्योंकि वे सदा निरंजन-कर्ममलकलंक से रहित होते हैं।

प्रश्न—यदि सिद्धों को सदा निरंजन माना जाये तो गाथा में जो कहा गया है कि सभी जीव द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयों से युक्त हैं, वह व्यर्थ होता है?

उत्तर—निगम विकल्प को कहते हैं, अत: विकल्पों से जिसकी उत्पत्ति होती है वह नैगम कहलाता है। वह नैगमनय तीन प्रकार का है—१. भूतनैगमनय, २. वर्तमाननैगमनय और ३. भाविनैगमनय। इनमें से भूतनैगमनय की अपेक्षा भगवान् सिद्धपरमेष्ठी के व्यंजनपर्याय और अशुद्धता संभव है। क्योंकि ''जो आज सिद्ध भगवान् हैं, पूर्वकाल में वे संसारी थे'' ऐसा व्यवहार होता है। बहुत कहने से क्या? सब जीव दोनों नयों की अपेक्षा शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों प्रकार के हैं।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

मालिनी

''उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा:।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
[१]रनवमनयपक्षा[२]क्षुण्णमीक्षन्त एव॥''

तथाहि –

अथ नययुगयुक्तिं लङ्घयन्तो न सन्त:
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफा:।
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्ते: किं फलं सज्जनानाम् ॥३६॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकार: प्रथमश्रुतस्कन्ध:॥

''जो स्वयं निर्मोह होकर नयों के विरोध को नष्ट करने वाले, स्यात्पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार रूपी उत्कृष्ट परम ज्योति का अवलोकन करते हैं और जो सनातन या आवरण से रहित हैं और एकान्तवादियों से अखण्डित हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि–''जो सत्पुरुष पूर्वोक्त दोनों नयों की योजना का उल्लंघन न करते हुए श्री जिनेन्द्रदेव के चरणकमल युगल के भ्रमर बनते हैं वे निश्चय से शीघ्र ही समयसार को प्राप्त करते हैं। अन्य मत के शास्त्रों में सज्जनों को पृथ्वीतल पर क्या फल मिल सकता है? कुछ भी नहीं ॥३६॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में जीवाधिकार नाम का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

---

१. अवम् आवरणं तेन रहितम् अनवम्। अथवा न नवम् अनवम् चिरन्तनमित्यर्थ:। २. अनयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरक्षुण्णम् अक्षुभितम् अध्वस्तम् इत्यमर:। अत्र अनुपमनयपक्षाक्षुण्ण–इति स० द० पुस्तके पाठ:।

२.

अजीवाधिकारः

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते —

पुद्गलविकल्पोपन्यासोऽयम् —

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा दु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥

पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्, स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति। तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः। कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा च भवति। स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः। तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति।

अब इस समय अजीवाधिकार का कथन करते हैं। उसमें सर्वप्रथम पुद्गल के विकल्पों का निर्देश करते हैं–

अन्वयार्थ–(अणु-खंध-वियप्पेण दु) अणु और स्कन्ध के विकल्प से **(पोग्गलदव्वं)** पुद्गल द्रव्य **(दुवियप्पं)** दो प्रकार का **(हवेइ)** होता है। **(खंधा दु)** स्कन्ध **(छप्पयारा)** छह प्रकार के होते हैं **(चेव)** और **(परमाणू)** परमाणु **(दुवियप्पो)** दो प्रकार का होता है।

गाथार्थ–''निश्चय से अणु और स्कन्ध के विकल्प से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है। स्कन्ध छह प्रकार के हैं और परमाणु दो प्रकार है ॥२०॥''

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं–एक स्वभावपुद्गल और दूसरा विभावपुद्गल। उनमें से स्वभावपुद्गल परमाणु है और विभावपुद्गल स्कन्ध। कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु की अपेक्षा के भेद से स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार का है। स्कन्ध के छह प्रकार हैं–१. पृथ्वी, २. जल, ३. छाया, ४. नेत्र इन्द्रिय को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय, ५. कर्मरूप होने योग्य कार्मणद्रव्य और ६. कर्मरूप न होने योग्य पुद्गल। इनका निरूपण आगे के सूत्रों में विस्तार से किया जावेगा।

दो भेद 'स्कंध' 'अणु' पुद्गल के पिछानो, हैं स्कंध भेद छह दो अणु के सु जानो।
है कार्य-रूप अणु कारण-रूप दूजा, पै चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥२०॥

अनुष्टुप्

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ॥३७॥

विभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् –

अइथूलथूल-थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणादि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

टीकाकार कहते हैं कि–''स्कन्धों के गलने से–बिछुड़ने से अणु होता है और अणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध बनता है। इस पुद्गल पदार्थ के बिना लोकमात्र– संसार का व्यवहार नहीं चल सकता ॥३७॥''

अब विभावपुद्गल के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(अइथूल थूल-थूलं) अति स्थूल-स्थूल, स्थूल **(थूल-सुहुमं च)** स्थूल सूक्ष्म **(सुहुमथूलं च)** सूक्ष्म स्थूल **(सुहुमं)** सूक्ष्म **(अइसुहुमं)** और अतिसूक्ष्म **(इदि)** प्रकार **(धरादियं)** पृथ्वी आदि **(छब्भेयं)** छह प्रकार के **(होदि)** होते हैं।

है स्थूल-स्थूल फिर स्थूल व स्थूल-सूक्ष्म, औ सूक्ष्म-स्थूल पुनि सुसूक्ष्म सूक्ष्म।
भू नीर आतप हवा विधि-वर्गणायें, ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥२१॥

भू-शैल-काष्ठ तन आदिक जो दिखाते, ये स्थूल-स्थूलमय स्कन्ध सभी कहाते।
घी दूध तेल जल पुद्गल की दशायें, ये हैं उदाहरण स्थूलन के सुनाये ॥२२॥

उद्योत छाँव रवि आतप आदि सारे, ये स्थूल-सूक्ष्ममय स्कंधन के पिटारे।
नासादि के विषय जो बिन रूप प्यारे, है सूक्ष्म- स्थूलमय स्कन्ध गये पुकारे ॥२३॥

जो भी बने, बन सके विधिवर्गणाएँ, वे सूक्ष्म स्कन्ध सब हैं गुरुदेव गाये।
जो शेष स्कन्ध इनसे विपरीत सारे, वे सूक्ष्म-सूक्ष्म इस सार्थक नाम धारे ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिनीप्रभृतयः। घृततैलतक्रक्षीरजल-प्रभृतिसमस्त-द्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च। छायातपतमःप्रभृतयः स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः। स्पर्शनरसनघ्राण श्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः शब्दस्पर्शरसगन्धाः। शुभाशुभ-परिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः। एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्म-पुद्गलाः कर्मणामप्रायोग्याः इत्यर्थः। अयं विभावपुद्गलक्रमः।

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये —

''पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति॥''

(भूपव्वदमादीया) पृथ्वी, पर्वत आदि **(अइथूलथूलमिदि)** अति स्थूल स्थूल ऐसे **(खंधा)** स्कंध **(भणिदा)** कहे गये हैं **(सप्पी-जल-तेलमादीया)** घी, जल, तेल आदि पदार्थ **(थूला)** स्थूल हैं **(इदि)** इस प्रकार **(विण्णेया)** जानना चाहिए।

(छाया तव मादीया) छाया, आतप आदि **(थूलेदर-खंधमिदि)** स्थूल-सूक्ष्म स्कंध हैं, इस तरह **(वियाणाहि)** जानना **(चउरक्खविसया य)** और चार इन्द्रियों के विषय **(सुहुमथूलेदि)** सूक्ष्म-स्थूल **(खंधा)** स्कंध ऐसे **(भणिया)** कहे हैं।

(पुणो) तथा **(कम्मवग्गणस्स)** कर्मवर्गणा के **(पाओग्गा)** प्रायोग्य **(खंधा)** स्कंध **(सुहुमा)** सूक्ष्म **(हवंति)** होते हैं **(तव्विवरीया)** उसके विपरीत **(खंधा)** स्कंध **(अहुसुहमा)** 'अतिसूक्ष्म' **(इदि)** इस तरह **(परूवेंति)** कहे जाते हैं।

भावार्थ—''१. अतिस्थूल, २. स्थूल, ३. स्थूलसूक्ष्म, ४. सूक्ष्मस्थूल, ५. सूक्ष्म और ६. अतिसूक्ष्म के भेद से पृथ्वी आदि पुद्गलों के छह भेद हैं। पृथ्वी, पर्वत आदि स्कन्ध अतिस्थूलस्कन्ध कहलाते हैं; घी, जल, तैल आदि को स्थूल जानना चाहिए; छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं; नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषय सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं; कर्मवर्गणा रूप होने योग्य सूक्ष्म है और उससे विपरीत स्कन्ध अतिसूक्ष्म है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने निरूपण किया है ॥२१-२४॥''

टीकार्थ—सुमेरुपर्वत तथा पृथ्वी आदि पुद्गल अतिस्थूल हैं। घृत, तैल, जल आदि समस्त तरल पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं। छाया, आतप, अन्धकार आदि पदार्थ स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द रूप स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं। शुभ-अशुभ परिणामों के द्वारा आने वाले शुभ-अशुभ कर्मों के योग्य स्कन्ध सूक्ष्म पुद्गल हैं और इनसे विपरीत अर्थात् जो कर्मरूप होने की योग्यता नहीं रखते ऐसे स्कन्ध अतिसूक्ष्म पुद्गल हैं। यह विभाव का क्रम है।

ऐसा ही पंचास्तिकाय आगम में कहा है-''पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्मरूप होने योग्य स्कन्ध और कर्मरूप न होने योग्य स्कन्ध इस प्रकार पुद्गल के छह भेद हैं॥''

उक्तं च मार्गप्रकाशे –

अनुष्टुप्

''स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परम्॥''

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः –

वसंततिलका

''अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः॥''

तथा हि –

मालिनी

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन्।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३८॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत् –

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है–

''स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म ये पुद्गल के उत्तरोत्तर सूक्ष्मता को लिए हुए छह भेद हैं॥''

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–

''इस अनादिकालीन अविवेकरूप महानाटक में रूपादि गुण वाला एक पुद्गल ही नृत्य करता है उससे भिन्न रागादि पौद्गलिक विकारों से विपरीत शुद्ध चैतन्य धातु रूप यह जीव नृत्य नहीं करता है।''

टीकाकार कहते हैं कि–

''इस प्रकार दिखाई देने वाले विविध प्रकार के पुद्गल द्रव्य में हे श्रेष्ठ भव्य! तू अनुराग नहीं कर किन्तु चैतन्यचमत्कार मात्र शुद्ध आत्मस्वरूप में अनुपम अनुराग कर। ऐसा करने से ही तू मुक्तिरूपी लक्ष्मी का इच्छित वर हो सकेगा ॥३८॥''

अब यह कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु रूप द्रव्य के स्वरूप का कथन करते हैं–

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणू ॥२५॥

पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वार: तेषां यो हेतु: स कारणपरमाणु:। स एव जघन्यपरमाणु: स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबन्धयोरयोग्य इत्यर्थ:। स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्यां चतुर्भि: समबन्ध: त्रिभि: पञ्चभिर्विषमबन्ध:। अयमुत्कृष्टपरमाणु:। गलतां पुद्गलद्रव्याणां अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो य: स कार्यपरमाणु:। अणवश्चतुर्भेदा: कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदै: तस्य परमाणुद्रव्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परमस्वभाव इति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे –

अन्वयार्थ–(पुणो) पुन: **(जं)** जो **(धाउचउक्कस्स)** धातु चतुष्क का **(हेऊ)** हेतु है **(ति)** ऐसा **(तं)** वह **(कारणं)** कारण परमाणु **(णेयो)** जानो **(खंधाणं)** स्कंधों के **(अवसाणं)** अंत को **(कज्जपरमाणू)** कारण परमाणु **(णादव्वो)** जानो।

गाथार्थ–''जो पृथ्वी आदि चार की उत्पत्ति का कारण है, धातुचतुष्टय का जो हेतु है, वह कारणपरमाणु है और जो स्कन्धों के गलन से अन्तिम भाग रूप उत्पन्न होता है वह कार्यपरमाणु है, ऐसा जानना चाहिए ॥२५॥''

टीकार्थ–पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु कहलाते हैं। इनका जो हेतु है वह कारणपरमाणु है। जब इसमें स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अविभागप्रतिच्छेद नहीं पाये जाते हैं, तब जघन्य परमाणु कहलाता है। यह जघन्य परमाणु सम और विषम – दोनों ही प्रकार के बन्ध के अयोग्य रहता है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होने पर दो गुण वाले का चार गुण वाले के साथ जो बन्ध होता है वह समबन्ध कहलाता है और तीन गुण वाले का पंचगुण वाले के साथ जो बन्ध होता है वह विषम बन्ध कहलाता है। यह उत्कृष्टकारणपरमाणु है। पुद्गल स्कन्धों के बिछुड़ते-बिछुड़ते अन्त में जो प्राप्त होता है अत: अवसान दशा में जो परमाणु स्थित है वह कार्यपरमाणु है। इस प्रकार कार्य-कारण, जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से परमाणु के चार प्रकार होते हैं। यत: परमाणु द्रव्य अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है अत: उसमें विभाव भाव का अभाव पाये जाने से वह पारिणामिक स्वभाव वाला परम स्वभाव है।

ऐसा ही श्रीप्रवचनसार में कहा है–

भू आदि धातु इनका जब हेतु होता, सो मित्र कारणमयी परमाणु होता।
पै कार्यरूप परमाणु रहा वही है, जो स्कन्ध के क्षरण से उगता सही है॥२५॥

''णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा॥''
''णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो॥''

तथा हि –

अनुष्टुप्

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ॥३९॥

परमाणुविशेषोक्तिरियम् –

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥२६॥

''परमाणु के अविभागप्रतिच्छेद स्निग्ध हों या रूक्ष, सम हों या विषम, यदि समानता से दो अंश अधिक हों तो वे परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं, किन्तु जघन्य गुण वाले नहीं॥''

''दो गुण वाला स्निग्ध परमाणु चार गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध को प्राप्त होता है और तीन गुण वाला परमाणु पाँच गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध को प्राप्त होता है॥''

''उन छह प्रकार के स्कन्धों और चार प्रकार के परमाणुओं से मेरा क्या प्रयोजन सधने वाला है? अर्थात् कुछ भी नहीं। मैं तो अविनाशी शुद्ध एकमात्र आत्मा का ही बार-बार चिन्तन करता हूँ ॥३९॥''

अब परमाणु की विशेषता का कथन है–

अन्वयार्थ–(अत्तादि) जो स्वयं आदि है **(अत्तमज्झं)** जो स्वयं ही मध्य है **(अत्तंत्तं)** जो स्वयं ही अंत है **(इंदिए गेज्झं)** इन्द्रिय ग्रहण योग्य **(णेव)** नहीं है **(जं)** जो **(दव्वं)** द्रव्य है **(अविभागी)** अविभागी **(तं)** उसे **(परमाणु)** परमाणु **(वियाणाहि)** जानो।

गाथार्थ–''जिसका वही आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जो इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है और अविभागी है उसे परमाणु जानो ॥२६॥''

जो द्रव्य होकर न इन्द्रियगम्य होता, आद्यन्त मध्य खुद ही त्रय रूप होता।
हो खण्ड खण्ड न कभी अविभाज्य भाता, ऐसा कहें जिन यही परमाणु गाथा ॥२६॥

यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्त स्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षा-समाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मैवादि:, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अन्तोऽपि स्वस्यात्मैव परमाणु: अत: न चेन्द्रियज्ञानगोचर: अनिलानलादिभिरविनश्वरत्वादविभागी च हे शिष्य स परमाणुरिति त्वं तं जानीहि।

अनुष्टुप्

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मन:।
[१]सिद्धास्ते किं न तिष्ठन्ति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥४०॥

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् —

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

जिस प्रकार नित्य और अनित्यनिगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त स्थित जीवों के सहज परम पारिणामिक भाव की विवक्षा के आधारभूत सहज निश्चयनय की अपेक्षा निजस्वरूप से अच्युतपना कहा है उसी प्रकार परमाणु द्रव्य के भी पारिणामिक भाव से परमस्वभाव रूप होने के कारण निज स्वरूप से अच्युतपना कहा है। इसीलिए अपनी अनेक पर्यायों में परमाणु ही उनका आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। वह परमाणु इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है और जल, अग्नि तथा वायु आदि के द्वारा अविनाशी होने से अविभागी है। हे शिष्य! ऐसे परमाणु को तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि–''जड़स्वरूप पुद्गल द्रव्य की अपने स्वरूप में अर्थात् पुद्गल द्रव्य में ही स्थिति जानकर, क्या वे सिद्ध भगवान् चैतन्य रूप अपने स्वरूप में ही स्थित नहीं हैं? अर्थात् हैं ही।''

भावार्थ—जबकि जड़ रूप पुद्गलद्रव्य भी अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं तब सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप में अवस्थित क्यों नहीं होंगे? अवश्य रहते हैं ॥४०॥

यह स्वभाव (और विभाव) पुद्गल का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ—(एयरस-रूव-गंधं) एक रस, एक रूप, एक गंध **(दो फासं)** दो स्पर्श वाला है **(तं)** वह **(सहावगुणं)** स्वभाव गुण वाला **(हवे)** होता है। **(जिणसमये)** जिनागम में **(सव्वपयडत्तं)** जिसमें सर्वगुण प्रकट हैं उसे **(विहावगुणमिदि)** विभावगुण वाला **(भणिदं)** कहा है।

दो स्पर्श एक रस गन्ध सवर्ण ढोता, धारी स्वभाव गुण का परमाणु होता।
स्पर्शादि नैक गुण का जग स्पष्ट होता, धारी विभाव गुण का अणु स्कन्ध होता ॥२७॥

---

१. भव्या इति स० पुस्तके पाठ:

तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पञ्चसु रसेष्वेकरसः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः, सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगन्धः, कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुः स्पर्शाविरोध-स्पर्शनद्वयम्, एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिनानां मते। विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः। अस्य द्व्यणुकादि-स्कन्धरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः।

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये —

''एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि॥''

उक्तं च मार्गप्रकाशे —

अनुष्टुप्

''वसुधान्त्यचतुःस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम्।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे॥''

गाथार्थ—''जिसमें एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श हों वह स्वभाव गुण वाला पुद्गल है और प्रकट दिखाई देने वाला विभाव गुण वाला पुद्गल है, ऐसा जिनागम में कहा गया है ॥२७॥''

चिरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा नाम के पाँच रसों में से कोई एक रस; सफेद, पीला, हरा, लाल और काला इन पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण; सुगन्ध और दुर्गन्ध में से कोई एक गन्ध; कड़ा-कोमल, भारी-हल्का, ठण्डा-गर्म और चिकना-रूखा नामक आठ स्पर्शों में से अन्त के चार स्पर्शों में से विरोध रहित कोई दो स्पर्श, ये परमाणु के स्वभाव गुण जिनेन्द्र भगवान के मत में कहे गये हैं। अर्थात् जिसमें उक्त गुणों में से एक रस, एक रूप, एक गन्ध और अन्त के चार स्पर्शों में से अविरोधी दो स्पर्श हों वह स्वभाव पुद्गल है और जिसमें विभावगुण हों वह विभाव पुद्गल है। यह विभाव पुद्गल द्व्यणुकादि स्कन्ध रूप है। इसके विभावगुण सभी जीवों के इन्द्रिय समूह के द्वारा ग्रहण में आते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

ऐसा ही श्रीपञ्चास्तिकाय में कहा है-

''जिसमें एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श पाये जावें, जो शब्द का कारण हो पर स्वयं शब्द रूप न हो और स्कन्ध से पृथक् हो उसे परमाणु जानो ॥''

मार्गप्रकाश में भी कहा है-

''परमाणु में स्पर्श आठ हैं, किन्तु परमाणुओं में अन्त के चार स्पर्शों में से कोई दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस पाये जाते हैं, अन्य गुण नहीं पाये जाते ॥''

तथा हि –

मालिनी

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः।
इति निजहृदि मत्त्वा शुद्धमात्मानमेकं
परमसुखपदार्थी भावयेद्भावलोकः ॥४१॥

पुद्गलपर्यायस्वरूपाख्यानमेतत् –

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जायो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥

परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्-प्रकारहानि-वृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्ध-सद्भूतव्यवहार-नयात्मकः अथवा हि एकस्मिन् समयेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः। स्कन्धपर्यायः

टीकाकार कहते हैं–''परमाणु में एक वर्ण आदि से शोभायमान उसके गुणों का समूह विद्यमान रहे पर इसमें मेरे कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा मानकर परम सुखमय सिद्धपद का अभिलाषी भव्यजीव अपने हृदय में एक शुद्ध आत्मा का ही चिन्तन करे ॥४१॥''

पुद्गल की पर्याय के स्वरूप का यह कथन है–

अन्वयार्थ–(अण्णणिरावेक्खो) अन्य से निरपेक्ष **(जो)** जो **(परिणामो)** परिणाम है **(सो)** वह **(सहावपज्जाओ)** स्वभाव पर्याय है **(पुणो)** पुनः **(खंधसरूवेण)** स्कंध स्वरूप से **(परिणामो)** जो परिणमन होता है **(सो)** वह **(विहावपज्जाओ)** विभाव पर्याय है।

गाथार्थ–अन्य की अपेक्षा किये बिना जो परिणमन होता है वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूप जो परिणमन होता है वह विभावपर्याय है ॥२८॥

टीकार्थ–परमाणुरूप पर्याय पुद्गल द्रव्य की शुद्ध पर्याय है, यह परमपारिणामिक भाव स्वरूप लक्षण वाली है, द्रव्य में पाई जाने वाली वस्तुगत छह प्रकार की हानि और वृद्धि से युक्त है, अत्यन्त सूक्ष्म है, अर्थपर्यायरूप है और सादि तथा सान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहार नय का विषय है। या एक ही समय में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप होने से सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय है। किन्तु स्कन्धरूप पर्याय अपने सजातीय परमाणुओं के

पर्याय एक रखती पर की अपेक्षा, स्वापेक्ष एक रहती पर की उपेक्षा।
स्कंधात्मिका परिणती जु विभावशाली, द्रव्यात्मिका परिणती स्व स्वभाववाली ॥२८॥

स्वजातीयबन्धलक्षण-लक्षितत्वादशुद्ध इति।

मालिनी

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः।
भगवति जिननाथे पञ्चबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ॥४२॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् –

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपेदशः शुद्धनिश्चयनयेन। इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्धपुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारतः सिद्धं भवति।

साथ बन्धरूप लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्धपर्याय है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जिस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव में कामदेव की कोई बात नहीं है, उसी प्रकार परपरिणति से दूर रहने वाले शुद्धपर्याय रूप परमाणु में कोई बात नहीं है और श्री जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार नित्य हैं उसी प्रकार यह परमाणु भी नित्य है ॥४२॥''

अब यह पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार है–

अन्वयार्थ–(णिच्छएण) निश्चय से **(परमाणू)** परमाणु को **(पोग्गलदव्वं)** पुद्गल द्रव्य **(उच्चइ)** कहा जाता है **(इदरेण)** व्यवहार से **(पुणो)** पुनः **(खंधस्स)** स्कंध को **(पोग्गल दव्वो)** पुद्गल द्रव्य **(त्ति)** इस प्रकार **(ववदेसो)** नाम **(होदि)** होता है।

गाथार्थ–''निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य कहलाता है, परन्तु व्यवहारनय से स्कन्ध में भी पुद्गल द्रव्य का व्यपदेश होता है ॥२९॥''

टीकार्थ–शुद्धनिश्चयनय से स्वभाव शुद्धपर्यायरूप परमाणु में ही पुद्गल द्रव्य का व्यवहार होता है और व्यवहारनय के द्वारा विभावपर्यायरूप स्कन्ध पुद्गलों में उपचार से पुद्गलपना सिद्ध होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–

है 'द्रव्य' निश्चय तथा परमाणु भाता, पै स्कन्ध द्रव्य व्यवहार तथा कहाता।
सो स्कन्ध नैक अणु से बनता इसी से, है द्रव्य रूप व्यपदेश धरे सदी से ॥२९॥

मालिनी

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ ॥४३॥

अनुष्टुप्

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥४४॥

उपेन्द्रवज्रा

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्
सचेतने वा परमात्मतत्त्वे।
न रोषभावो न च रागभावो
भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५॥

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम् –

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥

''इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित मार्ग के अनुसार तत्त्वार्थ के समूह को जानकर तू चेतन-अचेतनरूप समस्त पर-पदार्थ को छोड़ और अन्तरङ्ग की निर्विकल्प रूप समाधि में लीन होकर पर से रहित चैतन्य के चमत्कार मात्र परमतत्त्व रूप निजशुद्धात्म तत्त्व का भजन कर ॥४३॥''

''पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है, यह जो कल्पना है वह प्राथमिक पुरुषों के ही होती है, निष्पन्न-दृढ़ाभ्यासी योगियों के नहीं होती ॥४४॥''

''योगियों की तो शुद्ध अवस्था होती है जहाँ कि इस अचेतन पुद्गल द्रव्य में न द्वेष होता है और न सचेतन परमात्मतत्त्व में अनुराग ही रह जाता है ॥४५॥''

अब यहाँ धर्म, अधर्म तथा आकाश का संक्षिप्त कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(धम्म-मधम्मं) धर्म और अधर्म द्रव्य **(जीवपुग्गलाणं च)** जीव और पुद्गलों

जीवादि द्रव्य भरके अवकाश दाता, आकाश-द्रव्य वह सार्थक नाम पाता।
औ जीव पुद्गल की स्थिति वा गती में, होते अधर्म पुनि धर्म निमित्त ही में ॥३०॥

अयं धर्मास्तिकाय: स्वयं गतिक्रियारहित: दीर्घिकोदकवत्। स्वभावगतिक्रियापरिणतस्यायोगिन: पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवत: सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कापक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवाम-लोचनालोचनगोचरस्य त्रिलोकशिखरिशेखरस्य अपहस्तित-समस्तक्लेशावासपञ्चविधसंसारस्य पञ्चमगति-प्राप्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतु: धर्म:, अपि च षट्कापक्रमयुक्तानां संसारिणां विभावगति-क्रियाहेतुश्च। यथोदक: (कं) पाठीनानां गमनकारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं स धर्म:। सोऽयममूर्त: अष्टस्पर्शनविनिर्मुक्त: वर्णरसपंचकगन्धद्वितयविनिर्मुक्तश्च अगुरुलघुत्वादिगुणाधार: लोक-मात्राकार: अखण्डैकपदार्थ:। ''सहभुवो गुणा:, क्रमवर्तिन: पर्यायाश्चेति'' वचनादस्य गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणा: शुद्धपर्याया भवन्ति। अधर्मद्रव्यस्य स्थितिहेतुर्विशेषगुण:। अस्यैव तस्य धर्मास्तिकायस्य गुण-

---

के **(गमणणिमित्तं)** गमन में और **(ठिदि)** ठहरने में निमित्त हैं **(जीवादी-सव्वदव्वाणं) (अवगहणं)** जीव आदि सर्व द्रव्यों के **(आयासं)** अवगाहन में आकाश निमित्त है।

गाथार्थ—''जो जीव और पुद्गल द्रव्य के गमन में निमित्त है वह धर्म है, जो उनकी स्थिति में कारण है वह अधर्म है और जो जीवादि समस्त द्रव्यों को अवगाह देने वाला है वह आकाश है ॥३०॥''

यह धर्मास्तिकाय वापिका के जल की तरह स्वयं गमनक्रिया से रहित है। जो अ इ उ ऋ ऌ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल में जितना समय लगता है, केवल उतने ही समय तक चौदहवें गुणस्थान में ठहरकर ''भगवान् सिद्ध'' ऐसा नाम पाने के योग्य है, जो चार दिशाओं और ऊपर-नीचे इस प्रकार छह दिशाओं में गमन करने रूप षट्कापक्रम से छूट चुके हैं, जो मुक्ति रूपी ललना के नेत्रगोचर हुआ चाहते हैं, जो अभी-अभी तीन लोक की शिखर के सेहरा बनने वाले हैं, जिन्होंने समस्त क्लेशों के घर स्वरूप पाँच प्रकार के संसार को नष्ट कर दिया है और जो पंचमगति को प्राप्त हुए हैं ऐसे अयोगकेवली जब अयोगी अवस्था के बाद स्वाभाविक गमनरूप क्रिया में परिणत होते हैं तब धर्मद्रव्य उनके स्वाभाविक गमनरूप क्रिया में कारण होता है। इसके सिवाय, षट्कापक्रम से युक्त संसारी जीवों की वैभाविक गमनरूप क्रिया में भी हेतु होता है। जिस प्रकार जल मछलियों के चलने में कारण होता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के चलने में कारण होता है। यह धर्मद्रव्य अमूर्तिक है, आठ प्रकार के स्पर्शन से रहित है। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्धों से भी दूर है, अगुरुलघुत्व आदि गुणों का आधार है, लोकप्रमाण आकार का धारी है और अखण्ड एक पदार्थ है। ''गुण सहभावी होते हैं-सदा साथ रहते हैं और पर्याय क्रमवर्ती होती हैं-एक के बाद एक होती है'' आगम के इस वचन से गमन में हेतु स्वरूप इस धर्म के शुद्ध गुण और शुद्धपर्याय होती है। अधर्मद्रव्य का विशेष गुण स्थिति में कारण होता है। इसकी गुणपर्याय आदि सभी विशेषताएँ पूर्वोक्त धर्मास्तिकाय की तरह हैं।

पर्याया: सर्वे भवन्ति। आकाशस्यावकाशदानलक्षणमेव विशेषगुण:। इतरे धर्माधर्मयोर्गुणा: स्वस्यापि (लस्यापि) सदृशा इत्यर्थ:। लोकाकाशधर्माधर्माणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति।

मालिनी

इह गमननिमित्तं यत्स्थिते: कारणं वा
यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोक: ॥४६॥

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम् –

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहद [१]संठाण (सिद्धाणं) प्पमाणं तु ॥३१॥

आकाश का विशेषगुण अवकाश देना ही है इसके भी अन्य गुण धर्म और अधर्मद्रव्य के ही समान हैं। लोकाकाश यद्यपि धर्म और अधर्म के समान परिमाण वाला है परन्तु इससे अलोकाकाश को ह्रस्व - सीमित नहीं जानना चाहिए। वह तो सब ओर से अनन्त परिमाण वाला ही है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस संसार में जो गमन का कारण है, जो स्थिति का कारण है और जो सब द्रव्यों को अवकाश देने का कारण है उस सबको द्रव्य रूप से अच्छी तरह जानकर भव्य जीव सदा आत्मतत्त्व में ही प्रवेश करें। (ये सब ज्ञेयतत्त्व हो सकते हैं, पर उपादेय तो एक आत्मतत्त्व ही है।) ॥४६॥''

अब यहाँ व्यवहारकाल का स्वरूप और उसके विविध भेदों का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(समयावलि-भेदेण दु) समय और आवलि के भेद से तो **(दुवियप्पं)** दो प्रकार का है। **(अहव)** अथवा **(तिवियप्पं)** तीन प्रकार का **(होइ)** होता है **(तीदो तु)** अतीत काल **(संखेज्जावलि-हद-संठाणप्पमाणं)** संख्यात आवली से गुणित संस्थान प्रमाण है।

होता द्विधा समय आवलिहार द्वारा, है काल, या त्रिविध है व्यवहारवाला।
संख्यात आवलि व सिद्ध प्रमाणवाला, है भूतकाल सुन सांप्रत भाविवाला ॥३१॥

---

१. अतीतकाल का प्रमाण गोम्मटसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार बतलाया है–

''**ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु। तीदो संखेज्जावलि हद सिद्धाणं पमाणं तु ॥५७७॥**

व्यवहारकाल के तीन भेद हैं–भूत, वर्तमान और भविष्यत्। संख्यात आवलियों से गुणित सिद्धराशि का जितना प्रमाण है उतना अतीतकाल है। नियमसार के 'संठाण' पाठ की संगति बैठाने के लिए संस्कृत टीकाकार को भी बड़ी खींचतान करना पड़ी है। मालूम होता है गोम्मटसार का सुलझा हुआ पाठ उनकी दृष्टि में नहीं आया। इसी प्रकार ३२ वें श्लोक का 'चापि संपदा समया' पाठ और उसकी संस्कृत टीका दोनों ही अशुद्ध हैं।

एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकालः। तादृशैरसंख्यातसमयैः निमिषः, अथवा नयनपुटघटनायत्तो निमेषः। निमेषाष्टकैः काष्ठा। षोढशभिः काष्ठाभिः कला। द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका। षष्टिनालिकमहोरात्रम्। त्रिंशदहोरात्रैर्मासः। द्वाभ्यां मासाभ्यां ऋतुः। ऋतुभिस्त्रिभि-रयनम्। अयनद्वयेन संवत्सरः। इत्यावल्यादिव्यवहारकालक्रमः। इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति, अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा वा। अतीतकालप्रपञ्चोऽयमुच्यते अतीतसिद्धानां सिद्धपर्याय-प्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्यैषां (कालो ह्येषां) संसारावस्थायां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः। अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धाना-मनागतशरीराणि यानि तैः सदृश (सदृशत्वादनन्तः) इत्यामुक्तेः सकाशादित्यर्थः।

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये —

''समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोडुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो॥''

गाथार्थ—''समय और आवली के भेद से व्यवहारकाल दो प्रकार का है अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत् की अपेक्षा वह तीन प्रकार का है। उसमें भी भूतकाल संख्यात आवली से गुणित सिद्धों का जितना प्रमाण है उतना है ॥३१॥''

टीकार्थ—आकाश के एक प्रदेश में जो परमाणु स्थित है उसे दूसरा परमाणु मन्द चाल से जितने समय में लांघ जावे वह समय नाम का व्यवहारकाल है। ऐसे असंख्यात समयों का एक निमेष होता है, अथवा नेत्रों के पलक झपकने में जितना काल लगता है उतने काल का नाम निमेष होता है। आठ निमेष की एक काष्ठा, सोलह काष्ठाओं की एक कला, बत्तीस कला की एक घड़ी, साठ घड़ी का एक दिन-रात, तीस दिन-रात का एक माह, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन और दो अयनों का एक वर्ष होता है। यह आवली आदि व्यवहारकाल का क्रम है। इस प्रकार समय और आवली के भेद से व्यवहारकाल दो प्रकार का है। अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है। अतीतकाल का विशेष कथन इस प्रकार है—अतीतकाल या शरीर व्यतीत हुए हैं, उनके सदृश होने से ये अनन्त हैं। इसी प्रकार अनागतकाल भी अनागतकाल के सिद्धों के जो अनागतशरीर हैं उनके समान होने से अनन्त हैं।

व्यवहारकाल को लक्ष्यकर श्रीपञ्चास्तिकाय में भी कहा है—''समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष यह पर पदार्थ की आधीनता से प्रकट होने वाला व्यवहारकाल है।''

तथा हि –

मालिनी

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद्
निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ॥४७॥

अनागतवर्तमानमुख्यकालद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत्–

जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि[१] संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

टीकाकार कहते हैं कि –''समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाडिका आदि दिन–रात के भेद से जो यह काल उत्पन्न होता है आचार्य कहते हैं कि एक शुद्ध अनुपम आत्मतत्त्व को छोड़कर उस काल से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥४७॥''

अब (भविष्यत्, वर्तमान और) मुख्यकाल का कथन करते हैं –

अन्वयार्थ–(जीवादु) जीव से व **(पुग्गलादो)** पुद्गल से **(चावि)** भी **(णंतगुणा)** अनंतगुणा **(संपदा)** वर्तमान **(समया)** समय हैं **(य)** और **(लोयायासे)** जो लोकाकाश में **(संति)** प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान हैं **(सो)** वह **(कालो)** काल **(परमट्ठो)** परमार्थ **(हवे)** काल होता है।

गाथार्थ–''जीव और पुद्गल राशि का जितना प्रमाण है समय उससे अनन्तगुणित है और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो कालाणु अवस्थित हैं, वह निश्चयकाल है ॥३२॥''

लो जीव से व जड़ से वह काल भावी, होता अनन्त गुण सांप्रत काल भाई।
त्रैलोक्य के प्रति प्रदेशन पे सुहाते, एकैक काल अणु 'निश्चय' वीर गाते ॥३२॥

---

१. समओ दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि। भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥ २७८॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड के इस उल्लेख से नियमसार की यह ३२ वीं गाथा अशुद्ध हुई जान पड़ती है और संस्कृत टीकाकार ने भी उसी अशुद्धपाठ की यथाकथञ्चित् व्याख्या की है। टीकाकार ने जो समय कालाणु अनन्त बतलाये हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कालाणु असंख्यात हैं, न कि अनन्त। यद्यपि प्रवचनसार की 'समओ दु अप्पदेसो' गाथा की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति में समय शब्द का कालाणु अर्थ किया है, परन्तु जब ग्रन्थकार पूर्व गाथा में काल के तीन भेदों का उल्लेख कर स्वयं अतीतकाल का वर्णन कर चुके हैं तब अनागत और वर्तमान का वर्णन रह जाता है। अतः नियमसार के ३२ वें श्लोक में भावि संपदो समओ ऐसा पाठ यदि मान लिया जाय तो उससे यह विवेचन स्पष्ट हो जाता है कि भाविकाल जीव और पुद्गल से अनन्तगुणा है। तथा वर्तमान काल समय मात्र है और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो स्थित है वह निश्चयकाल है। इस श्लोक के 'चावि' शब्द के स्थान में होने वाले 'भावि' पाठ की ओर दृष्टि न डालने से ही टीकाकार को पूर्व गाथा में अनागतकाल की पूरक व्याख्या करनी पड़ी है। इस गाथा की मुद्रित टीका में टीकाकार ने 'चावि संपदा' शब्दों की व्याख्या कतई छोड़ दी है। अस्तु विद्वज्जन स्वयं विचार कर जो अर्थ ठीक मालूम हो उसका अनुगम करें। यह टीका कोष्ठकगत पाठों के साथ प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में मुद्रित है।

जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः। के ते? समयाः। कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक्तिष्ठन्ति, स कालः परमार्थः इति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे –

''समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदवियस्स॥''

अस्यापि (अत्रापि) समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तम्।

अन्यच्च –

''लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥''

टीकार्थ–भविष्यत्काल जीव और पुद्गल राशि के अनन्तगुणा है तथा वर्तमान काल एक समय मात्र है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो कालाणु अवस्थित हैं वह मुख्यकाल-निश्चयकाल है।

समय जीवराशि और पुद्गलराशि से अनन्तगुणे हैं। कौन? समय अर्थात् कालाणु और कालाणु लोकाकाश के प्रदेशों पर पृथक्-पृथक् स्थित हैं, वह परमार्थकाल है।

ऐसा ही प्रवचनसार में कहा है–

''द्वितीयादि प्रदेश रहित कालाणु आकाश द्रव्य के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति से जाने वाले प्रदेश मात्र पुद्गल परमाणु के गमन में सहकारी होता है।''

इस गाथा में भी समय शब्द के द्वारा मुख्यकाल को अणु स्वरूप कहा है।

समय रूप पर्याय का उपादान कारण होने से कालाणु समय कहलाता है। वह कालाणु अप्रदेश है–द्वितीयादि प्रदेश रहित है, कालाणु गतिक्रिया रूप परिणत परमाणु का सहकारी होता है। **प्रश्न–**वह परमाणु किस द्रव्य का है? **समाधान–**प्रदेशमात्र पुद्गल जाति रूप परमाणु द्रव्य का है। **प्रश्न–**क्या करते हुए परमाणु का सहकारी होता है? **समाधान–**मन्दगति से जाते हुए। **प्रश्न–**किसकी ओर? **समाधान–**कालाणु से व्याप्त एक प्रदेश की ओर। **प्रश्न–**किसके प्रदेश की ओर? **समाधान–**आकाश द्रव्य के।

और भी कहा है–''लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो पृथक् -पृथक् रूप से स्थित हैं वे कालाणु हैं और जो कि गणना में असंख्यात हैं।''

उक्तं च मार्गप्रकाशे –

अनुष्टुप्

''कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तरात्।
न द्रव्यं नापि पर्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते॥''

तथा हि –

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।
पञ्चानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥४८॥
प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः।
धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ॥४९॥

कालादिशुद्धामूर्ताचेतनद्रव्याणां स्वस्वभावगुणपर्यायाख्यानमेतत् –

जीवादीदव्वाणं परिवट्टण[१]कारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं [२]सहावगुणपज्जया होंति ॥३३॥

मार्गप्रकाश में भी कहा है–''कालद्रव्य का अभाव होने से पदार्थों में परिणमन नहीं हो सकेगा और परिणमन के बिना न द्रव्य ही ठहर सकता है और न सिद्ध हो सकेगा, न पर्याय और इस प्रकार सबके अभाव का प्रसंग आ जायेगा।''

टीकाकार कहते हैं कि–''यह काल द्रव्य कुम्भकार के चक्र की तरह वर्तना का - परिवर्तन का कारण है, क्योंकि अन्य प्रकार से पाँच अस्तिकायों में वर्तना नहीं हो सकती ॥४८॥''

''समस्त जीव और पुद्गलों का समूह सबकी प्रतीति का विषय है–प्रत्यक्ष है तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये आगम से सिद्ध हैं ॥४९॥''

अब काल आदि शुद्ध–अमूर्तिक–अचेतन द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों और पर्यायों का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(जीवादीदव्वाणं) जीवादि द्रव्यों के **(परिवट्टण-कारणं)** परिवर्तन का कारण **(कालो)** काल द्रव्य **(हवे)** होता है **(धम्मादिचउण्णाणं)** धर्म आदि चार द्रव्यों की **(सहावगुणपज्जया)** स्वभाव गुण पर्यायें **(होंति)** होती हैं।

गाथार्थ–''कालद्रव्य है, जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का जो कारण है तथा धर्म आदि चार द्रव्यों के गुण और पर्याय स्वाभाविक ही होते हैं ॥३३॥''

रे काल का वह अनुग्रह तो रहे हैं, जीवादि द्रव्य परिवर्तित हो रहे हैं।
जो जीव पुद्गल बिना अवशेष सारे, धारे स्वभावमय पर्यय द्रव्य प्यारे॥३३॥

---

१. वट्टुण इति द पुस्तके पाठः, २. सहाउ इति द.

इह हि मुख्यकालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात् परिवर्तनलिङ्ग:मित्युक्तम्। अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयविजातीयबन्धसम्बन्धा-भावात् विभावगुणपर्याया न भवन्ति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः। ते गुणपर्यायाः पूर्वं प्रतिपादिताः, अत एवात्र संक्षेपतः सूचिता इति।

मालिनी

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत्।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ॥५०॥

अत्र कालद्रव्यमन्तरेण पूर्वोक्तद्रव्याण्येव पञ्चास्तिकाया भवन्तीत्युक्तम् –

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥३४॥

टीकार्थ–इस संसार में मुख्य काल द्रव्य ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य की पर्यायों के परिवर्तन में कारण है, अतः इसे परिवर्तन का लिङ्ग कहा गया है। यतः धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अपने में स्वजातीय तथा विजातीय किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता अतः इसके बन्ध के सम्बन्ध का अभाव होने से विभावगुण पर्याय नहीं होते, किन्तु मात्र स्वभावगुण पर्याय ही होते हैं। चूँकि इन गुणों और पर्यायों का वर्णन पहले किया जा चुका है इसलिए यहाँ संक्षेप से उन्हें सूचित किया है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार अतिशय रमणीय और भव्यजीवों के कानों के लिए अमृततुल्य जो यह षड्द्रव्य का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन किया गया है, वह जिनमतानुयायी मुनियों के चित्त को आनन्द देने वाला है, अतः यह विवरण भव्य जीवों को संसार से छुटकारा पाने के लिए सदा सहायक होवे ॥५०॥''

अब कालद्रव्य को छोड़कर बाकी पूर्वोक्त द्रव्य अस्तिकाय हैं, यह कहते हैं –

अन्वयार्थ–(जिणसमये) जिनशासन में **(एदे छद्दव्वाणि य)** ये छह द्रव्य **(कालं)** काल को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(अत्थिकाय)** अस्तिकाय **(त्ति)** इस प्रकार **(णिद्दिट्ठा)** कहे गए हैं **(काया हु)** काया को तो **(बहुप्पदेसत्तं)** बहुप्रदेशपना है।

गाथार्थ–''इस काल के सिवाय बाकी के द्रव्य अस्तिकाय हैं, क्योंकि जिनागम में बहुप्रदेशी को ही काय कहा है ॥३४॥''

जीवादि द्रव्य दल जो बिन काल सारा, हैं अस्तिकाय इस सार्थक नाम वाला।
है काय का सरल अर्थ बहु प्रदेशी, है जैन शासन कहें सुन तू हितैषी ॥३४॥

इह हि द्वितीयादिप्रदेशरहितः कालः, ''समओ अप्पदेसो'' इति वचनात्। अस्य हि द्रव्यत्वमेव, इतरेषां पञ्चानां कायत्वमस्त्येव। बहुप्रदेशप्रचयत्वात् कायः। काया इव कायाः। पञ्चास्तिकायाः। अस्तित्वं नाम सत्ता। सा किंविशिष्टा? सप्रतिपक्षा, अवान्तरसत्ता महासत्तेति। तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अस्तीत्यस्य भावः अस्तित्वम्। अनेन अस्तित्वेन कायत्वेन सनाथाः पञ्चास्तिकायाः। कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव, न कायत्वं काया इव बहुप्रदेशाभावादिति।

आर्या

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कण्ठाभरणाय भव्यानाम् ॥५१॥

टीकार्थ—इन द्रव्यों में कालद्रव्य के द्वितीयादि प्रदेश नहीं पाये जाते हैं क्योंकि ''समय'' अर्थात् कालाणु अप्रदेशी है, ऐसा आगम का वचन भी है। इस काल द्रव्य में केवल द्रव्यपना ही है परन्तु अन्य पाँच द्रव्यों में द्रव्यत्व के साथ-साथ कायत्व भी है। जो अनेक प्रदेशों का समुदाय रूप होता है, वह काय कहलाता है। अर्थात् शरीर की तरह जो बहुप्रदेशी हो उसे काय कहते हैं। ऐसे अस्तिकाय द्रव्य पाँच ही हैं। अस्तित्व नाम सत्ता का है, वह सत्ता किस प्रकार की है? जो कि अपने विरोधी धर्म से सहित है, जैसे कि अवान्तर सत्ता और महासत्ता। जो अखिल वस्तु जाल में व्याप्त रही है, वह महासत्ता है और जो प्रतिनियत भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्याप्त है वह अवान्तरसत्ता है। जो समस्त पदार्थों के व्यापक स्वरूपों में व्याप्त है, वह महासत्ता है और जो प्रतिनियत किसी एक पदार्थ के रूप में व्याप्त है वह अवान्तर सत्ता है। अथवा जो अनन्त पर्यायों में व्याप्त है वह महासत्ता है और जो प्रतिनियत किसी एक पर्याय में व्याप्त है वह अवान्तर सत्ता है। जो है या अस्ति-सत्ता का भाव अस्तित्व कहलाता है। पञ्चास्तिकाय इसी अस्तित्व से सहित है। कालद्रव्य में अस्तित्व ही है, कायपना नहीं है, क्योंकि उसमें शरीर की तरह बहुत प्रदेशों का अभाव है।

टीकाकार कहते हैं कि—''इस प्रकार पूर्व आचार्यों के द्वारा जिनमार्गरूपी समुद्र से प्रेमपूर्वक निकली हुई यह छह द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्य जीवों के कण्ठ के आभूषण के लिए होवे ॥५१॥''

षण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिदम् —

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ॥३५॥
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देहा (देसा)।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जह्मा ॥३६॥

शुद्धपुद्‌गलपरमाणुना गृहीतं नभःस्थलमेव प्रदेशः। एवंविधाः पुद्‌गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च। लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवन्ति। इतरस्यालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशा भवन्ति। कालस्यैकप्रदेशो भवति, अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति।

यह अब छह द्रव्यों के कितने प्रदेश संभव हैं, इस बात का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(मुत्तस्स) मूर्त द्रव्य के **(संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा)** संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेश **(हवंति)** होते हैं **(धम्मा-धम्मस्स)** धर्म, अधर्म द्रव्य **(पुणो)** और **(जीवस्स)** जीव के **(हु असंखदेसा)** निश्चय से असंख्यात प्रदेश होते हैं **(लोयायासे)** लोकाकाश के **(ताव)** उतने ही तथा **(इदरस्स)** अन्य आकाश के **(अणंतयं देसा)** अनन्त प्रदेश **(हवे)** होते हैं **(कालस्स)** काल के **(कायत्तं ण)** कायत्व नहीं है **(जम्हा)** चूँकि **(एयपदेसो)** वह एक प्रदेश वाला **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''मूर्त अर्थात् पुद्‌गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं, लोकाकाश के भी उतने ही प्रदेश हैं परन्तु अलोकाकाश के अनन्त हैं। कालद्रव्य के कायपना नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी ही है ॥३५-३६॥''

टीकार्थ–शुद्ध पुद्‌गल परमाणु के द्वारा रोका हुआ आकाश ही प्रदेश कहलाता है। पुद्‌गल द्रव्य के ऐसे प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। लोकाकाश, धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं, लोकाकाश के अतिरिक्त अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं, कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है, इसलिए उसमें कायपना नहीं है, परन्तु वह द्रव्य तो है ही।

होता मितामित अनन्त प्रदेश वाला, सो मूर्त पुद्‌गल इसी व्यपदेश वाला।
आत्मा अधर्म फिर धर्म असंख्य देशी, विश्वास धार इनमें दृढ़ तू हितैषी ॥३५॥
होता उसी तरह लोक असंख्य देशी, हो सर्व में गुरु अलोक अनन्त देशी।
पै काल कायपन को धरता नहीं है, वो एक देश धरता अणु सा सही है ॥३६॥

उपेन्द्रवज्रा

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कण्ठविभूषणार्थम्।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥५२॥

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् –

पुग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७॥

तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम्, इतरेषाममूर्तत्वम्। जीवस्य चेतनत्वम्, इतरेषामचेतनत्वम्। स्वजातीयविजातीयबन्धनापेक्षया जीवपुद्गलयोरशुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति।

टीकाकार कहते हैं कि–''मैंने मुमुक्षुजनों के कण्ठ को अलङ्कृत करने के लिए यह पदार्थ रूपी रत्नों का आभूषण बनाया है। बुद्धिमान जन इसके द्वारा व्यवहार मार्ग को जानकर फिर निश्चयमार्ग को भी जान लेते हैं ॥५२॥''

अब यह अजीवद्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार है–

अन्वयार्थ–(पुग्गलदव्वं) पुद्गल द्रव्य **(मुत्तं)** मूर्तिक है **(मुत्ति-विरहिया)** मूर्त से रहित **(सेसाणि)** शेष द्रव्य **(हवंति)** हैं **(जीवो)** जीव **(चेदणभावो)** चेतनभाव वाला है **(सेसा)** शेष सभी द्रव्य **(चेदण-गुण-वज्जिया)** चेतन गुण से रहित हैं।

गाथार्थ–''पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और शेष अन्य द्रव्य अमूर्तिक हैं, उसमें भी जीव पदार्थ चैतन्य रूप है और बाकी के शेष पदार्थ चैतन्य गुण से रहित हैं ॥३७॥''

टीकार्थ–उन मूल पदार्थों में पुद्गल द्रव्य के मूर्तपना है, जीव पदार्थ ही चेतनतामय है, अन्य पदार्थ अचेतनतामय हैं, स्वजातीय और विजातीय बन्धन की अपेक्षा जीव तथा पुद्गल में अशुद्धपना है, परन्तु धर्म आदि चार द्रव्यों में विशेष गुणों की अपेक्षा शुद्धता ही है।

ये पाँच द्रव्य नभ धर्म अधर्म काल, औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल।
है मूर्त पुद्गल सदा सुन भव्य प्यारे, है जीव चेतन, अचेतन शेष सारे ॥३७॥

मालिनी

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य।
सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥५३॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः ॥२॥

टीकाकार कहते हैं कि–''जिस श्रेष्ठ भव्य जीव के मुखकमल में निरन्तर यह सुन्दर पदों की पंक्ति शोभायमान रहती है, उस तीक्ष्णबुद्धि के हृदय कमल में समयसार - आगम का सार सुशोभित होने लगता है इसमें क्या आश्चर्य है ॥५३॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में अजीवाधिकार नाम का द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

३
शुद्धभावाधिकारः

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते –

हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् –

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादिसप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम्। आत्मनः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्य-पराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशित-मतेरुपादेयो ह्यात्मा। औदयिकादिचतुर्णां भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनित-विभावगुण-पर्यायरहितः, अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्ध-सहजपरमपारिणामिकभावस्वभाव-

---

अब इस समय शुद्धभावाधिकार है–

यह हेय-उपादेय तत्त्व के स्वरूप का निरूपण है–

अन्वयार्थ–(जीवादिबहित्तच्चं) जीवादि बाह्य तत्त्व **(हेयं)** हेय हैं **(कम्मोपाधि-समुब्भव-गुणपज्जाएहिं)** कर्म-उपाधि से उत्पन्न गुण-पर्यायों से **(वदिरत्तो)** रहित **(अप्पा)** आत्मा **(अप्पणो)** आत्मा को **(उवादेयं)** उपादेय है।

गाथार्थ–''जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, आत्मा को वह आत्मा उपादेय है, जो कि कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण और पर्यायों से भिन्न है ॥३८॥''

टीकार्थ–जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने से हेय है। उस आत्मा के जो कि सहज वैराग्य रूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान है, परद्रव्यों से विमुख है, पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिसके परिग्रह रह गया है, जो परम जिनेन्द्र अथवा योगीश्वर दशा को प्राप्त हुआ है और स्वकीय द्रव्य के ग्रहण में जिसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, एक आत्मा ही उपादेय है। निश्चय से आत्मा औदयिक आदि चार भावों के अगोचर है, द्रव्य, भाव एवं नोकर्मरूप उपाधि से उत्पन्न वैभाविक गुणों तथा पर्यायों से रहित है, अनादि-अनन्त, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय, स्वभाव से शुद्ध, सहज उत्कृष्ट पारिणामिकभाव रूप होने से ऐसा

कर्मादि के उदय या क्षय से मिले हैं, पर्याय और गुण वे मुझसे निरे हैं।
प्राप्तव्य ध्येय निज आतम मात्र प्यारा, जीवादि बाह्य सब हेय अपात्र न्यारा ॥३८॥

कारणपरमात्मा ह्यात्मा। अत्यासन्न-भव्यजीवानामेवंभूतं निजपरमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति।

मालिनी

जयति समयसार: सर्वतत्त्वैकसार:
सकलविलयदूर: प्रास्तनिर्वाणपार: ([१]निर्वारमार:)।
दुरिततरुकुठार: शुद्धबोधावतार:
सुखजलनिधिपूर: क्लेशवाराशिपार: ॥५४॥

निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् –

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३९॥

त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि। प्रशस्ताप्रशस्त-समस्तमोहरागद्वेषाभावान्न च मानापमानहेतुभूतकर्मोदयस्थानानि। न खलु (शुभ) परिणतेरभावाच्छुभकर्म,

---

जो कारणपरमात्मा रूप आत्मा है ऐसे निज परमात्मा हैं। अत्यन्त निकट भव्य जीवों को पूर्वोक्त निज परमात्मा के सिवाय और कुछ भी उपादेय नहीं है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

टीकाकार कहते हैं कि–''वह शुद्धात्मस्वरूप समयसार सदा जयवन्त रहे, जो कि समस्त तत्त्वों में श्रेष्ठ है, सब प्रकार के अपायों से दूर है, जो निर्वाण के पार को प्राप्त कर चुका है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, जिसके शुद्ध-सम्यग्ज्ञान अवतार स्वरूप है, जो सुखरूपी समुद्र के पूर के समान है और दु:खरूपी समुद्र से पार हो चुका है ॥५४॥''

अब यह निर्विकल्पक तत्त्व के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जीवस्स) जीव के **(सहावठाणा)** स्वभाव स्थान **(णो खलु)** निश्चय से नहीं हैं **(वा)** और **(माणवमाण-भावठाणा)** मान अपमान भाव स्थान भी **(णो)** नहीं हैं **(हरिसभावठाणा)** हर्ष भाव के स्थान **(णो)** नहीं हैं। **(वा)** तथा **(अहरिसठाणा)** अहर्ष स्थान भी **(णो)** नहीं हैं।

गाथार्थ–''इस जीव के निश्चय से न स्वभाव स्थान हैं, न मान-अपमान के भाव स्थान हैं, न हर्षभाव के स्थान हैं और न अहर्षभाव के ही स्थान हैं ॥३९॥''

टीकार्थ–''यह शुद्धजीवास्तिकाय का स्वरूप तीनों काल में उपाधि से रहित है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय के विभाव और स्वभाव के स्थान नहीं हैं, शुभ-अशुभ सभी प्रकार के मोह, राग एवं द्वेष का अभाव होने से मान-अपमान के कारणभूत कर्मोदय जनित स्थान नहीं हैं। इसी

ये हर्षभाव नय निश्चय से नहीं हैं, जीवात्म में नहिं विषाद अहर्ष ही है।
मानापमानमय भाव विभाव से हैं, हैं दूर जीव निज स्थान स्वभाव से हैं ॥३९॥

---

१. प्रास्तनिर्वारमार: अर्थात् कठिनाई से दूर होने वाले कामदेव को नष्ट कर दिया है।

शुभकर्माभावान्न संसारसुखं, संसारसुखस्याभावान्न हर्षस्थानानि। न चाशुभपरिणतेरभावादशुभकर्म, अशुभकर्माभावान्न दुःखं, दुःखाभावान्न चाहर्षस्थानानि चेति।

शार्दूलविक्रीडित

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिम्बाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे (षि) प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृते ॥५५॥

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थानिचयो जीवस्य न समस्तीत्युक्तम् –

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

प्रकार शुभ परिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है, शुभकर्म का अभाव होने से शुभ संसार का सुख नहीं है, संसार सुख का अभाव होने से हर्ष के स्थान नहीं हैं। अशुभ परिणति का अभाव होने से अशुभ कर्म नहीं हैं, अशुभ कर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है और दुःख का अभाव होने से अहर्ष-शोक के स्थान नहीं हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि–''हे भव्यजीव! यदि तू इस दुःख रूप संसार से सुख चाहता है तो उस आत्मा में बुद्धि क्यों नहीं लगाता जो कि प्रीति तथा अप्रीति से रहित शाश्वत पद रूप है, जो अन्तर्मुख होकर अभेदरूप से उत्पन्न सुख के द्वारा निर्मित सूर्य के समान प्रकाशमान है, जिसका शरीर - आकार चैतन्यरूपी अमृत से भरा हुआ है और जो केवल बुद्धिमान मनुष्यों के द्वारा ही जाना जा सकता है ॥५५॥''

अब प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग और उदयस्थान आदि का समुदाय जीव के नहीं हैं, यह कहा जाता है–

अन्वयार्थ–(जीवस्स) जीव के **(ठिदिबंधट्ठाणा)** स्थितिबंध के स्थान **(णो)** नहीं हैं **(पयडिट्ठाणा)** प्रकृतिबंध के स्थान **(वा)** और **(पदेसठाणा)** प्रदेशबंध के स्थान नहीं हैं **(अणुभाग-ट्ठाणा)** अनुभागबंध के स्थान **(णो)** नहीं हैं **(वा)** तथा **(उदयठाणा)** उदय के स्थान **(ण)** नहीं है।

गाथार्थ–''वास्तव में उस शुद्धजीवास्तिकाय के न स्थितिबन्ध के स्थान हैं, न प्रकृतिबन्ध के स्थान हैं, न प्रदेशबन्ध के स्थान हैं, न अनुभागबन्ध के स्थान हैं और न कोई उदयस्थान हैं ॥४०॥''

ना जीव में वह रहा स्थिति बन्ध स्थाना, ना जीव में यह रहा अनुभाग स्थाना।
लो बन्ध ही जबकि निश्चय में नहीं है, तो जीव में उदय स्थान कहाँ? नहीं है ॥४०॥

नित्य निरुपराग स्वरूपस्य निरंजन निज परमात्म तत्त्वस्य न खलु जघन्यमध्यमोत्कृष्टद्रव्य-कर्मस्थितिबन्ध स्थानानि ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वा (स्वी) कारः प्रकृतिबन्धः, तस्य स्थानानि न भवन्ति। अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः, अस्य बन्धस्य स्थानानि वा न भवन्ति। शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः। न च द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति।

तथा चोक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः —

मालिनी

''न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥''

तथा हि —

अनुष्टुप्

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥५६॥

नित्य, निरुपराग स्वरूप निरंजन निज परमात्म तत्त्व का जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट रूप द्रव्य कर्म के स्थित बन्ध स्थान नहीं होते हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अपने-अपने योग्य पुद्गलद्रव्य के अपने आकार परिणमना प्रकृतिबन्ध है, शुद्ध आत्मा के इस प्रकृतिबन्ध के स्थान नहीं होते। अशुद्ध अन्तस्तत्त्व तथा कर्मरूपी पुद्गल के प्रदेशों का परस्पर अनुप्रवेश होना प्रदेशबन्ध है, शुद्ध आत्मा के इस प्रदेशबन्ध के स्थान नहीं होते। शुभ-अशुभ कर्मों का निर्जरा के समय सुख-दुःख रूप फल प्रदान करने की शक्ति से युक्त होना अनुभाग बन्ध है, शुद्ध आत्मा में इस अनुभागबन्ध सम्बन्धी स्थानों को भी अवकाश नहीं है। इसी प्रकार द्रव्य और भावकर्म के उदयस्थानों को भी अवकाश नहीं है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि-

''जिस आत्मा में ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव ऊपर-ऊपर तैरते रहने पर भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो पाते और जो सब ओर से प्रकाशमान हैं ऐसे समीचीन स्वभाव के धारक उसी शुद्ध आत्मा का यह सारा संसार निर्मोह होकर अनुभव करे।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि-

''मैं उसी उत्कृष्ट पद का अनुभव करता हूँ, जो कि नित्यशुद्ध और चिदानन्द रूप सम्पत्तियों की खान है तथा विपत्तियों का अस्थान है ॥५६॥''

वसंततिलका

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भुङ्क्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ॥५७॥

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पञ्चमभावस्वरूपाख्यानमेतत् –

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

कर्मणां क्षये भवः क्षायिकभावः। कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः। कर्मणामुदये भवः औदयिकभावः। कर्मणामुपशमे भवः औपशमिकभावः। सकलकर्मोपाधिविनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः। एषु पञ्चसु तावदौपशमिकभावो द्विविधः, क्षायिकभावश्च नवविधः, क्षायोपशमिकभावोऽष्टादशभेदः, औदयिकभाव एकविंशतिभेदः, पारिणामिकभावस्त्रिभेदः।

''जो आत्मरूप से विलक्षण हैं और समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष से उत्पन्न हुए हैं उन फलों को छोड़कर सहज चैतन्य रूप शुद्ध आत्मतत्त्व का उपभोग करता है, वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है, इसमें संशय ही क्या है? ॥५७॥''

यह विभाव रूप स्वभावों के स्वरूप का कथन करते हुए पंचमभाव के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(खइयभावठाणा) क्षायिकभावस्थान **(णो)** नहीं हैं **(खय-उवसम-सहावठाणा वा)** तथा क्षयोपशम भाव के स्थान **(णो)** नहीं है **(ओदइयभाव ठाणा)** औदयिक भाव के स्थान **(णो)** नहीं हैं **(वा)** और **(उवसमणे)** उपशम भाव के **(सहावठाणा)** स्वभाव स्थान भी नहीं हैं।

गाथार्थ–''उस शुद्धजीव के न क्षायिकभाव के स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भाव के स्थान हैं, न औदयिकभाव के स्थान हैं और न औपशमिक भाव के स्थान हैं ॥४१॥''

टीकार्थ–कर्मों के क्षय होने से जो भाव होता है, वह क्षायिक भाव है, कर्मों के क्षयोपशम से होने वाला भाव क्षायोपशमिक भाव है, कर्मों के उदय से होने वाला भाव औदयिकभाव है, कर्मों के उपशम से होने वाला भाव औपशमिक भाव है और समस्त कर्मों की उपाधि से रहित परिणाम मात्र से होने वाला भाव पारिणामिक भाव है। इन पाँच भावों में औपशमिक भाव दो प्रकार का है, क्षायिकभाव नौ प्रकार का है, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकार का है, औदयिकभाव

ना हो क्षयोपशम भाव स्वभाव स्थाना, होते न औपशमिकादि स्वभाव स्थाना।
होते न औदयिक क्षायिक भाव स्थाना, ये जीव के सुन सुनिश्चय से न बाना ॥४१॥

अथौपशमिकभावस्य उपशमसम्यक्त्वम् उपशम-चारित्रम् च। क्षायिकभावस्य क्षायिकसम्यक्त्वं, यथाख्यातचारित्रं, केवलज्ञानं केवलदर्शनं च, अन्तरायकर्मक्षय-समुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति। क्षायोपशमिकभावस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि चत्वारि, कुमति-कुश्रुतविभङ्गभेदादज्ञानानि त्रीणि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदाद्दर्शनानि त्रीणि, [१]कालकरणोपदेशोपशम-प्रायोग्यताभेदाल्लब्धयःपञ्च, वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचारित्रं, संयमासंयमपरिणतिश्चेति। औदयिकभावस्य नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदाद् गतयश्चतस्त्रः, क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः, स्त्रीपुंनपुंसक-भेदाल्लिङ्गानि त्रीणि, सामान्यसंग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम्, अज्ञानं चैकम्, असंयमता चैका, असिद्धत्वं चैकम्, शुक्लपद्मपीतकापोतनीलकृष्णभेदाल्लेश्याः षट् च भवन्ति। पारिणामिकस्य जीवत्व-पारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः इति त्रिभेदाः। अथायं जीवत्व-पारिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः, भव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिक-भावोऽभव्यानामेव भवति। इति पञ्चभावप्रपञ्चः।

पञ्चानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयसारस्वरूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूत-तीर्थकरत्वोपार्जितसकलविमलकेवलावबोधसनाथतीर्थनाथस्य भगवतः सिद्धस्य वा भवति ।

इक्कीस प्रकार का है और पारिणामिकभाव तीन प्रकार का है। औपशमिक भाव के दो भेद यह हैं—उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र। क्षायिकभाव के नौ भेद हैं—क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि के भेद से तीन अज्ञान, चक्षु, अचक्षु और अवधि के भेद से तीन दर्शन, काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता के भेद से पाँच लब्धियाँ[१], वेदक सम्यक्त्व, वेदक चारित्र और संयमासंयम रूप परिणति। औदयिकभाव के इक्कीस भेद ये हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भेद से चार गति, क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार कषाय, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद के भेद से तीन लिंग, एक मिथ्या दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व। शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या ऐसे भेदों के कारण लेश्या छह। पारिणामिक भाव के तीन भेद ये हैं—जीव का जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। इनमें से जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य-अभव्य दोनों जीवों के समान रूप से होता है। भव्यत्व पारिणामिक भाव भव्यों के ही होता है और अभव्यत्व पारिणामिक भाव अभव्यों के ही होता है, इस प्रकार यह पंचभावों का विस्तार है।

इन पाँच भावों के बीच क्षायिकभाव कार्यसमयसार रूप है, यह तीन लोक में क्षोभ के कारणभूत जो तीर्थंकरत्व पर्याय उसमें उपार्जित सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान से सहित, तीर्थंकर देव

---

१. प्रकरण में लब्धियों के भेद आम्नाय के विरुद्ध हैं, अन्यत्र दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये लब्धियाँ कहीं गयी हैं।

औदयिकौप-शमिकक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति, न मुक्तानाम्। पूर्वोक्तभावचतुष्टयमावरण-संयुक्तत्वात्-पूर्वोक्तभाव न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरञ्जननिजपरम पञ्चमभावभावनया पञ्चमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति।

आर्या

अञ्चितपञ्चमगतये पञ्चमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
सञ्चितपञ्चाचाराः किंचनभावप्रपञ्चपरिहीणाः ॥५८॥

मालिनी

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५९॥

इह हि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकार[१]समुदयो न समस्तीत्युक्तम् –

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥४२॥

के अथवा सिद्ध भगवान् के होता है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारी जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं होते। पूर्वोक्त चार भाव आवरण से युक्त होने के कारण मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। किन्तु जो त्रिकाल में निरुपाधि रहता है ऐसे निरंजन निज पंचम पारिणामिक भाव की भावना से ही मुमुक्षुजन, पंचमगति को प्राप्त होते हैं, होवेंगे और हुए हैं।

टीकाकार कहते हैं कि–''पाँच आचारों से सहित और प्रपञ्च से रहित विवेकीजन सर्वोत्तम पंचमगति की प्राप्ति के लिए अनुपम पंचमपारिणामिक भाव का ही स्मरण करते हैं ॥५८॥''

''परमतत्त्व के अभ्यास में जिसका चित्त अत्यन्त निपुण है ऐसे मुनिराज भोगी जीवों के भोग को कारण जो समस्त पुण्यकर्म – उसे भी छोड़े और संसार से छुटकारा पाने के लिए दोनों समयों में सारभूत सारतत्त्व – शुद्धजीवास्तिकाय के स्वरूप का भजन करे, इसमें क्या दोष है? ॥५९॥''

अब यहाँ शुद्धनिश्चय नय से ''शुद्धजीव के समस्त संसार के कारणभूत सम्बन्ध विकारों का समूह नहीं है'' यह कहते हैं–

संसार संक्रमण ना कुल योनियाँ हैं, ना रोग शोक गति जाति विजातियाँ हैं।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशायें, शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥४२॥

१. समये न शमस्ति इति द पुस्तके पाठः

द्रव्यभावकर्मस्वीकाराभावाच्चतसृणां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां परिभ्रमणं न भवति। नित्यशुद्धचिदानन्दरू पस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्मग्रहण-योग्यविभावपरिणतेरभावान्न जातिजरामरणरोगशोकाश्च। चतुर्गतिजीवानां कुलयोनिविकल्प इह नास्ति इत्युच्यते। तद्यथा-पृथ्वी-कायिकजीवानां द्वात्रिंशतिलक्षकोटिकुलानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिक-जीवानां त्रिलक्षकोटिकुलानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानां अष्टोत्तरविंशतिलक्षकोटिकुलानि, द्वीन्द्रियजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानां अष्टलक्षकोटि-कुलानि, चतुरिन्द्रिय-जीवानां नवलक्षकोटिकुलानि, पञ्चेन्द्रियेषु जलचराणां सार्द्धद्वादशलक्षकोटिकुलानि, आकाशचरजीवानां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, चतुष्पदजीवानां दशलक्षकोटि-कुलानि, सरीसृपानां नवलक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पञ्चविंशतिलक्षकोटिकुलानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्षकोटिकुलानि, देवानां षड्विंशतिलक्षकोटिकुलानि। सर्वाणि सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५०००००००००००।

अन्वयार्थ–(जीवस्स) जीव के **(चउगइ-भव-संभमणं)** चार गति रूप संसार का भ्रमण **(य)** और **(जाइ-जरा-मरण-रोग सोगा)** जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक तथा **(कुल-जोणि-जीवमग्गणठाणा)** कुलस्थान, योनिस्थान, जीवस्थान और मार्गणास्थान **(णो संति)** नहीं होते हैं।

गाथार्थ–''शुद्ध जीव का न तो चार गतियों में भ्रमण ही होता है और न जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणा स्थान नहीं होते हैं ॥४२॥''

टीकार्थ–द्रव्यकर्म और भावकर्म का ग्रहण न होने से शुद्ध जीव के नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में परिभ्रमण नहीं होता। नित्यशुद्ध चिदानन्दरूप तथा कारणपरमात्मा स्वरूप शुद्ध जीव के द्रव्य और भावकर्म के ग्रहण में योग्य विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक नहीं है। इसी प्रकार चतुर्गति के जीवों के जो कुल और योनियों का विकल्प होता है, शुद्ध जीव के वह भी नहीं है। खुलासा इस प्रकार है–पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के आठ करोड़ कुल हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रियों में जलचरों के साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं, आकाश में उड़ने वाले जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं, चौपाये जीवों के दश लाख करोड़ कुल हैं, सरीसृपों के नौ लाख करोड़ कुल हैं, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं, मनुष्यों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। इस प्रकार सब मिलाकर एक कोड़ाकोडी संतानवे लाख पचास हजार कुल हैं।[१]

---

१. ग्रन्थों में मनुष्यों के १४ लाख कोटि कुल माने हैं। इस प्रकार १९९॥ लाख कोटि कुल होते हैं, यह मतान्तर है।

पृथ्वीकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, तेजस्कायिक-जीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, नित्यनिगोदिजीवानां सप्तलक्ष-योनि-मुखानि, चतुर्गतिनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वनस्पतिकायिकजीवानां दशलक्षयोनि-मुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, त्रीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्ष-योनि-मुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्षयोनिमुखानि।

स्थूलसूक्ष्मैकेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकभेदसनाथचतुर्दश-जीवस्थानानि॥ गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारविकल्पलक्षणानि मार्गणा-स्थानानि। एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

मालिनी

''सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।

अब योनियों का वर्णन करते हैं—पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, जलकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, अग्निकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, वायुकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, नित्यनिगोदिया जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, चतुर्गति निगोदिया जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के दश लाख योनियाँ हैं, द्वीन्द्रियजीवों के दो लाख योनियाँ हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनियाँ हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनियाँ हैं, देवों के चार लाख योनियाँ हैं, नारकियों के चार लाख योनियाँ हैं, तिर्यंचों के चार लाख योनियाँ है और मनुष्यों के चौदह लाख योनियाँ हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के स्थूल और सूक्ष्म की अपेक्षा दो भेद, पंचेन्द्रियों के संज्ञी और असंज्ञी की अपेक्षा से दो भेद, शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा प्रत्येक के दो-दो भेद इस प्रकार सब मिलाकर चौदह जीवसमास होते हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार के विकल्प से मार्गणास्थान के चौदह भेद हैं। ये सभी कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणा स्थान भगवान् परमात्मा के शुद्धनिश्चयनय से नहीं हैं, ऐसा भगवान् सूत्रकार कुन्दकुन्द स्वामी का अभिप्राय है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि-''चैतन्यशक्ति से अन्य समस्त बाह्य पदार्थों को शीघ्र ही छोड़कर तथा अतिशय प्रकट चैतन्य शक्ति रूप अपने आपका अवगाहन कर, यह

इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्॥''

अनुष्टुप्

''चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥''

तथा हि —

मालिनी

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ॥६०॥

स्रग्धरा

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्न[१]मालर्चितांघ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वान्तविध्वंसदक्षं
एते सन्तो भवाब्धेरपरतटममी यान्ति सच्छीलपोताः ॥६१॥

आत्मा अपने आत्मा में उस शुद्ध आत्मा का साक्षात् अनुभव करे जो कि समस्त संसार में सर्वोपरि है और स्वयं अनन्त है।''

''चैतन्यशक्ति से व्याप्त सर्व का सार यह जीव ही है इससे अतिरिक्त ये सभी भाव पौद्गलिक हैं—पुद्गल के विकार हैं।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—''मैं अखण्डज्ञानरूप हूँ, ऐसी जो निरन्तर भावना करता है, सन्मात्र वह आत्मा संसार के भयंकर विकल्प का त्याग करता है और निर्विकल्प समाधि रूप होता हुआ सत्ता-मात्र रहकर पर-परिणति से दूर अनुपम तथा निष्पाप दशा को प्राप्त करता है ॥६०॥''

''इस प्रकार जिनके चरणभक्ति से नम्रीभूत देवेन्द्र के मुकुट में लगी हुई श्रेष्ठ रत्नों की मालाओं से पूजित हैं, ऐसे तीर्थाधिपति श्री महावीर स्वामी से मिथ्या मतसमूहरूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ, जन्म-मरण को हरने वाले और जरा के नाशक उपदेश को समझकर ये सत्पुरुष समीचीन शील रूपी जहाज का आश्रय कर संसार रूपी समुद्र के दूसरे किनारे को प्राप्त हो जाते हैं—संसार समुद्र से पार हो जाते हैं ॥६१॥''

१. मालाचिताङ्घ्रे इति द पुस्तके।

इह हि शुद्धात्मनः समस्तविभावाभावत्वमुक्तम् –

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥४३॥

मनो दण्डो वचनदण्डः कायदण्डश्चेत्येतेषां योग्य द्रव्य भावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। निश्चयेन परमपदार्थ-व्यतिरिक्तसमस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्द्वः। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः। निश्चयेनौदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावान्निष्कलः। निश्चयेनपरमात्मनः परद्रव्य-निरवलम्बत्वान्निरालम्बः। मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभ भिधानाभ्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीरागः। निश्चयेन निखिलदुरितमलकलङ्कपंकनिर्मुक्तसमर्थसहज परम-वीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः। सहजनिश्चयनयबलेन

अब इस गाथा द्वारा यहाँ शुद्ध आत्मा के समस्त विभावों का अभाव है, यह कहा है–

अन्वयार्थ–(अप्पा) आत्मा **(णिद्दंडो)** दण्ड रहित है **(णिद्दंदो)** द्वंद्व रहित है **(णिम्ममो)** निर्मम है **(णिक्कलो)** शरीर रहित है **(णिरालंबो)** आलंबन रहित है **(णीरागो)** राग रहित है **(णिद्दोसो)** दोष रहित है **(णिम्मूढो)** मूढ़ता रहित है **(णिब्भयो)** भय रहित है।

गाथार्थ–''यह आत्मा दण्डरहित है, द्वन्द्वरहित है, ममता रहित है, शरीररहित है, आलम्बनरहित है, रागरहित है, दोषरहित है, मूढ़ता रहित है और भयरहित है ॥४३॥''

टीकार्थ–निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा के मनोदण्ड–मन की प्रवृत्ति, वचन दण्ड–वचन की प्रवृत्ति और कायदण्ड–काय की प्रवृत्ति, के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते, इसलिए उनका अभाव होने से यह आत्मा निर्दण्ड है–दण्डरहित है। निश्चय से परम पदार्थ के सिवाय अन्य समस्त पदार्थों का समूह भी इसके नहीं पाया जाता इसलिए इसका अभाव होने से निर्द्वन्द्व है। शुभ-अशुभ समस्त प्रकार के मोह, राग और दोष का भी इसके अभाव है, इसलिए निर्मम है–परमपदार्थों में ममता से रहित है, औदयिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँच शरीर के प्रपञ्च का भी इसके अभाव होने से निःकल है–शरीररहित है। निश्चय से परमात्मा परद्रव्य के अवलम्बन से रहित है, अतः यह निरावलम्ब है–स्वात्मपरिणति में अन्य की अपेक्षा से रहित है। मिथ्यादर्शन, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चौदह आभ्यन्तर परिग्रह का अभाव है, इसलिए नीराग है। निश्चयनय से समस्त पाप मलरूपी कलंक पंक के प्रक्षालन में समर्थ है, सहज परम वीतराग सुखरूपी समुद्र में निमग्न है और स्वाभाविक अवस्था के प्रकट हो जाने से सहज ज्ञानरूपी शरीर से पवित्र है

आत्मा मदीय गत दोष अयोग योग, निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोग।
निर्मोह एक नित है सब संग त्यागी, है देह से रहित निर्मम वीतरागी ॥४३॥

सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिज परमतत्त्वपरिच्छेदन-समर्थत्वान्निर्मूढः, अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेनत्रिकाल-त्रिलोक-वर्तिस्थावरजङ्गमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थ-त्वान्निर्मूढश्च। निखिलदुरितवीरवैरिवाहिनीदुःप्रवेशनिजशुद्धान्तस्तत्त्वमहादुर्गनिलयत्वान्निर्भयः। अयमात्मा ह्युपादेयः इति।

तथा चोक्तममृताशीतौ —

मालिनी

''स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगन्धाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूलदिक्चक्रवालम्॥५४॥''

तथा हि —

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।

अतः निर्दोष है। सहज निश्चयनय की अपेक्षा सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजपरमवीतरागसुख आदि अनेक परम गुणों के आधारभूत निज परमतत्त्व के जानने में समर्थ है अतः निर्मूढ़ है अथवा सादि-अनन्त, अमूर्तिक और अतीन्द्रिय स्वभाव को ग्रहण करने वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से तीन काल और तीन लोक में रहने वाले चर-अचर रूप समस्त द्रव्य, गुण एवं पर्यायों को एक साथ जानने में समर्थ ऐसे सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान रूप अवस्था से युक्त होने से भी निर्मूढ़ हैं और समस्त पापरूपी प्रबल शत्रुओं की सेना का प्रवेश होना जिसमें कठिन है, ऐसे शुद्ध अन्तरंग तत्त्व रूपी मजबूत दुर्ग-किले में रहता है इसलिए निर्भय है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उक्त गुण वाला आत्मा ही उपादेय है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

ऐसा ही अमृताशीति में कहा है-

''जो स्वरसमूह, विसर्ग और व्यंजनाक्षरों से रहित है, अहित को नष्ट करने वाला है, नित्य है, संख्यारहित है, रस, अन्धकार, रूप, स्पर्श, गन्ध, जल, वायु, पृथ्वी और अग्नि के सूक्ष्म-स्थूल भेदों से तथा दिशामण्डल से रहित है वह परमात्मा है ॥५४॥''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं-''जो पापरूपी वन को काटने के लिए कुठार है, जिसने खोटे कर्मों का अन्त पा लिया है, जो पर-परिणति से दूर है, जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को

हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥६२॥
जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत् ॥६३॥
अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥६४॥

द्रुतविलम्बित

भुवनभोगपराङ्मुख हे यते
पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज भजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥६५॥

नष्ट कर दिया है, जिसने अनेक विकारों को दूर कर दिया है, जो वास्तविक सुखरूपी समुद्र का जल है और जिसने कामदेव को नष्ट कर दिया है वह समयसार-शुद्धात्मा मेरी शीघ्र रक्षा करे ॥६२॥''

''विद्वानों के द्वारा कहा हुआ वह परमतत्त्व जयवन्त हो जो कि तत्त्वज्ञान में निपुण पद्मप्रभ मुनि के हृदय कमल में सम्यक् प्रकार से स्थित है, विकार रहित है, नाना विकल्पों को नष्ट करने वाला है और कल्पनामात्र से मनोहर सांसारिक सुख-दुःख से मुक्त है ॥६३॥''

''जो आत्मा भव्यत्वपने से प्रेरित है वह संसार से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर इस आत्मा का भजन करे, जो कि अनुपम ज्ञान के अधीन है, स्वाभाविक गुण रूपी मणियों की खान है, तत्त्वों में सारभूत है और निज परिणति से होने वाले सुखरूपी समुद्र में गोता लगा रहा है ॥६४॥''

''जो सांसारिक भोगों से पराङ्मुख है और जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूप में लीन है ऐसे हे मुनि! तू संसार के कारणों को नष्ट करने वाले इसी शुद्धात्मपद का भजन कर। तुझे अन्य अनित्य वस्तुओं की चिन्ता से क्या प्रयोजन? ॥६५॥''

समयसारमनाकुलमच्युतं
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं
समरसेन सदा परिपूजये ॥६६॥

इन्द्रवज्रा

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्ध्वैव यन्मुक्तिमुपैति भव्य -
स्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ॥६७॥

वसंततिलका

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम् ॥६८॥

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् —

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

''मैं उस समयसार की समता रस के द्वारा निरन्तर पूजा करता हूँ, जो कि आकुलता रहित है, अविनाशी है, जन्म-मरण, रोग आदि से रहित है और स्वाभाविक निर्मल सुख रूपी अमृतमय है ॥६६॥''

''इस प्रकार आत्मज्ञानी सूत्रकार श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा पहले कहे हुए जिस विशुद्ध आत्मतत्त्व को जानकर ही भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त होते हैं, मैं उत्तम सुख के अर्थ उस आत्मतत्त्व की भावना करता हूँ ॥६७॥''

''जो परमात्मतत्त्व आदि-अन्तरहित है, निष्पाप है, निर्द्वन्द्व है और अविनाशी तथा अतिशय विशाल ज्ञान से युक्त है, उसी की भावना में तत्पर रहने वाला भव्य जीव इस लोक में सांसारिक दुःखों से दूरवर्ती सिद्धि को प्राप्त होता है ॥६८॥''

संतोष कोष गत शेष अदोष ज्ञानी, निःशल्य शाश्वत दिगम्बर हैं अमानी।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी, आत्मा मदीय नय निश्चय से अकामी ॥४४॥

बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षणत्वान्निर्ग्रन्थः। सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्माभावान्नीरागः। निदानमायामिथ्याशल्यत्रयाभावान्निःशल्यः। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः। शुद्धनिश्चयनयेन निजपरमतत्त्वेऽपि वांछाभावान्निष्कामः। निश्चयनयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तपरद्रव्यपरिणतेरभावान्निष्क्रोधः। निश्चयनयेन सदा परमसमरसी- भावात्मकत्वान्निर्मानः। निश्चयनयेन निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः। उक्तप्रकारविशुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरणनिजकारणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

मन्दाक्रान्ता

''[१]इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।

यहाँ भी शुद्ध जीव का स्वरूप कहा गया है–

अन्वयार्थ–(अप्पा) आत्मा **(णिग्गंथो)** निर्ग्रंथ है **(णीरागो)** नीराग है **(णिस्सल्लो)** निःशल्य है **(सयल-दोस-णिम्मुक्को)** समस्त दोषों से रहित है **(णिक्कामो)** निष्काम है **(णिक्कोहो)** निष्क्रोध है **(णिम्माणो)** निर्मान है **(णिम्मदो)** निर्मद है।

गाथार्थ–''शुद्ध आत्मा परिग्रह रहित है, राग रहित है, शल्यरहित है, समस्त दोषों से निर्मुक्त है, कामरहित है, क्रोधरहित है, मान रहित है और मद रहित है ॥४४॥''

टीकार्थ–बाह्य और आभ्यन्तर – सब मिलाकर चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग होने से आत्मा निर्ग्रन्थ है–परिग्रहरहित है। समस्त मोह तथा राग, द्वेष रूप चेतनकर्म – भावकर्म का अभाव होने से नीराग है। निदान, माया और मिथ्या इन तीन शल्यों का अभाव होने से निःशल्य है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध जीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होता है अतः समस्त दोषों से रहित है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध जीवास्तिकाय के अन्य की बात जाने दो, स्वकीय परम तत्त्व में भी इच्छा का अभाव रहता है अतः कामरहित है। निश्चयनय की अपेक्षा शुभ–अशुभ सभी प्रकार की परद्रव्यों रूप परिणति का अभाव होने से क्रोध रहित है। निश्चयनय की अपेक्षा सदा परम समरसीभाव रूप होने से मानरहित है और निश्चयनय की अपेक्षा समस्त रूप से अन्तर्मुखाकार प्रवृत्ति होने से मदरहित है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त विशुद्ध स्वभाव सिद्ध, नित्य, निरावरण, निजकारणसमयसार का स्वरूप ही उपादेय है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''इस प्रकार परपरिणति का अभाव होने से और कर्त्ताकर्म आदि के भेद का अभाव होने से यह शुद्धात्मतत्त्व चिर सत्य–चैतन्यमात्र में अतिशय

---

१. इत्याछेदात् द० पुस्तके पाठः।

सच्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्तये मे॥''

तथा हि –

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ॥६९॥

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्तीत्युक्तम् –

वण्णरसगंधफासा थीपुसंणउसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥४५॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

निर्मल चैतन्य मात्र तेज में वृद्धि को प्राप्त हुआ यह चेतनत्व जिसकी कि सहज महिमा प्रकट हो रही है, सदा मेरी मुक्ति के लिए हो।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''जिसने ज्ञान रूप ज्योति के द्वारा पापरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है जो नित्य आनन्द आदि के द्वारा जिसकी महिमा अतुल है, सर्वदा अमूर्त है, अपने आपमें स्थिर होने के कारण शुद्धस्वभाव का मूल है, संसार के भय को हरने वाला है और मोक्ष लक्ष्मी का ईश्वर है, उस ईश्वर–शुद्ध आत्मतत्त्व की मैं वन्दना करता हूँ ॥६९॥''

अब निम्न दो गाथाओं द्वारा यहाँ पर स्वभाव के धारक कारणपरमात्मा के समस्त पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी विकार नहीं हैं, यह कहा है–

अन्वयार्थ–(वण्ण-रस-गंध-फासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श **(थी-पुंस-णउंसयादि पज्जाया)** स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें **(संठाणा)** संस्थान **(संहणणा)** संहनन **(सव्वे)** सभी **(जीवस्स)** जीव के **(णो संति)** नहीं होते हैं। **(जीवं)** जीव को **(अरसं)** रस रहित **(अरूवं)** रूप रहित **(अगंधं)** गंध रहित **(अव्वत्तं)** अव्यक्त **(चेदणागुणं)** चेतनागुण सहित **(असद्दं)** अशब्द

संस्थान संहनन ना कुछ ना कलाई, ना वर्ण स्पर्श रस गंध विकार भाई।
ना तीन वेद नहिं भेद अभेद भाता, शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥४५।
आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥४६॥

निश्चयेन वर्णपञ्चकं, रसपञ्चकं, गन्धद्वितयं, स्पर्शाष्टकं, स्त्रीपुंनपुंसकादिविजातीय-विभाव-व्यंजनपर्यायाः कुब्जादिसंस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिसंहननानि (च) न विद्यन्ते। पुद्गलानामेव, न जीवानाम्। संसारावस्थायां संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति, त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति। कार्यपरमात्मनः कारणपरमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति। अत एव कार्यसमयसारस्य वा कारणसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूपा भवति। अतः सहजशुद्धज्ञान - चेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपादेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ —

मन्दाक्रान्ता

''आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं ये
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत्॥''

(अलिंगग्गहणं) अलिंग ग्रहण और **(अणिद्दिट्ठसंठाणं)** अनिर्दिष्ट संस्थान वाला **(जाण)** जानो।

गाथार्थ—''वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसकपर्याय, संस्थान और संहनन ये सब जीव के नहीं हैं।''जीव को रस रहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, चेतनागुण से युक्त, शब्दरहित, इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य और अनिर्दिष्ट आकार वाला जानो ॥४५-४६॥''

टीकार्थ—निश्चय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, स्त्री-पुरुष, नपुंसक आदि विजातीय विभावव्यंजनपर्याय, कुब्जक आदि संस्थान तथा वज्रवृषभनाराच आदि संहनन नहीं हैं। ये सब पुद्गल के ही होते हैं, जीव के नहीं। संसारावस्था में स्थावर नामकर्म से युक्त संसारी जीव के कर्मफल चेतना होती है और त्रसनामकर्म से सहित जीव कार्यसहित (कर्मचेतना सहित) कर्मफलचेतना होती है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्ध ज्ञान चेतना होती है। चूँकि कार्यसमयसार अथवा कारण समयसार के शुद्धज्ञान चेतना स्वभाव रूप अथवा स्वभाव के फलरूप होती है, अतः सहजशुद्धज्ञान चेतना ही जिसका स्वरूप है, ऐसा निज कारणपरमात्मा मुक्तावस्था अथवा संसारावस्था-दोनों में ही एक रूप होने से उपादेय है, ऐसा हे शिष्य! तुम जानो।

ऐसा ही एकत्वसप्तति में कहा है कि-

''आत्मा भिन्न है और आत्मा के अनुगामी शरीर की तरह द्रव्यकर्म भी भिन्न है, उन दोनों की निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न है, काल, क्षेत्र आदि जो भी पदार्थ हैं वे भी भिन्न हैं। इस प्रकार अपने-अपने गुण और कलाओं से सुशोभित ये सभी द्रव्य भिन्न हैं।''

तथा हि –

मालिनी

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम्।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्भव्य जानीहि नित्यम् ॥७०॥

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेषाऽभावोपन्यासोऽयम् –

जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लियजीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचित्ताः सन्तः सहजवैराग्य-परायणाः द्रव्यभावलिङ्गधराः परमगुरुप्रसादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधसकलविमल-केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धाः। ते

इसी प्रकार टीकाकार भी कहते हैं–''बन्ध हो अथवा न हो, समस्त मूर्तिक द्रव्यों का यह विचित्र जाल शुद्धजीव के स्वरूप से रहित है–उससे भिन्न है, जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र वचन विद्वानों से ऐसा ही कहते हैं और यही इस भुवन में प्रकट है। हे भव्य! तू ऐसा नित्य जान ॥७०॥''

शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा संसारी जीव और मुक्त जीवों में विशेषता का अभाव बतलाते हैं–

अन्वयार्थ–(जारिसिया) जिस प्रकार के **(सिद्धप्पा)** सिद्ध भगवान् हैं **(भवमल्लिय जीव)** संसार को प्राप्त हुए जीव भी **(तारिसा)** उसी प्रकार **(होंति)** होते हैं **(जर-मरण-जम्म-मुक्का)** जरा मरण और जन्म से रहित **(अट्ठागुणालंकिया)** और आठ गुणों से अलंकृत **(जेण)** हैं।

गाथार्थ–''जैसे सिद्ध आत्मा है वैसे ही संसारी जीव भी हैं, क्योंकि ये सभी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित हैं और अष्ट गुणों से अलंकृत हैं ॥४७॥''

टीकार्थ–जो कोई अत्यन्त निकट भव्य जीव हैं, वे यद्यपि पहले संसारावस्था में सांसारिक क्लेशजनित दुःखों से युक्त होते हैं, तो भी स्वाभाविक वैराग्य में तत्पर हो द्रव्य और भाव लिङ्ग को धारण करते हैं और परम गुरु के द्वारा प्रसाद स्वरूप प्राप्त परमागम के अभ्यास से सिद्धक्षेत्र को प्राप्तकर–बाधारहित सब पदार्थों को स्पष्ट जानने वाले निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं। वे कार्यसमयसार हैं एवं उनका कार्य शुद्ध है।

वे मुक्त हैं जनन मृत्यु तथा जरा से, सामान्य आठ गुण से लसते सदा से।
जैसे विशुद्ध सब सिद्ध प्रशान्त प्यारे, वैसे विशुद्ध नय से भवधारि सारे ॥४७॥

यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयनयेन। येन कारणेन तादृशास्ते जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्ट-गुणपुष्टितुष्टाश्चेति।

अनुष्टुप्

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ॥७१॥

अयं च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषाभावोपन्यासः —

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥४८॥

निश्चयेन पञ्चशरीरप्रपञ्चाभावादशरीराः, निश्चयेन नरनारकादिपर्यायपरित्याग-स्वीकाराभावाद-

---

आचार्य महाराज कहते हैं कि ये सिद्धात्मा जैसे हैं, संसारी जीव भी शुद्ध निश्चयनय से वैसे ही हैं। इनकी समानता का कारण यह है कि जिस प्रकार सिद्ध जीव जरा-मरण और जन्म से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों की पुष्टि से संतुष्ट होते हैं उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा संसारी जीव भी जरा आदि से रहित तथा सम्यक्त्व आदि गुणों की पुष्टि से संतुष्ट रहते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि-''जिन संसारी और सिद्ध जीवों में पहले से ही शुद्धता विद्यमान है, उनमें भेद हम किस नय से समझें? अथवा उनके भी किसी नय की अपेक्षा किसी भेद को समझते हैं ॥७१॥''

यह कार्यसमयसार और कारणसमयसार में विशेषता के अभाव का निरूपण है-

अन्वयार्थ-(जह) जिस प्रकार **(लोयग्गे)** लोक के अग्रभाग पर **(सिद्धा)** सिद्ध भगवान् **(असरीरा)** शरीर रहित हैं **(अविणासा)** विनाश रहित हैं **(अणिंदिया)** इन्द्रिय रहित हैं **(णिम्मला)** निर्मल हैं **(विसुद्धप्पा)** विशुद्धात्मा हैं **(तह)** उसी प्रकार **(संसिदी)** संसार में **(जीवा)** जीवों को **(णेया)** जानना।

गाथार्थ-''जिस प्रकार लोक के अग्रभाग में रहने वाले सिद्ध महाराज शरीररहित, अविनाशी हैं, इन्द्रियरहित हैं, मलरहित और विशुद्ध आत्मा से युक्त हैं, उसी प्रकार संसार में रहने वाले जीव भी शरीररहित आदि हैं ॥४८॥''

निश्चयनय से पाँच प्रकार के शरीर सम्बन्धी प्रपञ्च का अभाव होने से सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, निश्चयनय से नर-नारकादि पर्यायों के छोड़ने और ग्रहण करने का अभाव होने

शुद्धात्म सिद्ध अविनश्वर है विदेही, लोकाग्र पे स्थित अतीन्द्रिय जान देही।
ये सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे, तू देख शुद्ध नय से मद को हटा रे ॥४८॥

विनाशा: युगपत्परमतत्त्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानज्योतिरपहस्तित-समस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रिया: मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानामभावान्निर्मला:-, द्रव्यभाव-कर्माभावाद् विशुद्धात्मान: यथैव लोकाग्रे भगवन्त: सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति, तथैव संसृतावपि अमी केनचिन्नय-बलेन संसारिजीवा: शुद्धा इति।

शार्दूलविक्रीडित

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यदृशि प्रत्यहम्।
इत्थं य: परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ॥७२॥

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत् –

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥४९॥

से अविनाशी है, एक साथ परमतत्त्व सम्बन्धी सहज दर्शनादि कारणों से शुद्ध और निज स्वरूप के जानने में समर्थ जो स्वाभाविक ज्ञान ज्योति उसके द्वारा समस्त संशय का स्वरूप नष्ट कर देने से अतीन्द्रिय हैं, मल उत्पन्न करने वाले क्षायोपशमिक आदि विभाव भावों का अभाव होने से निर्मल हैं और द्रव्य तथा भावकर्म का अभाव होने से विशुद्धात्मा है। पूर्वोक्त गुण विशिष्ट भगवान् सिद्धपरमेष्ठी जिस प्रकार लोकाग्र में अवस्थित हैं, उसी प्रकार संसार में भी ये जीव निश्चयनय के बल से शुद्ध हैं।

टीकाकार कहते हैं कि–''वह शुद्ध और अशुद्ध की कल्पना निरन्तर मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है, सम्यग्दृष्टि के कारण और कार्य दोनों ही तत्त्व निरन्तर शुद्ध प्रतीत होते हैं, इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि परमागम के इस अनुपम अर्थ को स्वयं जानता है, उसकी सार तथा असार के विचार से बुद्धि अतिशय सुन्दर है, हम लोग उस सम्यग्दृष्टि की वन्दना करते हैं ॥७२॥''

यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों ही नयों की उपादेयता पर प्रकाश डालते हैं–

अन्वयार्थ–(एदे) ये **(सव्वे भावा)** सभी भाव **(ववहारणयं)** व्यवहारनय की **(पडुच्च)** मुख्यता से **(भणिदा दु)** कहे हैं **(सुद्धणया)** शुद्ध नय से **(संसिदी)** संसार में **(सव्वे)** सभी **(जीवा)** जीव **(सिद्धसहावा)** सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

गाथार्थ–''ये सभी भाव व्यवहारनय की अपेक्षा कहे हैं, शुद्धनय की अपेक्षा संसार में रहने

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं, जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे, तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे! ॥४९॥

ये पूर्वं न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावपर्यायाः खलु व्यवहारनयादेशेन विद्यन्ते। संसृतावपि ये विभावभावैश्चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

मालिनी

''व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥''

तथा हि —

स्वागता

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ
संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे
शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ॥७३॥

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम् —

पुव्वुत्त[1]सयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

वाले सभी जीव सिद्धों जैसे स्वभाव वाले हैं ॥४९॥''

टीकार्थ—जिन विभावपर्यायों के विषय में पहले कहा गया है कि शुद्ध जीव के नहीं होती वे सब व्यवहारनय की अपेक्षा होती हैं। और जो जीव औदयिक आदि चार विभाव भावों रूप परिणमन करते हुए संसार में विद्यमान हैं वे सभी शुद्धनय की अपेक्षा तो शुद्धगुणपर्यायों से भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के समान हैं।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''यद्यपि व्यवहारनय पहले ही पहले मार्ग में पद रखने वालों को हस्तावलम्बन रूप है तथापि पर से भिन्न चैतन्य–चमत्कार मात्र परम अर्थ को अन्तरंग में अवलोकन करने वालों को यह कुछ भी नहीं है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा मुक्ति और संसार में विशेषता नहीं है, तत्त्व का विचार करते समय शुद्धतत्त्व के रसिक ऐसा ही कहते हैं ॥७३॥''

लो! पूर्व में कथितभाव विभाव सारे, है हेय द्रव्य परकीय स्वभाव टारे।
आत्मीय द्रव्य वह अन्तर तत्त्व प्यारा, आदेय है शुचि निरंतर साधु-शाला ॥५०॥

---

१. इत्याछेदात् द० पुस्तके पाठः

ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति। कुतः? परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति। सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्व-स्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम्। अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतराग-सुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्व-स्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः –

शार्दूलविक्रीडित

''सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते [1]ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥''

यह हेयतत्त्व को छोड़ने और उपादेयतत्त्व को ग्रहण करने का कथन है–

अन्वयार्थ–(पुव्वुत्तसयलभावा) पूर्वोक्त सकल भाव **(परदव्वं)** पर-द्रव्य **(परसहावमिदि)** और पर-स्वभाव **(हेयं)** हेय हैं, **(सगदव्वं)** स्व द्रव्य **(अंतरतच्चं)** अंतरंग तत्त्व **(अप्पा)** आत्मा **(उवादेयं हवे)** उपादेय है।

गाथार्थ–''पहले कहे हुए सभी भाव परद्रव्य एवं पर स्वभाव रूप हैं, अतः हेय हैं और आत्मा स्वद्रव्य एवं अन्तस्तत्त्व है अतः उपादेय है।''

जो ये विभावगुण और विभाव पर्याय हैं वे पहले व्यवहारनय की अपेक्षा यद्यपि उपादेय कही हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय के बल से हेय ही हैं। क्यों? वे पर स्वभाव होने से। चूँकि वे पर स्वभाव हैं, अतः परद्रव्य हैं। समस्त विभाव गुणों और पर्यायों से रहित जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व का स्वरूप है वह स्वद्रव्य है और इसलिए उपादेय है। सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजपरमवीतराग सुख ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध अन्तस्तत्त्व का आधार सहज परमपारिणामिक भाव - शुद्ध जीवत्व भाव रूप लक्षण से युक्त कारणसमयसार है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''जिनके चित्त की प्रवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है ऐसे मोक्ष के अभिलाषीजन इसी सिद्धान्त की सेवा करें, कि मैं सदा शुद्ध चैतन्य रूप एक परम ज्योति स्वरूप हूँ। भिन्न-भिन्न लक्षणों को धारण करने वाले जो ये नाना प्रकार के भाव समुल्लसित होते हैं। उन रूप मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मेरे लिए परद्रव्य हैं।''

---

१. यत्तु द० पुस्तके पाठः।

तथा हि –

शालिनी

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्‌गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वम् ॥७४॥

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् –

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जिय सद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवयरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

श्रद्धान हो वितथ आशय हीन प्यारा, सम्यक्त्व है वह जिनागम में पुकारा।
संमोह विभ्रम ससंशय हीन सारा, सज्ज्ञान है सुखसुधारस पूर्ण प्याला ॥५१॥

श्रद्धान जो चलमलादि अगाढ़ता से, हो शून्य, दर्शन धरो अविलम्बता से।
आदेय हेय वह क्या? यह बोध होना, सज्ज्ञान है उर धरो बनलो सलोना ॥५२॥

सम्यक्त्व का वह जिनागम मात्र साता, होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता।
पै अंतरंग वह हेतु सुनो सदा ही, होता क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान भर से शिव पंथ होता, ऐसा नहीं चरित भी अनिवार्य होता।
होता सुनिश्चयमयी व्यवहारवाला, चारित्र भी द्विविध है सुन लो सुचारा ॥५४॥

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप, चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप।
पै व्यवहार नय आश्रित ना स्वरूप, चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥५५॥

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''शुद्ध जीवास्तिकाय के सिवाय अन्य सभी पुद्गलद्रव्य मेरे नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी इस प्रकार स्पष्ट कहता है वह अपूर्व सिद्धि को–मोक्ष को प्राप्त होता है ॥७४॥''

यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(विवरीयाभिणिवेस-विवज्जिय-सद्दहणमेव) विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान ही **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है **(संसय-विमोह-विब्भम-विवज्जियं)** संशय, विमोह और विभ्रम से रहित **(सण्णाणं)** सम्यग्ज्ञान **(होदि)** होता है।

(चल-मलिण-मगाढत्त-विवज्जिय-सद्दहणमेव) चल, मलिन और अगाढत्व से रहित श्रद्धान ही **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है **(हेयोपादेय-तच्चाणं)** हेय-उपादेय तत्त्वों का **(अधिगम-भावो)** अधिगम भाव **(णाणं)** ज्ञान है।

(सम्मत्तस्स) सम्यग्दर्शन का **(णिमित्तं)** निमित्त **(जिणसुत्तं)** जिनश्रुत **(तस्स)** और जिनश्रुत के **(जाणया)** जानकार **(पुरिसा)** पुरुष हैं **(दंसणमोहस्स)** दर्शनमोह का **(खयपहुदी)** क्षय उपशम आदि **(अन्तरहेऊ)** अन्तरंग हेतु **(भणिदा)** कहे हैं।

(मोक्खस्स) मोक्ष के लिए **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व और **(सण्णाणं)** सम्यग्ज्ञान **(विज्जदि)** होता है **(चरणं)** चारित्र भी **(होदि)** होता है **(सुण)** उसे सुनो **(तम्हा)** इसलिए **(ववहारणिच्छएण)** व्यवहार और निश्चय से **(दु)** ही **(चरणं)** चारित्र **(पवक्खामि)** कहूँगा।

(ववहारणयचरित्ते) व्यवहार नय सम्बन्धी चारित्र में **(ववहारणयस्स)** व्यवहारनय का **(तवचरणं)** तपश्चरण **(होदि)** होता है **(णिच्छयणयचारित्ते)** निश्चयनय सम्बन्धी चारित्र में **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(तवचरणं)** तपश्चरण **(होदि)** होता है।

गाथार्थ–''विपरीत अभिप्राय से रहित जो श्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है अथवा चल, मलिन और अगाढत्व से रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त्व है, हेय-उपादेय तत्त्वों का जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है। जिनसूत्र और उसके ज्ञायक पुरुष-यथार्थ गुरु सम्यक्त्व के बाह्य निमित्त हैं तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम आदि अन्तरंग निमित्त हैं। जिसके सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान होता है उसके साथ सम्यक् चारित्र भी मोक्ष का मार्ग है अतः व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा सम्यक् चारित्र का निरूपण करूँगा। व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है ॥५१-५५॥''

भेदोपचार रूप रत्नत्रय का वर्णन इस प्रकार है–

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरम्पराहेतुभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमुपजनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव। विपरीते हरिहरहिरण्यगर्भादि-प्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः। संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव। तत्र संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः। [१]विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव। पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रमिति। चलमलिनादिविवर्जितश्रद्धानमेव अभेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः। तत्र जिनप्रणीत-हेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्। अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतराग-सर्वज्ञमुख-कमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षवः तेऽप्युपचारतः पदार्थनिर्णय-हेतुत्वात् अन्तरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति। अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणते र्जीवस्य टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्ति-मात्रान्तर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति। यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचारित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचर-तपश्चरणं भवति। सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः। स्वस्वरूपा-

---

टीकार्थ—''विपरीताभिप्राय से रहित श्रद्धान का होना अथवा परम्परा से मोक्ष के कारणभूत भगवान् पाँच परमेष्ठियों को चल, मलिन तथा अगाढ़ दोषों से रहित निश्चयभक्ति का होना सम्यग्दर्शन है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हरि, हर, ब्रह्मा आदि के द्वारा प्ररूपित विपरीत पदार्थों के समूह में श्रद्धारूप अभिप्राय का अभाव है, वही सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है। जिनेन्द्रदेव यथार्थदेव हैं अथवा महादेव, इस प्रकार चंचल परिणाम होना संशय है। बुद्ध (शाक्यादि) आदि के द्वारा कहे हुए पदार्थों में निश्चय बुद्धि होना, विमोह अथवा विपर्यय है। मलिन रूप परिणाम का होना अज्ञान या विभ्रम है। पाप या क्रियाओं से निवृत्ति रूप परिणाम होना सम्यक् चारित्र है। चल, मलिनादि दोषों से रहित श्रद्धान ही अभेदोपचार रत्नत्रय रूप परिणति है। इस अभेदोपचार रत्नत्रय में जिनेन्द्र प्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए समस्त पदार्थों के प्रतिपादन करने में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान है। जो मुमुक्षुजन हैं वे भी पदार्थ निर्णय के कारण होने से अन्तरंग हेतु कहे गये हैं। इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय आदि को जिसकी अभेदानुपचार रत्नत्रय रूप परिणति हो रही है उस जीव के टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव के धारक निज परमतत्त्व के श्रद्धान से, उसी निज परमतत्त्व के ज्ञानरूप अन्तर्मुखाकार परम बोध से तथा उसी निज परम तत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज चारित्र से अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। जो परम जितेन्द्रिय मुनिराज पहले पापक्रिया की निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में स्थित होता है उसके व्यवहारनय के विषयभूत तपश्चरण होता है। सहज निश्चयनय के विषयभूत परम स्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन करना तप है। स्व स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज निश्चय

---

१. विभ्रमो ह्यज्ञानमेव पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रमिति इति पाठः द पुस्तके नास्ति।

विचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ –

अनुष्टुप्

''दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥''

तथा च –

मालिनी

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ॥७५॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभ मलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धभावाधिकारः तृतीयः श्रुतस्कन्धः॥

चारित्र इसी निश्चयतप के द्वारा होता है।''

ऐसा ही एकत्वसप्तति में कहा है–''शुद्ध पुरुष अर्थात् आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। उसी का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और उसी में स्थिति होना सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार इन तीनों का योग – एक साथ मिलना मोक्ष का कारण है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''यह सहज बोध, यह सहज दर्शन और यह विशुद्ध सहज चारित्र निरन्तर जयवन्त रहे तथा पापरूपी मल के समूह से रहित एवं सहज परम तत्त्व में सम्यक् प्रकार से स्थित इस चेतना की भी जय हो ॥७५॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में शुद्धभावाधिकार नाम का तीसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

४.

व्यवहारचारित्राधिकारः

अथेदानीं व्यवहारचारित्राधिकार उच्यते।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् –

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिताः। अत्र पुनरुक्तिदोषभयान्न प्रतिपादिताः। तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति। अत एव [१]प्रयत्नपरे हिंसापरिणतेरभावादहिंसाव्रतं भवतीति।

अब इस समय व्यवहारचारित्र का अधिकार कहा जाता है।

यह अहिंसाव्रत का कथन है–

अन्वयार्थ–(कुल-जोणि-जीव-मग्गठाणाइसु) कुल योनि जीवसमास और मार्गणास्थानों में **(जीवाणं)** जीवों को **(जाणिऊण)** जानकर **(तस्सारंभ-णियत्तण-परिणामो)** उनके आरंभ से दूर रहने का परिणाम **(पढमवदं)** प्रथम व्रत **(होइ)** होता है।

गाथार्थ–''कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थानों में जीवों को जानकर उनका आरम्भ का त्याग रूप करने का जो परिणाम है, वह प्रथम अहिंसाव्रत है ॥५६॥''

टीकार्थ–कुलों के भेद, योनियों के भेद, जीवसमास तथा मार्गणास्थानों के भेद पहले कहे जा चुके हैं। पुनरुक्ति दोष के भय से यहाँ नहीं कह रहे हैं। वहीं उनके भेदों को जानकर उनकी रक्षा करने की परिणति होती है वही प्रवृत्ति होना अहिंसा है। उन जीवों की मृत्यु हो अथवा न हो, रक्षा के प्रयत्नरूप परिणाम के बिना पाप का परिहार नहीं हो सकता। इसलिए रक्षा के प्रयत्न में तत्पर रहने वाले के ही हिंसारूप परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है, यह स्पष्ट है।

जो जीव स्थान कुल मार्गण-योनियों में, पा जीव बोध, करुणा रखता सबों में।
आरम्भत्याग उनकी करता न हिंसा, वो साधु-भाव व्रत आदिम है अहिंसा ॥५६॥

---

१. प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति द पुस्तके पाठः

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः —

शिखरिणी

''अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतवेषोपधिरतः॥''

तथा हि —

मालिनी

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां
विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥७६॥

[1]सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् —

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥५७॥

ऐसा ही श्रीसमन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि–''संसार में जीवों की अहिंसा ही परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है। वह अहिंसा उस गृहस्थाश्रम में नहीं होती जहाँ कि थोड़ा भी आरम्भ होता है। यही कारण है कि आपने उसकी सिद्धि के लिए परम दयालु होकर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया था और आप विकार उत्पन्न करने वाले परिग्रह में आसक्त नहीं हुए।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''वह जिनधर्म जयवन्त हो जो कि त्रसहिंसा के परिणाम रूपी अन्धकार को नष्ट करने का कारण है, समस्त संसार के जीवसमूह को सुख देने वाला है, स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों तक के नाना प्रकार के वध से दूर रहता है तथा उत्तम सुखरूपी समुद्र का प्रवाह है ॥७६॥''

यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(रागेण व दोसेण व मोहेण व) राग से या द्वेष से या मोह से **(मोस-भास-परिणामं)** असत्य बोलने का परिणाम **(जो)** जो **(साहु)** साधु **(पजहदि)** छोड़ देता है **(तस्सेव)** उसको ही **(सया)** सदा **(विदियवदं)** दूसरा व्रत **(होइ)** होता है।

संमोह रोष रति से नहिं बोलता है, भाषा असत्य मन से बस छोड़ता है।
होता द्वितीय व्रत सत्य महा उसी का, साधू वही स्तवन मैं करता उसी का ॥५७॥

१. अत्र द पुस्तके 'तस्यैव' इत्यधिकपाठः।

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा जायते। तदा (सदा) यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणामं परित्यजति तस्य द्वितीयव्रतं भवति इति।

शालिनी

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनोपन् यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यासत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥७७॥

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् –

गामे वा णयरे वारण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होइ तस्सेव ॥५८॥

वृत्यावृत्तो ग्रामः तस्मिन् वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगरं तस्मिन् वा मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजात-

---

गाथार्थ–''जो साधु राग से, द्वेष से अथवा मोह से मिथ्यावचन रूप परिणाम को सदा के लिए छोड़ता है उसी के दूसरा सत्यव्रत होता है ॥५७॥''

यहाँ झूठ बोलने का परिणाम सत्य का विरोधी है। वह राग, द्वेष अथवा मोह से उत्पन्न होता है जो निकट भव्य साधु सदा के लिए उस परिणाम को छोड़ता है उसके द्वितीय सत्यव्रत होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो उत्कृष्ट जप करता हुआ स्पष्ट सत्य बोलता है वह देवांगनाओं के बहुत भोगों को प्राप्त होता है तथा जगत् में सदा सर्वसज्जनों के द्वारा पूज्य होता है। यथार्थ में सत्य से बढ़कर दूसरा व्रत है ही कौन–सा? ॥७७॥''

यह तृतीयव्रत के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(गामे वा) ग्राम में, **(णयरे वा)** नगर में **(वा अरण्णे)** या वन में **(परमत्थं)** दूसरे की वस्तु को **(पेच्छिऊण)** देखकर **(जो)** जो **(गहणभावं)** ग्रहण भाव को **(मुयदि)** छोड़ देता है **(तस्सेव)** उसको ही **(तिदियवदं)** तीसरा व्रत **(होदि)** होता है।

गाथार्थ–''जो ग्राम में, नगर में अथवा जंगल में दूसरे के द्रव्य को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव छोड़ता है उसी के तीसरा अचौर्यव्रत होता है ॥५८॥''

टीकार्थ–जो वारी से वेष्टित होता है वह ग्राम है, जो चार गोपुरों से शोभायमान होता है वह नगर है, जो मनुष्यों के संचार से शून्य तथा वृक्ष, लता एवं छोटी–छोटी झाड़ियों से भरा

लो! ग्राम में नगर में वन में विहार, साधू करें पर न ले पर द्रव्य भार।
वे स्तेय भाव तक भी मन में न लाते, अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥५८॥

वल्लीगुल्म-प्रभृतिभि: परिपूर्णमरण्यं तस्मिन् वा परेण वा विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्यं दृष्ट्वा स्वीकारपरिणामं य: परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रतं भवतीति।

आर्या

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यङ्गनायाश्च ॥७८॥

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम् –

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

कमनीयकामिनीनां तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांछापरित्यागेन, अथवा स्ववेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेण च ब्रह्मचर्यव्रतं भवति इति।

रहता है वह जंगल है। ग्राम में, नगर में अथवा अरण्य में दूसरे के द्वारा बिना दिये अर्थात् पड़े हुए अथवा भूले हुए परद्रव्य को देखकर उसे स्वीकार करने के भाव को जो छोड़ देता है उसी के तीसरा अचौर्यव्रत होता है।

टीकाकार कहते हैं–''यह अचौर्यव्रत इस संसार में उत्कृष्ट रत्नों के समूह को खींचता है, देवाङ्गनाओं के सुख का मूल कारण है और क्रम-क्रम से मुक्ति रूपी अङ्गना के भी सुख का मूल हेतु है ॥७८॥''

यह चतुर्थव्रत के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(इत्थिरूवं) स्त्रीरूप को **(दट्ठूण)** देखकर **(तासु)** उनमें **(वांछाभावं)** वांछा भाव को **(णिवत्तदे)** नहीं करता है **(अहव)** अथवा **(मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो)** मैथुन संज्ञा से रहित परिणाम **(तुरीयवदं)** चौथा व्रत है।

गाथार्थ–''स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें इच्छाभाव का निवृत्त होना अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित परिणाम होना चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रत है ॥५९॥''

टीकार्थ–सुन्दर स्त्रियों के उन-उन मनोहर अंगों के देखने से जिसके चित्त में कौतूहल उत्पन्न हुआ है ऐसे चित्त की इच्छा के परित्याग से अथवा अपने-अपने वेदोदय नामक नोकषाय के तीव्र उदय से उत्पन्न मैथुनसंज्ञा के त्याग रूप शुभ परिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।

स्त्री रूप देखकर भी मन में न लाता, संभोग भाव उनसे मन को हटाता।
है ब्रह्मचर्य व्रत, मैथुन भाव रीता, किंवा रहा कि जिससे मुनिलिंग जीता ॥५९॥

मालिनी

भवति (भवसि) तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्।
सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ॥७९॥

इह हि पञ्चमव्रतस्वरूपमुक्तम् —

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपावस्थितानां परमसंयमिनां परमजिन-योगीश्वराणां सदैव निश्चयव्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्याग एव परम्परया पञ्चमगतिहेतुभूतं पञ्चमव्रतमिति।

टीकाकार कहते हैं कि–''हे कामिन्! जबकि तू शरीर को ही विभूति मान रहा है और स्त्रियों की विभूति का ही मन में स्मरण कर रहा है तब मेरे वचन तेरे क्या काम आयेंगे? आश्चर्य है कि तुम सहज परमतत्त्व रूप निज स्वरूप को भूलकर किस कारण भारी मोह को प्राप्त हो रहे हो? ॥७९॥''

यहाँ पञ्चमव्रत का स्वरूप कहा है–

अन्वयार्थ–(णिरवेक्ख-भावणा-पुव्वं) निरपेक्ष भावनापूर्वक **(सव्वेसिं)** सभी **(गंथाणं)** परिग्रह का **(चागो)** त्याग **(चारित्तभरं)** चारित्र के भार को **(वहंतस्स)** धारण करने वाले का **(इदि)** इस तरह **(पंचमवदं)** पाँचवाँ व्रत **(भणिदं)** कहा है।

गाथार्थ–''निरपेक्ष भावना पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर देना सो चारित्र के भार को वहन करने वाले मुनिराज का पंचम परिग्रहत्याग महाव्रत है ॥६०॥''

टीकार्थ–जो समस्त परिग्रह के त्याग रूप लक्षण से युक्त निज कारण परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित हैं, उत्कृष्ट संयम के धारक हैं और सदा निश्चय-व्यवहार रूप समीचीन चारित्र के भार को धारण करने वाले हैं ऐसे परम जितेन्द्रिय मुनिराज के जो बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग होता है वही परम्परा से पञ्चमगति–मोक्ष का कारणभूत पञ्चम परिग्रहत्याग नाम का व्रत है।

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता, भोगाभिलाष बिन चारित सार जोता।
है पाँचवां व्रत परिग्रह त्याग पाता, पाता स्वकीय सुख तू दुख क्यों उठाता ॥६०॥

तथा चोक्तं समयसारे –

[१]''मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ॥''

तथा हि –

हरिणी

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम् ॥८०॥

अत्रेर्यासमितिस्वरूपमुक्तम् –

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥

ऐसा ही समयसार में कहा गया है कि–''यदि परिग्रह मेरा होने लग जाय तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ, पर चूँकि मैं ज्ञाता हूँ–जानने-देखने रूप चैतन्य गुण से युक्त हूँ, अतः परिग्रह मेरा नहीं हो सकता।''

ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं–''भव्य जीव संसार से भयभीत होने के कारण परिग्रह सम्बन्धी द्वन्द्व को छोड़े और अनुपम सुख के आवासभूत मोक्ष की प्राप्ति के लिए स्वकीय आत्मा में वह अविचल स्थिति करे जो कि सुखरूप है और अन्य संसारी जीवों को दुर्लभ है। यह बात सज्जन पुरुषों को भारी आश्चर्य की नहीं है, हाँ असज्जन पुरुषों को अवश्य आश्चर्यकर है ॥८०॥''

अब यहाँ ईर्यासमिति का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(पासुग-मग्गेण) प्रासुक मार्ग से **(दिवा)** दिन में **(पुरदो)** सामने **(जुगप्पमाणं हि)** युग प्रमाण भूमि को **(अवलोगंतो)** देखते हुए **(समणो)** जो श्रमण **(गच्छइ)** चलते हैं **(तस्स)** उसके **(इरियासमिदी)** ईर्यासमिति **(हवे)** होती है।

गाथार्थ–''जो श्रमण दिन के समय आगे युगप्रमाण-चार हाथ जमीन देखता हुआ प्रासुक मार्ग से गमन करते हैं उसके ईर्यासमिति होती है ॥६१॥''

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो, जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो।
ले स्वीय कार्य कुछ, पै दिन में चलोगे, ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥६१॥

---

१. यह गाथा मुद्रित प्रति में निम्न प्रकार मुद्रित है, जो कि बिल्कुल अशुद्ध है–

पण्हं परिग्गहो जदि तदोहमज्जीवदंतु गजु। णादेव अहं जम्हाण तम्हा ण परिग्गहो मज्झं॥

यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैकयुगप्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजङ्गम-प्राणिपरिरक्षार्थं यदैव (दिवैव) गच्छति, तस्य खलु परमश्रमणस्येर्यासमितिर्भवति। व्यवहारसमिति-स्वरूपमुक्तम्। इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते। अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मेण स्वात्मानि सम्यग् इता परिणतिः समितिः। अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः। इति निश्चयव्यवहार-समितिभेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमितिमुपयातुभव्य इति।

मन्दाक्रान्ता

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो,
मुक्त्वा सङ्गं भवभयकरं हेमरामात्मकं च।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ॥८१॥

मालिनी

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
[१]सकलसुकृतशस्यानेकसन्तोषदायी ॥८२॥

टीकार्थ—जो परम संयमी मुनि जब गुरुयात्रा अथवा देवयात्रा आदि शुभ प्रयोजन के उद्देश्य से एक युगप्रमाण मार्ग को देखते हुए स्थावर तथा त्रस जीवों की रक्षा के लिए दिन के समय गमन करते हैं उन्हीं महामुनि के ईर्यासमिति होती है। यह व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा है। अब निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है।

अभेदानुपचार रत्नत्रय मार्गरूप परम धर्म के द्वारा अपने आत्मा में जो सम्यक्–समीचीन इता–परिणति है वह समिति कहलाती है। अथवा निज परम तत्त्व में लीन सहजोत्कृष्ट ज्ञानादि परम धर्मों का जो समुदाय है वह समिति कहलाती है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहाररूप समिति के भेदों को जानकर उनमें से जो परमनिश्चय समिति को प्राप्त होता है वही भव्य है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार मुक्ति रूपी स्त्री की सखी स्वरूप उत्कृष्ट समिति को जानकर जो संसार सम्बन्धी भय को उत्पन्न करने वाले सुवर्ण तथा स्त्री आदि चेतन-अचेतन परिग्रह को छोड़ता है और स्वभाव से ही सुशोभित अपूर्व तथा अभेदरूप चैतन्यचमत्कार मात्र में समीचीन परिणति करता है वह सदा ही परम स्वरूप में युक्त है ॥८१॥''

''यह ईर्यासमिति जयवन्त हो जो कि मुनियों के शील का मूलकारण है, त्रस और स्थावरों की हिंसा से दूर है, संसार रूपी दावानल के संताप से उत्पन्न क्लेश को दूर करने के लिए मेघमाला है, सब समितियों में मुख्य है और अनेक जीवों को संतोष देने वाली है ॥८२॥''

---

१. सकलसुकृतरीत्यानीकसंतोषदायि, इति स० पुस्तके पाठः

नियतमिह जनानां जन्म-जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम्।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ॥८३॥

आर्या

[१]निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।
[२]बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ॥८४॥

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम् –

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥

कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगतं चैकपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं

''उन लोगों का जो कि समिति से रहित हैं और कामरूपी रोग से पीड़ित हैं, इस संसाररूपी समुद्र में जन्म होना निश्चित है अतः हे मुनिराज! तुम अपने मन रूप घर के मध्य में उस मुक्तिरूपी सुन्दरस्त्री के स्थान स्वरूप समिति को धारण करो–मन में समिति के स्वरूप का चिन्तन करो ॥८३॥''

''शान्तिमय है रूप जिसका ऐसी समिति को जो धारण करता है वह मुक्ति को प्राप्त करता हुआ मोक्ष रूप होता है और ऐसा मुनि कभी भी अपाय–दुःखों को प्राप्त नहीं होता और न संसार रूपी समुद्र में भ्रमण ही करता है ॥८४॥''

अब यहाँ भाषासमिति का स्वरूप कहा है–

अन्वयार्थ–(पेसुण्ण-हास-कक्कस-परणिंदप्पप्पसंसियं) पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिंदा, आत्मप्रशंसा के **(वयणं)** वचन को **(परिचत्ता)** छोड़कर **(सपरहिदं)** स्वपरहितकरी वचन **(वदंतस्स)** बोलने वाले को **(भासासमिदी)** भाषासमिति होती है।

गाथार्थ–''चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा और आत्मप्रशंसा के वचन को छोड़कर जो श्रमण निज के और पर के हितकारी वचन बोलता है उसके भाषासमिति होती है ॥६२॥''

टीकार्थ–जो वचन किसी चुगलखोर के मुख से निकल कर राजा के कानों तक पहुँचते

साधू करे न परनिंदन आत्म शंसा, बोले न हास्य-कटु कर्कश पूर्ण भाषा।
स्वामी करे न विकथा मितमिष्ट बोले, भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥६२॥

---

१. निश्चयरूपां समितिं लभते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्ष। स० पुस्तके पाठान्तरम्। २. बत इति स० प्रतौ पाठः।

वचः पैशून्यम्। क्वचित् कदाचित् किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्यत्वाकर्ण्य च हास्याभिधान- नोकषाय-समुपजनितम् ईषच्छुभमिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारजनितं हास्यकर्म। कर्णशष्कुली-विवराभ्यर्ण-गोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननं हि कर्कशवचः। परेषां भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा। स्वस्य भूताभूत-गुणस्तुतिरात्मप्रशंसा। एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च परस्य च शुभशुद्धपरिणतिकारणं वचो भाषासमितिरिति।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः —

मालिनी

''समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिव न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः॥''

तथा च —

अनुष्टुप्

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम्।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥८५॥

हैं, एक पुरुष, एक कुटुम्ब अथवा एक ग्राम के बड़े भारी द्वेष के कारण हैं वे पैशुन्य वचन कहलाते हैं। जो कहीं कभी किसी अन्यजन के किसी विकृत रूप को देख अथवा सुनकर हास्य नोकषाय के उदय से उत्पन्न होता है। कुछ-कुछ शुभभावों से मिला होता है अथवा अशुभकर्म के कारण होते हैं ऐसे पुरुष के मुखविकार से उत्पन्न जो कार्य है वह हास्यकर्म है। कर्णछिद्र के विषय होने मात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करने लगते हैं वह कर्कश-कठोर वचन हैं। दूसरों के विद्यमान अथवा अविद्यमान दूषणों के साथ जो वचन हैं वह परनिन्दा कहलाती है और अपने विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों की स्तुति करना आत्मप्रशंसा है। यह सब अप्रशस्त वचन हैं इन्हें छोड़कर अपने और दूसरों की शुभ तथा शुद्ध परिणति के कारणभूत वचन कहना भाषासमिति है।

ऐसा ही श्रीगुणभद्र स्वामी ने कहा है कि-''समस्त पदार्थों को जानने वाले हैं, समस्त पाप कार्यों से दूरवर्ती हैं, जिनका चित्त आत्महित में लग रहा है, जिनका सर्व प्रकार का संचार शान्त हो चुका है, जिनके वचन निज और पर का कल्याण करने वाले हैं और जो सर्व संकल्प-विकल्प से रहित हैं वे जीव मुक्ति के पात्र क्यों न हों? अवश्य हों।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं-''जो परम ब्रह्म स्वरूप अपने आत्मा में लीन है, ऐसे बुद्धिमान मनुष्यों को जब आभ्यन्तर वचनों से भी कुछ प्रयोजन नहीं है तब बाह्य वचनों से तो हो ही क्या सकता है? ॥८५॥''

अत्रैषणासमितिस्वरूपाख्यानमेतत् —

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

[१]स्वपरकृतकारितानुमोदनविरहितं षट्कादिशुद्धमन्नमथवा नवकोटिविशुद्धिम्। तद्यथा—मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तम्। अतिप्रशस्तं मनोहरं, हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसंचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्। प्रतिग्रहोच्चस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वाश्रद्धाशक्त्यलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाऽभिधान सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणो पासकेन दत्तं भक्तं भुञ्जन् (भुञ्जानः) तिष्ठति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति। इति व्यवहारसमितिक्रमः। अथ निश्चयतो जीवस्याशनं नास्ति परमार्थतः। षट्प्रकारमशनं व्यवहारतः संसारिणामेव भवति।

अब यहाँ एषणासमिति के स्वरूप का कथन है—

अन्वयार्थ—(कदकारिदाणुमोदणरहिदं) कृत, कारित, अनुमोदना से रहित **(पासुगं)** प्रासुक **(तह)** तथा **(पसत्थं च)** प्रशस्त और **(परेण)** दूसरे के द्वारा **(दिण्णं)** दिया हुआ**(भत्तं)** भोजन **(समभुत्ती)** समभुक्ति है **(एसणा समिदी)** एषणा समिति है।

गाथार्थ—''कृत, कारित और अनुमोदना से रहित दूसरे के द्वारा दिये हुए प्रासुक एवं प्रशस्त आहार को ग्रहण करने वाले मुनि के एषणासमिति होती है ॥६३॥''

टीकार्थ—निज और पर सम्बन्धी कृत, कारित और अनुमोदना से रहित होने के कारण अन्न षट्कोटि शुद्ध होता है अथवा नवकोटि शुद्ध भी होता है, वह इस प्रकार कि मन, वचन, काय इन तीनों में से प्रत्येक का कृत, कारित एवं अनुमोदना के साथ सम्बन्ध होने से नौ विकल्प होते हैं। जो अन्न उन नौ विकल्पों से संयुक्त नहीं हैं वह नवकोटि शुद्ध कहलाता है। जो अन्न मनोहर है, वह अतिप्रशस्त कहलाता है और जो हरितकाय आदि सूक्ष्मप्राणियों के संचार से शून्य है वह प्रासुक कहलाता है। इस प्रकार जो तपस्वी प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, त्रियोगशुद्धि और भिक्षाशुद्धि नाम की नवधा भक्तियों से सन्मान कर और श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा नामक सात गुणों से युक्त होकर अतिशय शुद्ध योग्य आचार के धारक के द्वारा दिये हुए आहार को ग्रहण करते हैं उनके एषणासमिति होती है। यह व्यवहार की अपेक्षा समिति के क्रम का कथन किया। निश्चय की अपेक्षा शुद्ध जीव के समिति का क्रम है ही नहीं। क्योंकि छह प्रकार का आहार व्यवहारनय से संसारी जीवों के ही होता है।

जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से, हो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से।
सागार अन्न दिन में यदि दान देता, ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥६३॥

१. अत्र षट्चत्वारिंशद्दोषरहितं पाठः द पुस्तके।

तथा चोक्तं – ''णोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो।
उज्जमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥''

अशुद्ध जीवानां विभावधर्मं प्रति व्यवहारनयस्योदाहरणमिदम्। इदानीं निश्चयस्योदाहृतिरुच्यते।

''जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥''

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः – मालिनी

''यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥''

तथा हि – शालिनी

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं
ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।
तप्त्वा जैनं सत्तपः सत्तपस्वी
प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवाराङ्गनां सः ॥८६॥

ऐसा ही समयसार में कहा है–''नोकर्माहार, कर्माहार, लेपाहार, कवलाहार, ओजाहार और मानसिकाहार इस प्रकार आहार के छह भेद जानना चाहिए।''

अशुद्ध जीवों के विभाव धर्म के प्रति व्यवहारनय का यह उदाहरण है। अब निश्चय का उदाहरण कहते हैं–''चूँकि आत्मा स्वभाव से आहार रहित है, अतः वही वास्तविक तप है। इस निराहार स्वभाव की इच्छा करने वाले मुनिजन यद्यपि अन्य निर्दोष आहार को ग्रहण करते हैं तो भी वे तत्त्वदृष्टि से निराहार ही हैं।''

ऐसा ही श्रीगुणभद्रस्वामी ने कहा है–''जो यम और नियम के पालन करने में तत्पर है, जिसका बाह्य और अन्तरात्मा शान्त है, जो समाधि–चित्त की एकाग्र दशा को प्राप्त है, जो समस्त प्राणियों पर दया करता है, हितकारी–परिमित भोजन करने वाला है, जिसने निद्रा को नष्ट कर दिया है और अध्यात्म के सार का–रहस्य का निश्चय कर लिया है वही समस्त क्लेशों के समूह को समूल जला पाता है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''जो तपस्वी भक्तजन के हस्ताग्र के द्वारा दिये हुए भोजन को ग्रहण करता है, पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से युक्त अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए समीचीन तप को तपता है वही अतिशय देदीप्यमान मुक्ति रूपी अंगना को प्राप्त होता है ॥८६॥''

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्तम् —

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयत्तपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥

अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षा-संयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरण निर्मुक्ताः अभ्यन्तरोपकरणनिजपरमतत्त्वप्रकाशदक्षं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण (न) किमप्युपादेय-मस्ति। अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञानकारणं पुस्तकं ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचौपकरणं च कायविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः, संयमोपकरणहेतुः पिच्छः। एतेषां ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भव-प्रयत्न-परिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणसमितिरिति निर्दिष्टेति।

अब यहाँ आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा गया है–

अन्वयार्थ–(पोत्थइ-कमंडलाइं) पुस्तक, कमण्डलु आदि के **(गहण-विसग्गेसु)** ग्रहण त्याग में **(पयत्त-परिणामो)** प्रयत्नपूर्वक परिणाम **(आदावण-णिक्खेवण-समिदी)** आदान-निक्षेपण समिति **(होदि)** होती है **(त्ति)** इस प्रकार **(णिद्दिट्ठा)** कहा है।

गाथार्थ–''श्रमण के पुस्तक तथा कमण्डलु आदि के उठाने तथा रखने में जो प्रयत्न रूप परिणाम होता है, वह आदाननिक्षेपण समिति है ऐसा कहा गया है ॥६४॥''

टीकार्थ–इस गाथा में यह अपहृत संयमी जीवों के संयम तथा ज्ञान आदि के उपकरणों के उठाने-धरने के समय होने वाली समिति के भेद का कथन है। उपेक्षा संयमी मुनियों के चूँकि पुस्तक तथा कमण्डलु आदि उपकरण नहीं होते अतः वे परम जितेन्द्रिय मुनि एकान्त से निःस्पृह होते हैं और इसीलिए बाह्य उपकरणों से भी रहित होते हैं। ऐसे जीवों के आभ्यन्तर उपकरण रूप जो निज परम तत्त्व उसके प्रकाशित करने में समर्थ निरुपाधिस्वरूप सहज-स्वाभाविक ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। परन्तु अपहृत संयमी जीवों के परमागम के अर्थ का बार-बार परिचय कराने में कारणभूत पुस्तक अर्थात् ज्ञानोपकरण, शौचोपकरण अर्थात् शरीर की विशुद्धि का कारणभूत कमण्डलु और संयम का उपकरणभूत मयूरपिच्छ आवश्यक है। अतः इनके उठाने-धरने के समय होने वाले प्रयत्न के द्वारा जो परिणामों में विशुद्धि होती है, वह आदाननिक्षेपण समिति है, ऐसा कहा गया है।

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से, शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती, पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥६४॥

मालिनी

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षान्तिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥८७॥

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम् –

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६५॥

शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावान्न चान्नग्रहणपरिणतिः। व्यवहारतो देहो विद्यते; तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं भवति; आहारग्रहणान्मलमूत्रादयः संभवन्त्येव। अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं परेषामुपरोधेन विरहितम्। तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण कतिचित्

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं–''उत्तम परम जितेन्द्रिय मुनियों के समूह में समस्त समितियों के बीच यही एक आदाननिक्षेपणसमिति सबसे अधिक सुशोभित होती है क्योंकि यही क्षान्ति के साथ मैत्री को जोड़ने वाली है। हे भव्य! तू भी अपने मन रूपी कमल में निरन्तर इस समिति को धारण कर। ऐसा करने से तू मुक्तिरूपी लक्ष्मी का अभीष्ट वर हो जायेगा ॥८७॥''

यह मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल आदि छोड़ने के स्थान की शुद्धि का कथन है –

अन्वयार्थ–(पासुगभूमिपदेसे) प्रासुक भूमि के स्थान पर **(गूढे)** गूढ़ **(परोपरोहेण)** पर के उपरोध से **(रहिए)** रहित **(उच्चारादिच्चागो)** उच्चार आदि का त्याग हैं **(तस्स)** उसी को **(पइट्ठासमिदी)** प्रतिष्ठापन समिति **(हवे)** होती है।

गाथार्थ–''गुप्त और दूसरों के उपरोध-रुकावट से रहित प्रासुक स्थान में जो मल-मूत्रादि का त्याग करता है उसके प्रतिष्ठासमिति होती है ॥६५॥''

टीकार्थ–शुद्धनिश्चयनय से जीव के शरीर का अभाव है अतः आहार ग्रहण रूप परिणति होती ही नहीं है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा शरीर का सद्भाव है अतः शरीर के रहने से आहार का ग्रहण होता है और आहार के ग्रहण होने से मलमूत्रादि भी होते हैं इसलिए संयमी जीवों को मलमूत्र छोड़ने के स्थान का विचार करना आवश्यक है। वह स्थान जन्तुरहित तथा दूसरों की रुकावट से रहित होना चाहिए। पूर्वोक्त स्थान पर शरीरधर्म-मलमूत्रादि का त्याग

एकान्त हो विजन विस्तृत, ना विरोध, सम्यक् जहाँ बन सके त्रस जीव शोध।
ऐसा अचित्त थल पे मल मूत्र त्यागे, व्युत्सर्ग रूप-समिति गह साधु जागे ॥६५॥

पदानि गत्वा ह्युदङ्मुखः स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि संसारकारणं [१]परिणामं मनश्च, संसृतेर्निमित्तं, स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति। नान्येषां स्वैरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति।

मालिनी

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिन्तापराणाम्।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः-
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात् ॥८८॥

हरिणी

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यङ्गनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं पायाः फलं किमपि ध्रुवम् ॥८९॥

करने के बाद उत्तर की ओर कुछ कदम जाकर और उत्तरमुख खड़ा होकर फिर शरीर के हलन-चलन आदि कार्यों को और संसार परिभ्रमण के कारणभूत परिणामों को छोड़कर सावधान हो संसारावस्था के उपादान कारणभूत अपने स्वात्मा का एकाग्रचित्त हो चिन्तन करके तथा शरीर की अपवित्रता का भी बार-बार ध्यान करे। वास्तव में ऐसे मुनि के ही प्रतिष्ठापनसमिति होती है। यति नाम को धारण करने वाले अन्य स्वैराचारी मुनियों के कोई समिति नहीं होती।

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं-

''मोक्ष के राज्य का मूल कारणभूत यह समिति उन्हीं मुनियों के होती है, जो कि जिनधर्म में कुशल हैं और अपने आत्मा के चिन्तन करने में तत्पर रहते हैं। यह समिति उन मुनियों के कभी नहीं होती जिनका कि चित्त कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्रसमुदाय से छिन्न-भिन्न हो रहा है ॥८८॥''

''हे मुनिराज! जो मुक्ति रूपी वनिता को अत्यन्त इष्ट है, जो संसार सम्बन्धी भय रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान हैं और जो तुम्हारी समीचीन दीक्षारूपी कान्ता की सखी है, उन समितियों के समूह को तू अच्छी तरह समझकर आनन्दपूर्वक जिनधर्म प्रणीत तप से प्राप्त होने वाले अविनाशी-अद्भुत फल की रक्षा कर ॥८९॥''

---

१. परिश्रमं च घटमानश्च, इति पाठः द पुस्तके।

द्रुतविलम्बित

समितिसंहतितः फलमुत्तमं
सपदि याति मुनिः परमार्थतः।
न च मनोवचसामपि गोचरः
किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥९०॥

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् —

कालुस्समोहसण्णा - रागद्दोसाइअसुहभावाणं।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम्। मोहो दर्शनचारित्रभेदाद् द्विधा। संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाणां भेदाच्चतुर्धा। रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः। असह्यजनेषु वापि चासह्य-पदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः। इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति।

''यथार्थ में मुनि समितियों के समूह से शीघ्र ही जिस उत्तम फल को प्राप्त होता है वह न मन का विषय होता है और न वचन का, वह मात्र सुखरूपी अमृतमय होता है ॥९०॥''

अन्वयार्थ—(कालुस्स-मोह-सण्णा-रागद्दोसाइ-असुहभावाणं) कलुष्य, मोह, संज्ञा, रागद्वेष आदि अशुभ भावों का **(परिहारो)** परिहार **(ववहारणयेण)** व्यवहार नय से **(मणगुत्ती)** करना मनो-गुप्ति है **(परिकहियं)** कहा जाता है।

गाथार्थ—यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है–''कालुष्य, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभभावों के त्याग को व्यवहारनय की अपेक्षा मनोगुप्ति कहा है ॥६६॥''

टीकार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों के द्वारा क्षोभ को प्राप्त हुआ चित्त कालुष्य है। दर्शन एवं चारित्र के भेद से मोह दो प्रकार का है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के भेद से संज्ञाएँ चार प्रकार की हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से राग दो प्रकार का है। विरुद्ध मनुष्यों में अथवा विरुद्ध पदार्थों के समूह में बैर रूप परिणाम होना द्वेष है, इत्यादि अशुभपरिणामों के कारणों का त्याग करना ही व्यवहारनय की अपेक्षा मनोगुप्ति कहलाती है।

रागादि का अशुभ भाव प्रणालियों का, जो त्याग कालुषमयी दुखनालियों का।
श्री वीर के समय में व्यवहारवाली, मानी गई कि मन गुप्ति यही शिवाली ॥६६॥

वसन्ततिलका

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिन्तासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।
बाह्यान्तरङ्गपरिषङ्गविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ॥९१॥

इह हि वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् –

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितविविधवचनरचना कर्तव्याश्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा। राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपञ्चः। चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम्। अतिप्रवृद्धभोजन-प्रीत्या विचित्रमण्डकावलीखण्डदधि खण्डसिताशनपानप्रशंसाभक्तकथा। आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः। अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः। अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः इति।

टीकाकार कहते हैं कि–''गुप्ति उस मुनि के होती है जिसका कि चित्त सदा परमागम के अर्थ की चिन्ता से सहित होता है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह की आसक्ति से रहित है तथा श्री जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों के स्मरण से सहित है ॥९१॥''

यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(पावहेउस्स) पाप के हेतु **(थीराज-चोर-भत्तकहादि-वयणस्स)** स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा आदि वचन का **(परिहारो)** परिहार करना **(वा)** अथवा **(अलियादि-णियत्तिवयणं)** लोक आदि वचनों को नहीं बोलना **(वयगुत्ती)** वचन गुप्ति है।

गाथार्थ–''पाप के कारणभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चौरकथा और भक्तकथा आदि वचनों का त्याग करना अथवा मिथ्या आदि वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है ॥६७॥''

टीकार्थ–जिनका काम अतिशय बढ़ा हुआ है, ऐसे कामी जनों के द्वारा स्त्रियों के संयोग-वियोग जनित अनेक प्रकार के वचनों की रचना करना और सुनना स्त्रीकथा है। राजाओं को युद्ध के कारणों का प्रकट करना राजकथा है, चौरों के लिए चोरी में प्रवृत्त करने वाली कथाओं का कहना चौरकथा है, अतिशय बुद्धि को प्राप्त हुई भोजन-विषयक प्रीति से अनेक प्रकार के भाण्डे, दधि, शक्कर, मिश्री आदि भोजनपान की प्रशंसा करना भक्तकथा है। इन विकथाओं का भी त्याग करना वचनगुप्ति है अथवा अलीक-मिथ्या वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है।

स्त्री राज की अशन चोरन की कथायें, जो पाप तापमय है जिनसे व्यथाएँ।
है पूर्ण त्याग इनका वच गुप्ति भाति, या पापरूप वच त्याग सुखी बनाती ॥६७॥

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः –

अनुष्टुप्

''एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम्।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानन्दसौख्याकरीं तां
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघातरूपः॥९२॥

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम् –

बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति॥६८॥

अथवा अन्य अप्रशस्त वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है–''इस प्रकार बाह्य वचनों को छोड़कर अन्तर्वचनों को भी विशेष कर छोड़े। यह योग संक्षेप में परमात्मा को प्रकाशित करने के लिए प्रदीप तुल्य है।''

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं–''जो भव्यजीव संसार सम्बन्धी भय करने वाले सब प्रकार के वचनों को छोड़कर स्वभाव से ही सुशोभित चैतन्य चमत्काररूप एक शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है। पापरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला वह भव्य जीव उस उत्कृष्ट मुक्ति को प्राप्त होता है जो कि स्वाभाविक महिमा, समृद्धि और सुख को करने वाली है॥९२॥''

यहाँ कायगुप्ति के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(बंधण-छेदण-मारण-आकुंचण) बंधन, छेदन, मारण, आकुंचन **(तह)** तथा **(पसारणादीया)** प्रसारण आदि **(कायकिरियाणियत्ती)** कायक्रिया से निवृत्ति **(त्ति)** इस तरह **(कायगुत्ति)** कायगुप्ति **(णिद्दिट्ठा)** कही है।

गाथार्थ–''बन्धन, छेदन, मारण, आकुञ्चन तथा प्रसारण आदि काय की समस्त क्रियाओं की निवृत्ति होना कायगुप्ति है॥६८॥''

जो देह की छिदन भेदन की क्रियाएँ, किंवा सभी हलन चालन की क्रियाएँ।
पाती विराम मुनि साधक की दशा में, सो काय गुप्ति, धरते मिटती निशायें॥६८॥

कस्यापि बन्धनस्यान्तरङ्गनिमित्तं कर्म, बहिरङ्गहेतुः कस्यापि कायव्यापारः। छेदनस्याप्यन्तरङ्गकारणं कर्मोदयः, बहिरङ्गकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया। मारणस्याप्यन्तरङ्गहेतुरान्तर्यक्षयकारिकर्म बहिरङ्गकारणं कस्यापि कायविकृतिः। आकुञ्चनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणादिसप्तसमुद्घातः। एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति।

अनुष्टुप्

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ ॥९३॥

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम् –

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती ॥६९॥

सकलमोहरागद्वेषाभावादखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः। हे शिष्य त्वं

टीकार्थ–किसी भी बन्धन का अन्तरंग निमित्त कर्म है और बहिरंग कारण–काय सम्बन्धी चेष्टा–व्यापार है। छेदन का भी अन्तरंग कारण कर्मोदय है और बहिरंग कारण है असावधान मनुष्य की शारीरिक चेष्टा। मारण का भी अन्तरंग कारण अन्तःप्रवृत्ति को क्षय करने वाला कर्म है और बहिरंग कारण किसी के शरीर की विकृति और आकुञ्चन तथा प्रसारण आदि का कारण संकोच–विस्तार आदि जनक सात प्रकार का समुद्घात है। इन काय की समस्त क्रियाओं की निवृत्ति होना कायगुप्ति है।

टीकाकार कहते हैं कि –"जो काय का विकार छोड़कर बार–बार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है संसार में उसी का जन्म सफल है ॥९३॥"

यह निश्चयनय की अपेक्षा मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है –

अन्वयार्थ–(मणस्स) मन की **(जा)** जो **(रायादि-णियत्ती)** राग आदि से निवृत्ति है **(तं)** उसको **(मणोगुत्ती)** मनोगुप्ति **(जाणीहि)** जानो **(अलियादि-णियत्तिं)** अलीक आदि से दूर होना **(वा मोणं वा)** अथवा मौन रहना **(वइगुत्ती)** वचनगुप्ति **(होइ)** है।

गाथार्थ–"मन से जो रागादि भावों की निवृत्ति हो जाती है, उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादि वचनों की निवृत्ति होना अथवा मौन रखना वचनगुप्ति है ॥६९॥"

टीकार्थ–समस्त मोह तथा रागद्वेष का अभाव होने से अखण्ड–अद्वैत–उत्कृष्ट चैतन्यरूप निज आत्मा में जो सम्यक् स्थिति होती है वही अविचल निश्चय मनोगुप्ति है। ऐसा हे शिष्य!

रागादि का शमन जो मन से कराना, गुप्ति रही मनस की प्रभु का बताना।
हिंसामयी वचन त्याग, व मौन बाना, गुप्ती वही वचन की सुन तू निभाना ॥६९॥

तावदचलितां मनोगुप्तिमिति जानीहि। निखिलमृषाभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च। मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावाद् अमूर्तद्रव्यस्येन्द्रियज्ञानागोचरत्वादुभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति। इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्।

शार्दूलविक्रीडित

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानन्तचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ॥९४॥

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् –

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

सब प्रकार के असत्य वचनों का परिहार करना अथवा मौनव्रत धारण करना वचनगुप्ति है। चूँकि मूर्त पदार्थ अचेतन हैं और दृष्टि में नहीं आने वाला अमूर्त पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है, अतः दोनों में ही वचन की प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। इस प्रकार निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया है।

टीकाकार भी कहते हैं–

''जो आत्मध्यान में तत्पर और पापरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है ऐसे श्री योगिराज प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के वचनों के समूह को छोड़कर तथा शुद्ध और अशुद्धनय से परे रहने वाले निर्दोष चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करते हैं और सदा अनन्तचतुष्टय के साथ स्थित रहने वाली जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥९४॥''

अब यह निश्चयशरीरगुप्ति का कथन है

अन्वयार्थ–(कायकिरिया-णियत्ती) काय की क्रियाओं से निवृत्ति **(काउस्सग्गो)** कायोत्सर्ग है **(सरीरगे गुत्ती)** वह भी काय की गुप्ति है **(वा)** अथवा **(हिंसाइ-णियत्ती)** हिंसादि से निवृत्ति **(सरीरगुत्ति)** कायगुप्ति है **(त्ति)** ऐसा **(णिद्दिट्ठा)** कहा है।

गाथार्थ–''शरीर की क्रियाओं के छोड़ने रूप कायोत्सर्ग करना अथवा हिंसा आदि पापों की निवृत्ति होना शरीरगुप्ति है ऐसा कहा गया है ॥७०॥''

हिंसादि की विरति हो तन गुप्ति होती, वाणी कहे जिनप की मन मैल धोती।
पावे विराम सब ही तन की क्रियायें, कायोत्सर्ग अथवा तन गुप्ति पायें ॥७०॥

सर्वेषां जनानां कायेषु बह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव (काय)गुप्तिर्भवति। पञ्चस्थावराणां त्रसानां च हिंसादिनिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा। परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा (वपुषि) विवेकेन (विवेशयेत्) तस्यापरिस्पन्दमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति।

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने –

अनुष्टुप्

''उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गं स उच्यते॥''

तथा हि –

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ॥९५॥

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत् –

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

टीकार्थ–सभी जीवों के अपने-अपने शरीरों में बहुत प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं, उनका दूर होना कायोत्सर्ग कहलाता है। यह कायोत्सर्ग ही निश्चयकायगुप्ति है। अथवा पाँच स्थावर और त्रस इन छह काय के जीवों की हिंसादि का त्याग करना निश्चय कायगुप्ति है। अथवा उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले जो परम जिनेन्द्र योगीश्वर अपने शरीर को अपने ही शरीर में प्रविष्ट कर लेते हैं–व्युपरत क्रिया अवस्था को प्राप्त होते हैं उनकी परिस्पन्द-हलन-चलन रहित मूर्ति ही निश्चयकायगुप्ति है।

ऐसा ही तत्त्वानुशासन में कहा गया है–''शरीर सम्बन्धी क्रियाओं को और संसार के कारणभूत अभिप्राय को छोड़कर अपनी आत्मा में जो निश्चय अवस्थान है वह कायोत्सर्ग कहलाता है॥''

टीकाकार भी कहते हैं–''आत्मा का स्वरूप तो परिस्पंद से रहित है, उसका शरीर व्यवहार से ही परिस्पंद रूप हो सकता है अतः मैं शरीर के विकार को छोड़ता हूँ ॥९५॥''

यह भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(घणघाइकम्मरहिया) जो घनघाति कर्मों से रहित **(केवलणाणाइ-परमगुण सहिया)** केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित **(चोत्तिसअदिसयजुत्ता)** चौंतीस अतिशयों से युक्त **(एरिसा)** ऐसे **(अरिहंता)** अरिहन्त **(होंति)** होते हैं।

है घाति कर्म दल को जिनने नशाया, पाये विशुद्ध गुण केवलज्ञान पाया।
चौंतीस सातिशय मंडित हैं सुहाते, वे ही विशिष्ट 'अरिहन्त' सुधी बताते ॥७१॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि घनरूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि–तैर्विरहितास्तथोक्ताः। प्रागुक्तघातिचतुष्कप्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमल–केवलज्ञान–केवल दर्शनकेवलशक्तिकेवल सुखसहिताश्च। निःस्वेदनिर्मलतादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः। ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति।

मालिनी

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥९६॥
स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पदनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥९७॥

गाथार्थ–''जो सान्द्रीभूत चार घातिया कर्म से रहित हैं, केवलज्ञानादि उत्कृष्ट गुणों से सहित हैं और चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं, ये अरहन्त परमेष्ठी हैं ॥७१॥''

टीकार्थ–आत्मा के गुणों का घात करने वाले कर्म घातिकर्म कहलाते हैं। घन शब्द का अर्थ सान्द्रीभूत होता है। ऐसे सान्द्रीभूत–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय हैं। श्री अरहन्त भगवान् इन घातिया कर्मों से रहित हैं। चार घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त हुए लोक के क्षोभ के कारणभूत केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुख से सहित तथा निःस्वेदत्व –पसीना का ना आना और निर्मलत्व–मलमूत्रादि से रहित होना आदि चौंतीस अतिशय रूप गुणों के निवास हैं। भगवान् अर्हन्त ऐसे होते हैं।

टीकाकार उनका निम्न प्रकार स्तवन करते हैं–''जिनका परमौदारिक शरीर अतिशय प्रसिद्ध है, जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान हैं, जिनका गोत्र पुण्य का भण्डार है, जो पण्डित रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान है, जो मुनिजनरूपी वन को हरा–भरा करने के लिए चैत्रमास के समान है, जो कर्मरूपी सेना को नष्ट करने के लिए शत्रु के समान है और जिनका चरित्र सब जीवों को हितकारी है ऐसे सुसीमा माता के पुत्र श्री पद्मप्रभ भगवान जयवन्त हों ॥९६॥''

''जो कामदेवरूपी हस्ती को नष्ट करने के लिए सिंह के समान हैं, जो पुण्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो समस्त गुणों की समाज हैं, जो सबके लिए कल्पवृक्ष के समान हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्मों के बीज को नष्ट कर दिया है, जिनके चरणों में इन्द्र नम्रीभूत है और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष को नष्ट कर दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव की जय हो ॥९७॥''

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥९८॥
जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकन्दर्पपक्षः।
पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः ॥९९॥
मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१००॥

''जिन्होंने कामदेव के धनुष को जीत लिया है, जो समस्त विद्याओं को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान हैं, जिन्हें सुख का वास्तविक रूप प्राप्त हो चुका है, जो पाप को नष्ट करने के लिए की नाश-यम के समान हैं, जिन्होंने सांसारिक संताप नष्ट कर दिया है, जिनके सुशोभित चरणों में बड़े-बड़े राजा नम्रीभूत हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और विद्वत्समूह जिनके सामने नम्रीभूत हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र जयवन्त रहें ॥९८॥''

''जिन्होंने मोक्ष को जान लिया है, जिनके नेत्र कमलपत्र के समान लम्बे हैं, जिन्होंने पापों के समूह को जीत लिया है, जिन्होंने काम के पक्ष को नष्ट कर दिया है, जिनके चरण युगल में यक्षराज नमस्कार करता है, जो तत्त्वों के विज्ञान में समर्थ हैं, जिन्होंने विद्वानों को भी शिक्षा-प्रदान की है और जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कराने वाली दीक्षा का उपदेश दिया है वे श्रीजिनेन्द्रदेव जयवन्त रहें ॥९९॥''

''जो कामदेवरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए इन्द्र के समान हैं, जिनके शरीर के प्रदेश अतिशय सुन्दर हैं, बड़े-बड़े संयमी जिनके चरणों में नम्रीभूत हैं, जिन्होंने यमराज के पाश को नष्ट कर दिया है, जो पाप रूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान हैं, जिन्होंने अपनी कीर्ति से दिशाओं को भर दिया है और जो जगत् के अधिपति हैं ऐसे कमल के समान सुन्दर प्रभा के धारक श्री पद्मप्रभ भगवान् जयवन्त रहें ॥१००॥''

भगवतां सिद्धिपरम्पराहेतुभूतानां सिद्धपरमेष्ठिनां स्वरूपमत्रोक्तम् –

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारध्यानध्येयविकल्पविरहितनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन नष्टाष्टकर्मबन्धाः। क्षायिकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्च। त्रितत्त्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणाधारत्वात् परमाः। त्रिभुवन-शिखरात्परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिताः। व्यवहारतोऽभूतपूर्वपर्यायप्रच्यवनाभावान्नित्याः। ईदृशास्ते (भवन्ति) भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिन इति।

मालिनी

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।

इस गाथा में जो मोक्ष प्राप्त करने के परम्परा से कारण हैं ऐसे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(णट्ठट्ठकम्मबंधा) जिन्होंने अष्ट कर्मों के बंध का नाश कर दिया है **(परमा)** जो उत्कृष्ट **(अट्ठ-महागुण समण्णिया)** अष्ट महागुणों से समन्वित हैं **(लोयग्गठिदा)** जो लोकाग्र पर स्थित हैं **(णिच्चा)** नित्य हैं **(एरिसा)** ऐसे **(ते सिद्धा) (होंति)** वे सिद्ध होते हैं।

गाथार्थ–''जिन्होंने अष्ट कर्मों के बन्धन को नष्ट कर दिया है, जो अष्ट गुणों से सहित हैं, उत्कृष्ट हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं और नित्य हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ॥७२॥''

टीकार्थ–सम्पूर्ण अन्तर्मुखाकार तथा ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से जिन्होंने अष्टकर्मों के बन्धनों को नष्ट कर दिया है, जो क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि अष्ट गुणों की पुष्टि से संतुष्ट हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तत्त्व के तीन भेद हैं, उनमें से जो विशिष्ट गुणों का आधार होने से परम हैं–परमात्मदशा को प्राप्त हैं, त्रिलोक की शिखर के आगे गमन के कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जो व्यवहारनय की अपेक्षा लोकाग्रभाग में स्थित हैं और अभूतपूर्व सिद्धत्व पर्याय के नाश का अभाव होने से जो नित्य है, ऐसे वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी हैं।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''ज्ञान के पुंजभूत वह सिद्ध परमेष्ठी यद्यपि व्यवहारनय से त्रिलोक की शिखर के अग्रभाग रूपी जो पर्वत उसके चूड़ामणि होते हैं अर्थात् लोकाग्र भाग पर

सामान्य आठ गुण पाकर जो लसे हैं, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं।
दुष्टाष्ट कर्ममय बन्धन को मिटाया, वे सिद्ध, सिद्ध-पद में शिर मैं नवाया ॥७२॥

सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ॥१०१॥

स्रग्धरा

नीत्वास्तान् (तं) सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान्।
सिद्धान् नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान् ॥१०२॥

अनुष्टुप्

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः।
नष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वन्दे पुनः पुनः ॥१०३॥

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम् –

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

निवास करते हैं, परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा सहजोत्कृष्ट चैतन्य चिन्तामणि स्वरूप तथा सदा शुद्ध रहने वाले निज स्वरूप में ही निवास करते हैं ॥१०१॥''

''जो समस्त दोषों को नष्ट कर देह से रहित होते हुए त्रिलोक की शिखर पर विद्यमान हैं, जो अनुपम निर्मल ज्ञान-दर्शन तथा बल से सहित हैं, जिन्होंने अष्ट कर्मों की प्रकृतियों के समूह को नष्ट कर दिया है जो सदा शुद्ध रहते हैं, अन्त रहित हैं, बाधा-रहित हैं, त्रिभुवन के तिलक हैं और मुक्तिरूपी वल्लभा के स्वामी हैं उन समस्त सिद्ध परमेष्ठियों को मैं सिद्धि की साधना के लिए नमस्कार करता हूँ ॥१०२॥''

''जो आत्मस्वरूप में स्थित हैं, शुद्ध हैं, अष्ट गुण रूपी सम्पदा को प्राप्त कर चुके हैं और अष्ट कर्मों के समूह को जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे सिद्ध भगवान् की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ ॥१०३॥''

इस गाथा में आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है–

अन्वयार्थ–(पंचाचारसमग्गा) जो पंचाचार से समग्र **(पंचिंदिय-दंति-दप्प-णिद्दलणा)** पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के दर्प का दलन करने वाले **(धीरा)** धीर **(गुणगंभीरा)** गुणों से गंभीर **(एरिसा)** ऐसे **(आयरिया)** आचार्य **(होंति)** होते हैं।

आचार पंच परिपूर्ण सदा निभाते, पंचेन्द्रिय रूप गज के मद को मिटाते।
गंभीर नीरनिधि से गुणधीर भाते, आचार्य वे समय में युग वीर गाते ॥७३॥

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याभिधानैः पञ्चभिः आचारैः समग्राः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः-श्रोत्राभिधान-पञ्चेन्द्रियमदान्धसिन्धुरदर्पनिर्दलनदक्षाः। निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगम्भीराः। एवं लक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो ह्याचार्या इति।

तथा चोक्तं श्रीवादिराजदेवैः —

शार्दूलविक्रीडित

''पञ्चाचारपरान्नकिञ्चिनपतीन् त्यक्त्वा कषायाश्रमान्
चञ्चज्ज्ञानबलप्रपञ्चित[१]महापञ्चास्तिकायस्थितीन्
स्फाराचञ्चलयोगचञ्चुरधियः सूरीनुदंचद्गुणान्
अञ्चामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचञ्चवः॥''

तथा हि —

हरिणी

सकलकरणग्रामालम्बाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम्।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममन्दिरं
निरुपममिदं वन्द्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥१०४॥

गाथार्थ—''जो पाँच आचारों से सम्पन्न हैं, पञ्च इन्द्रियरूपी हस्तियों के दर्प को खण्डन करने वाले हैं, धीर-वीर हैं और गुणों से गम्भीर हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं ॥७३॥''

टीकार्थ—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पञ्च आचारों से सम्पन्न हैं, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पञ्च इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हस्तियों के गर्व को नष्ट करने में समर्थ हैं और समस्त भयंकर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने से प्राप्त हुए धीर गुणों से गम्भीर हैं ऐसे लक्षणों से सहित भगवान् आचार्य परमेष्ठी हैं।

ऐसा श्री वादिराजदेव ने कहा है–''जो पाँच आचारों के पालन करने में तत्पर हैं, जो कषाय के आवासों को छोड़कर मुनियों के स्वामी हुए हैं, शोभायमान ज्ञान के बल से जिनके उत्सवों का विस्तार हो रहा है, जो पञ्चास्तिकाय की आस्था से सहित हैं, जो प्रकट स्थिर योगाभ्यास में निपुण बुद्धिशाली हैं और जिनके गुण अतिशय शोभायमान हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठियों को हम भक्तिक्रिया में निपुण भक्तजन सांसारिक दुःखों के समूह को नष्ट करने के लिए पूजते हैं।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''जो समस्त इन्द्रिय समुदाय के आलम्बन से रहित हैं, आकुलता से रहित हैं, अपने हित में तत्पर हैं, शुद्ध हैं, मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का कारण है, शम-दम और यम का निवास हैं, मैत्री, दया और दम का मन्दिर है तथा उपमातीत हैं, ऐसा श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का मन सदा वन्दना करने के योग्य है ॥१०४॥''

---

१. मतीन् स० पुस्तके।

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतत् —

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

अविचलिताखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयसंयुक्ता:। जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशूरा:। निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजन निज-परमात्म-तत्त्वभावनोत्पन्नपरमवीतरागसुखामृतपानेनोन्मुखास्त एव निष्कांक्षभावनासनाथा:। एवंभूतलक्षण-लक्षितास्ते जैनानामुपाध्याया इति।

अनुष्टुप्

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्याम्भोजदिवाकरान्।
उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वन्दे पुन: पुन: ॥१०५॥

यह अध्यापक नाम परमगुरु के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(रयणत्तयसंजुत्ता) रत्नत्रय से संयुक्त **(जिण-कहिय-पयत्थ-देसया)** जिनेन्द्र द्वारा कथित पदार्थों के उपदेशक **(सूरा)** शूर **(णिक्कंखभावसहिया)** निष्कांक्षभाव से सहित **(एरिसा)** ऐसे **(उवज्झाया)** उपाध्याय **(होंति)** होते हैं।

गाथार्थ–''जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए पदार्थों का उपदेश देने वाले हैं, शूरवीर हैं और निष्कांक्षभाव से सहित हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं ॥७४॥''

टीकार्थ–स्थिर, अखण्ड और अद्वैत रूप परम चैतन्यतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान तथा तल्लीनतारूप शुद्धनिश्चय नय के विषयभूत स्वाभाविक रत्नत्रय से सम्पन्न श्री जिनेन्द्र-देव के मुखकमल से उपदिष्ट समस्त जीवादि पदार्थों के समूह के उपदेश देने में जो शूरवीर हैं–समर्थ हैं, समस्त परिग्रह का त्याग करना ही जिनका लक्षण है, अतिशय शुद्ध निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न परम वीतराग सुख रूपी अमृत के पान करने से जो संतुष्ट हैं और निष्कांक्ष भावना से जो सहित हैं वही जैनियों के उपाध्याय परमेष्ठी हैं।

टीकाकार भी कहते हैं कि–

''जो रत्नत्रय से युक्त हैं, शुद्ध हैं और भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, उन उपदेश देने वाले उपाध्याय परमेष्ठी की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ ॥१०५॥''

नि:स्वार्थ भाव धरते कुछ भी न लेते, शास्त्रानुसार वह भी उपदेश देते।
सारे परीषह सहे बलवान होते, धारी स्वरत्नत्रय के उवझाय होते ॥७४॥

निरन्तराखण्डितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यानमेतत्-

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति ॥७५॥

ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरञ्जनपरमपञ्चमभावभावनापरिणताः अत एव समस्त-बाह्यव्यापारविप्रमुक्ताः। ज्ञानदर्शनचारित्रप्परमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानुरक्ताः। बाह्याभ्यन्तर-समस्तपरिग्रहाग्रहविनिर्मुक्तत्वान्निर्ग्रन्थाः। सदा निरञ्जननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्श्रद्धान-परिज्ञान-चरण प्रतिपक्षमिथ्यादर्शन-ज्ञानचारित्रा-भावान्निर्मोहाश्च। इत्थंभूतपरमनिर्वाणसीमन्तिनीचारुसीमन्त सीमा-शोभनमसृणधुसृणरजःपुञ्ज-पिञ्जरित-वर्णालङ्कारावलम्बनकौतूहलबुद्धयोऽपि ते सर्वेऽपि साधवः इति।

यह सदा अखण्डित परम तपश्चरण में लीन सर्वसाधु परमेष्ठी के स्वरूप का कथन है -

अन्वयार्थ—(वावारविप्पमुक्का) व्यापार से रहित **(चउव्विहाराहणा-सयारत्ता)** चतुर्विध आराधनाओं में सदा लीन **(णिग्गंथा)** निर्ग्रन्थ **(णिम्मोहा)** निर्मोह **(साहू)** साधु वे **(एदेरिसा)** इस प्रकार **(होंति)** होते हैं।

गाथार्थ—''जो समस्त व्यापार से रहित हैं, चार प्रकार की आराधनाओं में सदा अनुरक्त रहते हैं, परिग्रह रहित हैं और मोहहीन हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी होते हैं ॥७५॥''

टीकार्थ—जो स्वयं महान् हैं, परम संयम के धारक हैं, त्रिकाल में निरावरण रहने वाले निर्मल परम पारिणामिक भाव की भावना में तत्पर रहते हैं, और इसीलिए जो समस्त बाह्य व्यापार से मुक्त हैं—दूर हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा तपश्चरण नामक चार प्रकार की आराधनाओं में जो सदा अनुरक्त रहते हैं, बाह्य-आभ्यन्तर-दोनों ही प्रकार के समस्त परिग्रहों से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ हैं, निरन्तर निर्मल रहने वाले निज कारणसमयसार स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का अभाव होने से जो निर्मोह हैं, इस प्रकार परम निर्वाणवधू की सुन्दर मांग की शोभा बढ़ाने वाली मनोहर केशर के परागपुंज से जिनका रंग पीला हो रहा है ऐसे अनेक अलंकारों के प्राप्त करने में जिनकी बुद्धि कौतूहल युक्त है—जो मोक्ष की इच्छा रख रहे हैं, वे सर्वसाधु परमेष्ठी हैं।

आराधना स्वयम की करते सदा हैं, व्यापार लौकिक तजे जड़ संपदा हैं।
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन शोभत वीतमोही, वे साधु, पूज उनको भवभीत मोही ॥७५॥

आर्या

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषङ्गसम्बन्धात्।
मंक्षु विभंक्ष्व (विमोङ्क्ष्व) निजात्मनि वन्द्यं नस्तन्मनः साधोः ॥१०६॥

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्रसूचनोपन्यासोऽयम् –

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

इत्थंभूतायां प्रागुक्तपञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिनिश्चयव्यवहारत्रिगुप्तिपञ्चपरमेष्ठिध्यानसंयुक्तायां-अति-प्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपञ्चमाधिकारे परमपञ्चम-भावनिरत-पञ्चमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयनयात्मपरमचारित्रं दृष्टव्यं भवतीति।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो संसारी जीवों के सांसारिक सुख से पराङ्मुख हैं, सर्व परिग्रहों के सम्बन्ध से विमुख–दूर हैं और हम सबके द्वारा वन्दना करने योग्य हैं ऐसे साधु परमेष्ठी के मन की शीघ्र ही अपने आत्मा में इच्छा करो–अभिलाषा रखो कि मेरा मन भी साधु परमेष्ठी के मन के समान हो जावे ॥१०६॥''

यह व्यवहारचारित्र के व्याख्यान का उपसंहार और निश्चयचारित्र के कथन करने की सूचना है–

अन्वयार्थ–(एरिसय भावणाए) इस प्रकार की भावना से **(ववहारणयस्स)** व्यवहारनय का **(चारित्तं)** चारित्र **(होदि)** होता है **(णिच्छयणयस्स)** निश्चयनय का **(चरणं)** चारित्र **(एत्तो)** इससे **(उड्ढं)** आगे **(पवक्खामि)** कहूँगा।

गाथार्थ–''इस प्रकार की भावना में व्यवहारनय का चारित्र होता है, निश्चयनय का चारित्र आगे कहेंगे ॥७६॥''

टीकार्थ–इस प्रकार पहले कहे हुए पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, निश्चय-व्यवहार रूप तीन गुप्तियाँ और पञ्चपरमेष्ठियों के ध्यान से युक्त अत्यन्त प्रशस्त शुभभावना में जिस परम चारित्र का वर्णन किया गया है, यह व्यवहारनय के अभिप्राय से किया गया है। परम पारिणामिक भाव में निरत तथा पंचमगति–मोक्ष के कारणभूत शुद्धनिश्चयनयात्मक पंचम यथाख्यातचारित्र का वर्णन आगे कहे जाने वाले पंचमाधिकार में देखना चाहिए।

ऐसी निरन्तर रहे शुभभावनायें, तो भेदरूप वह चारित्र हाथ आये।
चारित्र निश्चय नयाश्रित जो कहाता, आगे यही तुम सुनो उसको सुनाता ॥७६॥

तथा चोक्तं मार्गप्रकाशे –

वंशस्थ

''कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं
भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं
नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः॥''

तथा हि –

आर्या

शीलमपवर्गयोषिदनङ्गसुखस्यापि मूलमाचार्याः।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतुः ॥१०७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्राधिकारः चतुर्थः श्रुतस्कन्धः॥

ऐसा ही मार्गप्रकाश ग्रन्थ में कहा है–

''जिसके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कुठिया के भीतर रखे हुए बीज के समान हैं, अर्थात् जिस प्रकार कुठिया के भीतर रखा हुआ बीज अंकुरोत्पादन की शक्ति से युक्त होने पर भी मिट्टी और पानी के सम्बन्ध के बिना अपना कार्य करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी सम्यक् चारित्र के बिना अपना कार्य कराने में असमर्थ रहते हैं। मैं उसी सुर-असुर और मनुष्यों के द्वारा स्तुति करने योग्य श्रीजिनेन्द्र प्रणीत चारित्र को बार-बार नमस्कार करता हूँ॥''

टीकाकार भी कहते हैं कि–

''आचार्यों ने व्यवहारचारित्र को भी मुक्ति रूपी वधू के आत्मसुख की प्राप्ति का मूल कारण कहा है क्योंकि वह भी परम्परा से मोक्ष का कारण है ही ॥१०७॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में व्यवहारचारित्राधिकार नाम का चतुर्थ स्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

५.

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः

वंशस्थ

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये, स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै।
विनेयपङ्केजविकासभानवे, विराजते माधवसेनसूरये ॥१०८॥

अथसकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरमचारित्रप्रतिपादन-परायण-परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते। तत्रादौ तावत् पंचरत्नस्वरूप मुच्यते तद्यथा—

अथ पञ्चरत्नावतारः। अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति –

[१]णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७८॥

''मेरा उन माधवसेन सूरि के लिए नमस्कार हो जो कि संयम और ज्ञान की मूर्ति हैं, कामरूपी हस्ती का गण्डस्थल भेदन करने वाले हैं एवं शिष्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान शोभायमान हैं ॥१०८॥''

अब सम्पूर्ण व्यवहारचारित्र और उसके फल की प्राप्ति के विरोधी शुद्धनिश्चय स्वरूप परम चारित्र के प्रतिपादन में तत्पर परमार्थ प्रतिक्रमण का अधिकार कहा जाता है। प्रथम ही पञ्चरत्न का वर्णन करते हैं उसमें भी शुद्धात्मा किसी का कर्ता नहीं है, यह पाँच श्लोकों के द्वारा दिखलाते हैं।

तिर्यञ्च भाव नहीं नारक भाव मैं हूँ, ना देव भाव नहीं मानव भाव मैं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७७॥

मैं जीव थान नहीं हैं गुण थान ना हूँ, भाई सुनो विविध मार्गण थान ना हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे न उनका अनुमोद दाता ॥७८॥

---

१. मुद्रित पुस्तक में ७७ और ७८ नम्बर की गाथाओं में क्रमभेद है, परन्तु यहाँ संस्कृत टीका के आधार पर ''णाहं णारय भावो'' गाथा का क्रम पहले रखा गया है। यही गाथा द० पुस्तक में ८१ वीं गाथा के स्थान पर है।

णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८१॥

अन्वयार्थ—(णारयभावो) नारक पर्याय **(तिरियत्थो)** तिर्यंच पर्याय **(मणुवदेवपज्जाओ)** मनुष्य और देव पर्याय **(णाहं)** मैं नहीं हूँ। **(कत्ता)** मैं कर्त्ता **(कारइदा)** कराने वाला **(ण हि)** नहीं हूँ **(कत्तीणं)** करने वालों का **(अणुमंता)** अनुमोदक भी **(णेव)** नहीं हूँ।

(मग्गणठाणो) मार्गणास्थान **(णाहं)** मैं नहीं हूँ (**गुणठाण)** गुणस्थान **(णाहं**) मैं नहीं हूँ **(जीवठाणो ण)** जीवस्थान **(ण)** नहीं हूँ **(कत्ता)** मैं कर्त्ता, **(कारइदा)** कराने वाला **(ण हि)** नहीं हूँ, **(कत्तीणं)** करने वालों का **(अणुमंता)** अनुमोदक भी **(णेव)** नहीं हूँ।

(बालो) बाल **(बुड्ढो)** वृद्ध **(णाहं)** मैं नहीं हूँ **(चेव)** और **(तरूणो)** तरुण **(ण)** नहीं हूँ **(तेसिं)** उनका **(कारणं ण)** कारण नहीं हूँ **(कत्ता)** कर्त्ता **(कारइदा)** कराने वाला **(ण हि)** नहीं हूँ **(कत्तीणं)** करने वालों को **(अणुमंता)** अनुमन्ता **(णेव)** नहीं हूँ।

(रागो) राग **(णाहं)** मैं नहीं हूँ **(दोसो)** दोष **(ण चेव)** नहीं हूँ **(मोहो)** मोह **(ण)** नहीं हूँ **(तेसिं)** उनका **(कारणं ण)** कारण नहीं हूँ **(कत्ता)** कर्त्ता **(कारइदा)** कराने वाला **(ण हि)** नहीं हूँ **(कत्तीणं)** करने वालों का **(अणुमंता)** अनुमन्ता **(णेव)** नहीं हूँ।

(कोहो) क्रोध **(णाहं)** मैं नहीं हूँ **(माणो)** मान नहीं हूँ **(माया) (ण चेव)** नहीं हूँ **(लोहो)** लोभ **(अहं ण होमि)** मैं नहीं हूँ **(कत्ता)** कर्त्ता **(कारइदा)** करने वाला **(ण हि)** नहीं हूँ **(कत्तीणं)** करने वालों का **(अणुमंता)** अनुमन्ता **(णेव)** नहीं हूँ।

मैं हूँ नहीं युवक बालक भी नहीं हूँ, हूँ वृद्ध भी न उन कारण भी नहीं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७९॥

मैं रोष कोष नहिं राग कभी नहीं हूँ, मोही नहीं व उन कारण भी नहीं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८०॥

मैं क्रोध रूप नहिं हूँ मद मान ना हूँ, माया न लोभ उन कारणवान ना हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८१॥

बह्वारम्भपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि। संसारिणो जीवस्य बह्वारम्भपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्ध-जीवास्ति-कायस्य, तिर्यक्पर्याय[१]प्रायोग्यमायामिश्राशुभकर्माभावात्सदा तिर्यक्पर्यायकर्तृत्व-विहीनोऽहम्। मनुष्यनामकर्म-प्रायोग्यद्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति। निश्चयेन देवनामधेयाधारदेवपर्याय-योग्यसुरससुगन्धशुभात्मकपुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावान्न मे देवपर्यायः इति।

चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चय-नयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते।

मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थूल-कृश-विविधभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति।

गाथार्थ—''न मेरे नरक भाव है, न तिर्यंच अवस्था है, न मनुष्य और देव पर्याय है, न मैं इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वालों का अनुमोदक हूँ।'' ''मैं न मार्गणास्थान हूँ, न गुणस्थान हूँ, न जीवसमास हूँ, न इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।'' ''मैं न बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न जवान हूँ, न उनका कारण हूँ, न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।'' ''मैं न राग हूँ, न द्वेष हूँ, न मोह हूँ, न उनका कारण हूँ, न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।'' ''मैं न क्रोध हूँ, न मान हूँ, न माया हूँ, न लोभ हूँ, न इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।''

टीकार्थ—बहु आरम्भ और परिग्रह का अभाव होने से मैं नारकी नहीं हूँ, संसारी जीव के बहु आरम्भ और बहु परिग्रह का सद्भाव व्यवहारनय की अपेक्षा अवश्य होता है अतः नारकादि नरकायु के कारणभूत सब प्रकार के मोह, राग और द्वेष उसी के होते हैं, शुद्ध निश्चय के बल से शुद्ध जीवास्तिकाय रूप रहने वाले मेरे नहीं हैं, तिर्यंच पर्याय के योग्य माया मिश्रित अशुभकर्म का अभाव होने से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मैं तिर्यंच पर्याय का कर्त्ता नहीं हूँ। मनुष्य आयु के योग्य द्रव्य-भावकर्म का अभाव होने से मेरे मनुष्य पर्याय नहीं है और देव, इस नाम के आधारभूत देव पर्याय के योग्य उत्तम रस तथा उत्तम गन्ध रूप शुभ पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने से देव पर्याय भी मेरी नहीं है।

चौदह प्रकार के मार्गणास्थान, उतने ही जीवसमास और उतने ही गुणस्थान भी शुद्धनिश्चयनय से मेरे नहीं हैं, क्योंकि मैं परमभाव स्वभाव हूँ – शुद्धजीवत्व ही मेरा स्वभाव है।

मनुष्य तथा तिर्यंच पर्याय के शरीरसमूह में अवस्थाकृत विकार से उत्पन्न होने वाली बाल्य, यौवन, प्रौढ़ता तथा वार्धक्य आदि अवस्थाएँ और स्थूलता एवं कृशता आदि के अनेक

सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन मे सकलमोह-रागद्वेषा न विद्यन्ते।

सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्यसहज-दृक्स्फूर्ति-परिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे निखिलसंसृतिक्लेशहेतवः क्रोधमानमाया-लोभाः स्युः।

अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमन्ता वा कर्तॄणां पुद्गलकर्मणामिति। नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये। नाहं तिर्यक्पर्यायं कुर्वे, सहज-चिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये। नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये। नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये। नाहं चतुर्दशमार्गणास्थान भेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये।

नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये। नाहमेकेन्द्रियादि-जीवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये।

भेद भी शुद्ध निश्चयनय के अभिप्राय से मेरे नहीं हैं।

सत्ता ज्ञान और परमचैतन्यरूप सुख के अनुभव में लीन ऐसे विशिष्ट आत्म-तत्त्व को ग्रहण करने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा मेरे समस्त मोह, राग और द्वेष भी नहीं हैं। चूँकि मैं सहज निश्चयनय की अपेक्षा सदा निरावरण हूँ, शुद्धज्ञान रूप हूँ, सहज चैतन्यशक्तिमय हूँ, सहजदर्शन के विकास से परिपूर्ण हूँ और स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज यथाख्यातचारित्र से पवित्र हूँ, अतः समस्त सांसारिक क्लेशों के कारण स्वरूप क्रोध, मान, माया एवं लोभ मेरे नहीं हैं।

मैं निश्चयनय की अपेक्षा अनेक विकल्पों से युक्त इन विभावपर्यायों का न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले पौद्गलिक कर्मों की अनुमोदना करने वाला हूँ। मैं नरकपर्याय को नहीं करता, किन्तु सहजचैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं तिर्यंच पर्याय को नहीं करता, किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं मनुष्य पर्याय को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं देवपर्याय को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं चौदह मार्गणास्थान के भेदों को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं नानाभेद रूप मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों के भेद को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं नाना रूप एकेन्द्रिय आदि जीवस्थानों-जीवसमासों के भेद को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ।

नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये।
नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये।
नाहं भावकर्मात्मककषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये।
इति पञ्चरत्नाञ्चितोपन्यासप्रपञ्चनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति।

वसंततिलका

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्त[१]चित्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पञ्चरत्नात् ॥१०९॥

अत्र भेदविज्ञानात् (माध्यस्थं) क्रमेण च (तेन) निश्चयचारित्रं भवतीत्युक्तम् —

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

मैं शरीर सम्बन्धी नाना प्रकार की बालक आदि अवस्थाओं के भेद नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं रागादि भेद वाले नाना प्रकार के भावकर्मों के भेद नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं भावकर्मरूप कषायचतुष्टय को नहीं करता किन्तु सहज चैतन्य के विलास स्वरूप एक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। इस प्रकार पाँच रत्न रूप पाँच गाथाओं में जिनका विस्तार कहा गया है ऐसी समस्त विभावपर्यायों का त्याग करना चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार इन पाँच रत्न रूपी पाँच गाथाओं के विवेचन से जो भव्य समस्त विषयों के ग्रहण की चिन्ता को छोड़ता है और निज द्रव्य के शुद्ध पर्याय तथा गुणों के चिन्तन में अपना चित्त लगाता है वह आत्मद्रव्य से भिन्न समस्त विभाव को छोड़कर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥१०९॥''

यहाँ भेदविज्ञान से माध्यस्थ्यभाव और उससे क्रमशः निश्चयचारित्र होता है यह कहते हैं –

अन्वयार्थ–(एरिसभेदब्भासे) इस प्रकार के भेद का अभ्यास होने पर जीव **(मज्झत्थो)** मध्यस्थ **(होदि)** होता है **(तेण)** उससे **(चारित्तं)** चारित्र होता है **(तं)** उस चारित्र को **(दिढकरणणिमित्तं)** दृढ़ करने के लिए निमित्त **(पडिक्कमणादी)** प्रतिक्रमण आदि हैं **(पवक्खामि)** उनको कहूँगा।

यों भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान, मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने, होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ॥८२॥

१. चिन्तः इत्यपि पाठः

पूर्वोक्तपञ्चरत्नाञ्चितार्थपरिज्ञानेन पञ्चमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां स्तवनं (वास्तवं) चारित्रं भवति। तस्य चारित्राविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चयक्रिया निगद्यते। अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम्। आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यत इति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

अनुष्टुप्

''भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥''

तथा हि —

मालिनी

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहःकलङ्कः
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥११०॥

गाथार्थ—''इस प्रकार के भेदविज्ञान का अभ्यास होने पर यह जीव मध्यस्थ हो जाता है और उस मध्यस्थ भाव से इसके चारित्र उत्पन्न होता है अतः उसकी स्थिरता के निमित्त यहाँ प्रतिक्रमण आदि को कहूँगा ॥८२॥''

टीकार्थ—पूर्वोक्त कही हुई पाँच रत्न रूप पाँच गाथाओं में प्रतिपादित अर्थ के परिज्ञान से पंचमगति–मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत जीव और कर्मरूप पुद्गल में भेदविज्ञान का अभ्यास हो जाता है। जो मुमुक्षुजन उसी भेदविज्ञान पर निरन्तर अवलम्बित हैं–उसका निरन्तर अभ्यास करते हैं वे उसके प्रभाव से मध्यस्थ हो जाते हैं, और उसी निमित्त से उन परम संयमी जीवों के वास्तविक चारित्र प्रकट होता है। उस चारित्रगुण की अविचल स्थिति रह सके इसलिए यहाँ कुछ प्रतिक्रमण आदि निश्चित क्रियाओं का वर्णन किया जाता है। भूतकाल के दोषों का परिहार करने के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। सूत्र में आये हुए आदि शब्द से प्रत्याख्यानादि का ग्रहण करना चाहिए। उनका भी यहाँ निरूपण किया जायेगा।

जैसा कि अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''आज तक जितने सिद्ध हो सके हैं, वे सब भेदविज्ञान के द्वारा ही हुए हैं और जो अभी तक संसार में बद्ध हैं वे सब इस भेदज्ञान के अभाव में बंध को प्राप्त हैं।''

इसी प्रकार टीकाकार कहते हैं–''इस प्रकार जिस मुनिनाथ के उत्कृष्ट भेदविज्ञान हो जाता है वह स्वयं उपयोग से–मोह से मुक्त होकर सुशोभित होने लगते हैं। उस समय शान्तिरूपी समुद्र के प्रवाह से उनके पापरूपी कलंक धुल जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार समयसार का ही जो कोई अनुपम भेद है, प्रभाव है अथवा रहस्य है ॥११०॥''

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूतसूत्रसमुदयनिरासोऽयम्–

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥८३॥

यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य राकानिशीथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषमवचनरचनां मुक्त्वा संसारलतामूलकन्दानां निखिलमोहरागद्वेषभावानां निरावरणं कृत्वाऽखण्डानन्दमयं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानाव-बोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलवाग्विषयव्यापारविरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः –

मालिनी

''अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्यमेकः।

प्रतिदिन मुमुक्षुजनों के द्वारा पढ़ा जाने वाला जो वाचनिक प्रतिक्रमण नाम का शास्त्र समस्त पापों के क्षय का कारण माना जाता है, उसका यह निरूपण है–

अन्वयार्थ–(वयण-रयणं) वचन रचना को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(रागादीभाव-वारणं)** रागादि भावों को भी दूर **(किच्चा)** करके **(जो)** जो **(अप्पाणं)** आत्मा का **(झायदि)** ध्यान करता है **(तस्स)** उसको **(त्ति)** इस तरह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(दु होदि)** होता है।

गाथार्थ–''वचन रचना–वाचनिक प्रतिक्रमण को छोड़कर और रागादि भावों का त्याग कर जो आत्मा का ध्यान करता है सच्चा प्रतिक्रमण उसी के होता है ॥८३॥''

टीकार्थ–परम तपश्चरण के कारणभूत स्वाभाविक वैराग्य रूपी अमृत के समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्णिमा के चन्द्रमा की समानता रखने वाला जो साधु अप्रशस्त वचनों का त्यागी होने पर भी प्रतिक्रमण सूत्र विषयक विषम वचनों की रचना को छोड़ता है और संसार रूपी बेल के मूलकन्दभूत समस्त मोह, राग, द्वेष आदि भावों का निवारण करके अखण्ड आनन्दमय निज कारण परमात्मा का ध्यान करता है, उसी के निश्चय से परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुष्ठान के सम्मुख और सकल वचन विषयक व्यापार से रहित निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''बहुत से खोटे विकल्प रूप अधिक वचनों से लाभ नहीं है? यहाँ परमार्थभूत बात यह है कि निरन्तर एक शुद्धात्मा का चिन्तन किया जाये,

---

रागादि भाव मल को मन से हटाता, हो निर्विकल्प मुनि जो निज ध्यान ध्याता।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता, सच्चा प्रतिक्रमण-लाभ वही उठाता ॥८३॥

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति॥''

तथा हि –

आर्या

अतितीव्र (यत्तीव्र) मोहसंभवपूर्वार्जितं तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ॥१११॥

अत्रात्माराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम्–

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः निरन्तराभिमुखतया ह्यतृद्यन् (ह्यत्रुट्यत्) परिणामसंतत्या साक्षात् स्वभाव-स्थितावात्माराधनायां वर्तते अयं निरपराधः। विगतात्माराधनः सापराधः, अत एव निरवशेषेण विराधनं

क्योंकि आत्मीय आनन्द के समूह से परिपूर्ण ज्ञान का जहाँ विकास हो जाता है ऐसे समयसार-शुद्ध आत्मस्वरूप से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है॥''

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं–''तीव्र मोह के उदय से जो पहले कर्म का संचय किया था उसका प्रतिक्रमण कर सम्यग्ज्ञान रूप अपनी आत्मा में ही मैं निरन्तर वर्तन करता हूँ-उसी में लीन रहता हूँ॥१११॥''

आत्मा की आराधना में वर्तमान जीव के ही प्रतिक्रमण होता है यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(विराहणं) विराधना को **(विसेसेण)** विशेष रूप से **(मोत्तूण)** छोड़कर **(आराहणाइ)** आराधना में **(वट्टइ)** जो रहता है **(सो)** वह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है **(जम्हा)** क्योंकि **(पडिकमणमओ)** वह प्रतिक्रमणमय **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो जीव विराधना को छोड़कर विशेष रूप से अपनी आराधना में वर्तन करता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है, यहाँ जीव को प्रतिक्रमण करने का अभिप्राय यह है कि जीव प्रतिक्रमण के काल में स्वयं प्रतिक्रमणमय हो जाता है–उससे तन्मय हो जाता है ॥८४॥''

टीकार्थ–जो परमतत्त्व ज्ञानी जीव निरन्तर आत्मा के सन्मुख रहने से नहीं टूटने वाले - अखण्ड परिणाम की सन्तति द्वारा स्वभाव में अवस्थान रूप आत्मा की आराधना में वर्तन करता है वह निरपराध है और जो आत्मा की आराधना से रहित है वह सापराध है। इसीलिए सम्पूर्ण

आराधनामय सुधारस नित्य पीते, छोड़े विराधन, सभी अघ से सुरीते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु यों बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८४॥

मुक्त्वा। विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधन:। यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणस्य स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपमुच्यते।

तथा चोक्तं समयसारे –

''संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो॥''

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च –

मालिनी

''अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराध:
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराध: साधु शुद्धात्मसेवी॥''

तथा हि –

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्त: सापराध: स्मृत: स:।
अनवरतमखण्डाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराध: कर्मसंन्यासदक्ष: ॥११२॥

रूप से विराधना को छोड़कर ही आत्माराधना की प्रेरणा की है। जिस परिणाम की राध- सिद्धि वि-विगत नष्ट हो चुकी है उसे विराधन कहते हैं, चूँकि प्रतिक्रमण के काल में वह जीव प्रतिक्रमणमय है- तद्रूप हो जाता है अत: वह जीव ही प्रतिक्रमण स्वरूप कहा जाता है।

जैसा कि समयसार में कहा गया है–''संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित ये सब एकार्थ वाचक शब्द हैं। जो आत्मा राध अर्थात् सिद्धि से रहित है वह विराधनारहित माना गया है।''

समयसार की व्याख्या में भी कहा है–''सापराध जीव ही निरन्तर अनन्त कर्मों से बद्ध होता है और निरपराध जीव कभी बन्धन का स्पर्श भी नहीं करता। जो अशुद्ध आत्मा की आराधना करने वाला है वह सापराध है और जो शुद्ध आत्मा की सेवा करने वाला है वह निरपराध है।''

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं कि–''परमात्मा के ध्यान की सम्भावना से रहित जीव सापराध माना गया है और वह इसी संसार में निवास करता है, परन्तु जो निरन्तर अखण्ड एक चैतन्य भाव से युक्त रहता है वह निरपराध होता है और कर्मों के नष्ट करने में समर्थ होता है ॥११२॥''

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवतीत्युक्तम् –

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

नियतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः सर्वोऽप्यनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्वभावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमणमयो भवतीति।

मालिनी

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानन्दभक्त्या
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः ॥११३॥

अब यहाँ ''निश्चयचारित्र रूप और परमोपेक्षा रूप संयम को धारण करने वाला जीव ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है'', ऐसा कहते हैं–

अन्वयार्थ–(अणायारं) अनाचार को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(जो)** जो **(दु)** ही **(आयारे)** आचार में **(थिरभावं)** स्थिरभाव **(कुणदि)** करता है **(सो)** वह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है **(जम्हा)** क्योंकि **(पडिकमणमओ)** वह प्रतिक्रमणमय **(हवे)** है।

गाथार्थ–''जो जीव अनाचार को छोड़कर आचार में स्थिरता करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि इसका कारण यह है कि वह उस काल में प्रतिक्रमणमय हो जाता है ॥८५॥''

टीकार्थ–निश्चय से परमोपेक्षारूप संयम को धारण करने वाले जीव के शुद्ध आत्मा की आराधना के अतिरिक्त अन्य जितना भी व्यापार है वह सब नियम से अनाचार है इसलिए सहज वैराग्य भावना रूप परिणमन करता हुआ स्वाभाविक चैतन्य के विलासरूप निरंजन और निज परमात्मतत्त्व की भावना स्वरूप आचार में स्थिर भाव करता है। वह परम तपोधन ही प्रतिक्रमण है ऐसा कहा जाता है। उसका कारण यह है कि परमसमरसी भावना में परिणत हुआ वह तपोधन ही उस काल में सहज निश्चय प्रतिक्रमण से तन्मय हो जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''अब अधिक लौकिक वचन जाल से क्या लाभ है? यह आत्मा आत्मीय परमानन्द रूप अद्वितीय अमृत से सघन और प्रकाशमान स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप आत्मा का अत्यन्त आनन्द एवं भक्ति के साथ अपने समता परिणामरूपी जल से अभिषेक करे ॥११३॥''

साधू अनाचरण पूरण छोड़ते हैं, स्वाचार में स्वयम को दृढ़ जोड़ते हैं।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८५॥

स्रग्धरा

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानन्ददृग्ज्ञप्तिशक्तौ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोऽयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्यसाक्षी ॥११४॥

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः –

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

यस्तु शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवमलकलङ्कपङ्कनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धादिप्रणीतमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वर-

---

''अत्यन्त जन्म-मरण को करने वाले मेरे सर्व दोषों से युक्त ऐसे अनाचार को छोड़कर जो भव्य जीव अनुपम साहजिक सुख, दर्शन, ज्ञान और बलरूपी अपनी आत्मा में स्थिर होता है तथा बाह्य आचार से छूटकर समतारूपी समुद्र की जल की बूँदों के समूह से पवित्र होता है, वही पवित्र है, वही श्रेष्ठ है, वही पापरूपी कालिमा को नष्ट करने वाला है और वही समस्त लोक का साक्षात्कार करता हुआ सुशोभित होता है ॥११४॥''

इस सूत्र में उन्मार्ग के छोड़ने और सर्वज्ञ वीतराग का मार्ग स्वीकार करने का उपदेश है –

अन्वयार्थ–(उम्मग्गं) उन्मार्ग को **(परिचत्ता)** छोड़कर **(जिणमग्गे)** जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में **(जो)** जो **(थिरभावं दु)** स्थिर भाव को **(कुणदि)**करता है **(सो)** वह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है **(जम्हा)** क्योंकि **(पडिकमणमओ)** वह प्रतिक्रमणमय **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो उन्मार्ग को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग में स्थिरता करता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है। यहाँ उसी को प्रतिक्रमण इसलिए कहा है कि वह उस समय स्वयं प्रतिक्रमणमय हो जाता है ॥८६॥''

टीकार्थ–जो शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव नामक अतिचाररूप कलंकपंक से रहित हो शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि होता हुआ बुद्ध आदि के द्वारा प्रतिपादित मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप उन्मार्ग को जो कि ऊपर से मार्ग के समान मालूम होता है, छोड़कर व्यवहार से पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रियदमन,

---

उन्मार्ग में विचरते मन को हटाते, सन्मार्ग में स्वयम को थिर हैं लगाते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८६॥

सर्वज्ञवीतरागमार्गे पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिपञ्चेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाऽविंशतिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालङ्कृते सहजपरमचित्सामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावं शुद्धचारित्रमयं करोति, स मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमतत्त्वगतं तत एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् —

शार्दूलविक्रीडित

''इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्॥''

तथा हि —

मालिनी

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्फुरन्ते (स्फुरन्ति) ॥११५॥

छह आवश्यक आदि अट्ठाईस मूलगुण रूप, महादेवाधिदेव, परमेश्वर श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव के मार्ग में अपने परिणाम को स्थिर करता है तथा निश्चयनय से सहज ज्ञान आदि विशुद्ध गुणों से अलंकृत, सहज परम चैतन्यरूप सामान्य विशेष से शोभायमान निज परमात्म द्रव्य में स्थिर भावरूप शुद्ध चारित्र को करता है वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है। चूँकि निश्चयप्रतिक्रमण परमतत्त्व–शुद्ध जीवद्रव्य में होता है इसलिए वह तपोधन–मुनिराज सदा शुद्ध ही रहता है।

ऐसा ही श्री प्रवचनसार की व्याख्या में कहा गया है–''इस प्रकार बहुत भारी आदर से युक्त प्राचीन अथवा श्रेष्ठ पुरुष जिसकी उपासना करते हैं और जो उत्सर्ग, अपवाद तथा दोनों से ही अनेक भूमिकाओं को प्राप्त हो रहा है–विविध भेद वाला है, ऐसे इस चारित्र को धारण कर क्रम–क्रम से अनुपम आनन्द को प्राप्त होता हुआ, मुनि चैतन्य रूप दर्शन और ज्ञान से शोभायमान निज द्रव्य - शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिरता करे।''

टीकाकार भी ऐसा ही कहते हैं कि–''जो विषय सुख से विरक्त है, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त है, तपश्चरण में लीन है, शास्त्र समुदाय में आसक्त है, गुणरूप मणियों के समूह से युक्त है और सब प्रकार के संकल्पों से युक्त है ऐसे भव्य जीव मुक्ति रूपी वधू के प्रिय होते हुए क्यों नहीं सुशोभित होंगे? अवश्य होंगे ॥११५॥''

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः —

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणओ हवे जम्हा ॥८७॥

निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपङ्कयुक्तत्वात् निदान-मायामिथ्या-शल्यत्रयं विद्यत इत्युपचारतः। अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्यस्वरूपे तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इति निगद्यते, यस्मात् स्वरूपगतवास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति।

अनुष्टुप्

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ॥११६॥

पृथ्वी

कषायकलिरञ्जितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः।

अब यहाँ निःशल्य भाव में परिणत महातपस्वी ही निश्चयप्रतिक्रमण रूप कहा गया है–

अन्वयार्थ–(जो साहु) जो साधु **(सल्लभावं)** शल्य–भाव को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(णिस्सल्ले)** निःशल्यभाव में **(दु)** निश्चय से **(परिणमदि)** परिणमन करता है **(सो)** वह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है **(जम्हा)** क्योंकि **(पडिकमणमओ)** प्रतिक्रमणमय **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो साधु शल्यभाव को छोड़कर शल्यरहित दशा में परिणमन करता है यह प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि उस काल में वह प्रतिक्रमण से तन्मय होता है ॥८७॥''

यह परमात्मा निश्चय से शल्यरहित है परन्तु व्यवहारनय के बल से कर्मरूप कर्दम से युक्त होने के कारण इसके निदान, माया और मिथ्यात्व यह तीन शल्य हैं ऐसा उपचार से कहा जाता है। अतएव जो योगी पूर्वोक्त तीन शल्यों को छोड़कर परम निःशल्यस्वरूप परमात्मा में लीन रहता है वह निश्चय प्रतिक्रमण कहा जाता है। चूँकि उसके स्वरूप सम्बन्धी वास्तविक प्रतिक्रमण रहता ही है अतः उसे ही प्रतिक्रमण कह दिया जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''शल्यत्रय – विद्वज्जन तीन शल्यों को छोड़कर निःशल्यरूप परमात्मा में स्थित रहकर सदा शुद्ध आत्मा का चिन्तन करें ॥११६॥''

''हे मुने! तू कषाय की कालिमा से अनुरंजित संसार भ्रमण का कारण और काम के बाणरूपी अग्नि से बार–बार राध हुए चित्त को छोड़ तथा क्षणभंगुर संसार से भयभीत हो,

---

जो शल्य भाव तजते वह साधु होते, निःशल्य भाव भजते अघ आशु खोते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८७॥

स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ॥११७॥

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत् –

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

यः परमतपश्चरण सरःसरसिरुहाकरचण्डचण्डरश्मिरत्यासन्नभव्यो मुनीश्वरः बाह्यप्रपञ्चरूपम्, अगुप्ति-भावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति।

हरिणी

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुञ्जमयीमिमाम्।

कर्मोदय के कारण जो आज तक प्राप्त नहीं हो सका ऐसे निज स्वभाव में स्थिर रहने वाले निर्मल सुख का भजन कर ॥११७॥''

तीन गुप्तियों से रक्षित होना ही जिनका लक्षण है, ऐसे परम तपस्वी के ही निश्चयचारित्र (प्रतिक्रमण) होता है, यह कथन है–

अन्वयार्थ–(अगुत्तिभावं) अगुप्तिभाव को **(चत्ता)** छोड़कर **(जो साहू)** जो साधु निश्चित रूप से **(तिगुत्तिगुत्तो)** तीन गुप्ति से गुप्त **(हवेइ)** होता है **(सो)** वह **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है **(जम्हा)** क्योंकि **(पडिकमणमओ)** प्रतिक्रमणमय **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो साधु अगुप्ति भाव को छोड़कर तीन गुप्तियों से गुप्त होता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि वह उस समय स्वयं प्रतिक्रमण से तन्मय हो जाता है ॥८८॥''

टीकार्थ–जो परम तपश्चरणरूप सरस कमलसमूह को विकसित करने के लिए तीक्ष्ण सूर्य के समान है ऐसे निकट भव्य जो मुनिराज, योगों के बाह्य विस्ताररूप अगुप्तिभाव को छोड़कर गुप्तित्रय से सुरक्षित विकल्पातीत परमसमाधिरूप लक्षण से युक्त अत्यन्त अपूर्व आत्मा का ध्यान करते हैं, चूँकि परम संयम के धारक मुनिराज उस समय प्रतिक्रमण से तन्मय हो जाते हैं अतः वे ही निश्चयप्रतिक्रमण रूप कहे जाते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि–''भव्य मुनिराज मन, वचन, काय के विकार को छोड़कर शुद्ध आत्मा के चिन्तन के साथ-साथ सम्यग्ज्ञान के पुंजरूप इस स्वाभाविक उत्कृष्ट गुप्ति का भजन

भाई अगुप्तिमय भाव स्वयं विसारे, औ तीन गुप्तिमय भाव अहो सुधारे।
साधू 'प्रतिक्रमण' वे गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८८॥

भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ॥११८॥

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत् –

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

स्वदेशत्यागात् द्रव्यविनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्त्तध्यानम्, चौरजारशात्रवजनवधबंधननिबद्ध-महद्द्वेषजनित रौद्रध्यानं च, एतद्द्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्गसुखप्रतिपक्षं संसारदुःखमूलत्वान्निरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनिःसीमसुख-मूलस्वात्माश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकार सकलकरण-ग्रामातीतनिर्भेदपरमकलासनाथनिश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः भव्यवर-पुण्डरीकः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति, परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति।

करें, क्योंकि त्रिगुप्ति के धारक मुनि का ही शील निर्मल होता है ॥११८॥''

यह ध्यान के विकल्पों के स्वरूप का वर्णन है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(अट्टरुद्दं)** आर्त-रौद्र **(झाणं)** ध्यान को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(वा धम्मसुक्कं)** धर्म, शुक्लध्यान का **(झादि)** ध्यान करता है **(सो)** वह **(जिणवर-णिद्दिट्ठसुत्तेसु)** जिनवर के द्वारा कहे गए सूत्रों में **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(उच्चइ)** कहा जाता है।

गाथार्थ–''जो आर्त्त और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यान का चिन्तन करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित सूत्रों में प्रतिक्रमण कहा जाता है॥''

टीकार्थ–स्वदेशत्याग से, द्रव्यविनाश से, मित्रजनों के विदेश चले जाने से, इच्छित स्त्रियों के वियोग से अथवा अनिष्ट पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाला आर्त्तध्यान और चोरी-जारी तथा शत्रुजनों के वध-बन्धन आदि से संबद्ध तीव्र द्वेषरूप परिणामों से उत्पन्न होने वाला रौद्रध्यान ये दोनों ही ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के अपरिमित सुखों के विरोधी हैं। अतः संसार सम्बन्धी दुःखों का मूल कारण होने से इन्हें छोड़कर जो श्रेष्ठ भव्य स्वर्ग एवं मोक्ष के सीमारहित सुखों के मूलभूत केवल स्वकीय आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान को तथा ध्यान और ध्येय के अनेक विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रियों के समूह से अतीत एवं अभेदरूप परम कला से सहित, निश्चय शुक्लध्यान का ध्यान कर परम भाव की भावना में परिणत होता है वह निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव के मुख कमल से प्रकट हुए द्रव्यश्रुत में

जो आर्त रौद्रमय ध्यान सदा विसारे, पै धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा सुधारे।
वे ही प्रतिक्रमण साधु प्रशान्त प्यारे, तल्लीन क्योंकि रह जीवन को सुधारे ॥८९॥

ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रितयं (तृतीयं) तावदुपादेयं, सर्वदोपादेयं च चतुर्थमिति।

तथा चोक्तम् –

अनुष्टुप्

''निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः॥''

वसंततिलका

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ॥११९॥

सद्बोधमण्डनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्।
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपञ्चो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ॥१२०॥

आसन्नासन्नभव्यजीवे पूर्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम् –

कहा गया है। पूर्वोक्त चार ध्यानों में प्रारम्भ के दो ध्यान छोड़ने योग्य हैं, तीसरा ध्यान कुछ समय तक उपादेय है और चौथा ध्यान सदा उपादेय है–ग्रहण करने योग्य है।

वैसा ही कहा है–''जो ध्यान निष्क्रिय है, इन्द्रियों के व्यापार से अतीत है, ध्यान और ध्येय के विकल्प से वर्जित है तथा अन्तर्मुखाकार है उसे मुनिजन शुक्लध्यान जानें॥''

टीकाकार कहते हैं कि–''शुद्ध निश्चयनय कहता है कि सदा कल्याणरूप शुद्ध आत्मतत्त्व में ध्यानावली नहीं है और व्यवहारनय कहता है कि वह सदा विद्यमान रहती है। हे जिनेन्द्र! यह तत्त्व कोई बड़े इन्द्रजाल के समान आश्चर्य को करने वाला है ॥११९॥''

''सम्यग्ज्ञान ही जिसका आभूषण है ऐसा यह परमात्मतत्त्व सभी ओर से समस्त विकल्प जाल से निर्मुक्त है, उसमें समस्त नयों के समूह से होने वाला विस्तार नहीं है फिर ध्यानावस्था ही कैसे हो सकती है? ॥१२०॥''

अब अत्यन्त निकट भव्य जीव में पहले तथा पीछे होने वाले परिणामों के स्वरूप का कथन करते हैं–

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

मिथ्यात्वाव्रतकषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति ''मिच्छादिट्ठीआदि जाव सजोगिस्स चरिमंतं'' इति वचनात्, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरमसमयपर्यन्तस्थिता इत्यर्थः।

अनासन्नभव्यजीवेन निरञ्जननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्वं सुचिरं भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवेनानासादितपरमनैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति। अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणनिचयसंपन्नोऽत्यासन्नजीवः। अस्य सम्यग्ज्ञानभावना कथमिति चेत् –

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः –

अन्वयार्थ–(जीवेण) जीव ने **(पुव्वं)** पूर्व में **(मिच्छत्त-पहुदिभावा)** मिथ्यात्व आदि भाव **(सुइरं)** बहुत चिरकाल से **(भाविया)** भाये हैं **(जीवेण)** जीव ने **(सम्मत्तपहुदिभावा)** सम्यक्त्व आदि भाव **(अभाविया होंति)** नहीं भाये हैं।

गाथार्थ–''इस जीव ने पहले मिथ्यात्व आदि भावों का चिरकाल तक अनुभव किया है, परन्तु सम्यक्त्व आदि भावों का कभी भी अनुभव नहीं किया ॥९०॥''

टीकार्थ–मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग रूप परिणाम ये आस्रव के सामान्य कारण हैं और इनके तेरह भेद हैं, क्योंकि आगम में ऐसा कहा गया है कि ''मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली के अन्तिम समय तक'' कर्म का आस्रव होता है। आशय यह है कि वह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक स्थित है।

दूर भव्यजीव ने पहले निष्कलंक निज परमात्मतत्त्व की भावना से रहित होकर चिरकाल तक मिथ्यात्व आदि सामान्य भावों का अनुभव किया है तथा स्वरूप से भ्रष्ट हुए उस बहिरात्मा जीव ने परम निर्द्वन्द्व–यथाख्यातचारित्र को न पाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का कभी भी अनुभव नहीं किया है। किन्तु इस मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा जो विपरीत गुणों के समूह से सम्पन्न है वह अत्यन्त निकट भव्य जीव है। इसके सम्यग्ज्ञान की भावना किस प्रकार होती है?

इस प्रश्न का उत्तर श्री गुणभद्र स्वामी ने इस प्रकार दिया है–

जीवात्म ने अमित बार अरे सदी से, मिथ्यात्व आदि सब भाव किये रुची से।
सम्यक्त्व आदि समभाव किये नहीं है, शुद्धात्म दर्शन अवश्य किये नहीं है ॥९०॥

अनुष्टुप्

''भावयामि भवावर्त्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः॥''

तथा हि –

मालिनी

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत्।
तदपि भवभवेषु श्रूयते बाह्यते (भाव्यते) वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥१२१॥

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं च भवतीत्युक्तम् –

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं॥९१॥

''मैं अब इस संसाररूप भँवर के बीच उन्हीं भावनाओं का चिन्तन करता हूँ। पहले कभी भी चिन्तन नहीं किया है। किन्तु संसार का अभाव करने के लिए उन भावनाओं का चिन्तन नहीं करता, जिनका पहले चिन्तन हो चुका है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''संसाररूपी समुद्र में निमग्न हुए इस जीव ने मोक्ष के कारणभूत जो कुछ भी वचन है–द्रव्यश्रुत है, उसे इसने पहले भव-भव में सुना है और चिन्तन भी किया है परन्तु बड़े कष्ट की बात है कि इसने एक ज्ञान का चिन्तन कभी भी नहीं किया है ॥१२१॥''

अब इस गाथा में ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को पूरी तरह स्वीकार करने से और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के पूरी तरह त्याग करने से ही मोक्षाभिलाषी मुनि के निश्चयप्रतिक्रमण होता है'' यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(मिच्छादंसण-णाण-चरित्तं) मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को **(णिरवसेसेण)** पूर्णरूप से **(चइऊण)** छोड़कर **(सम्मत्त-णाण-चरणं)** सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र की **(जो)** जो साधु **(भावइ)** भावना करता है **(सो)** वह **(पडिक्कमणं)** साधु प्रतिक्रमण स्वरूप है।

मिथ्यात्व-ज्ञान-व्रत की जड़ काटता है, संस्कार भी न उनका रख डालता है।
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत को उर में बिठाता, सोही प्रतिक्रमण लाभ अहो उठाता॥९१॥

भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धि- र्मिथ्याज्ञानं, तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च, एतत्त्रितयमपि निरवशेषेण त्यक्त्वा, अथवा स्वात्म-श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेवमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयम्, एतदपि त्यक्त्वा त्रिकाल-निरावरणनित्यानन्दैक-लक्षणनिरञ्जननिजपरमपारिणामिकभावात्मककारणपरमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूप-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं हि निश्चयरत्नत्रयम्, एवं भगवत्परमात्मसुखाभिलाषी यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नत्रयात्मकम् आत्मानं भावयति स परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः।

वसंततिलका

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ॥१२२॥

अत्र निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपमित्युक्तम् —

गाथार्थ—''जो मुनि पूरी तरह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को त्याग कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भावना करता है वही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है ॥९१॥''

टीकार्थ—जो मार्ग भगवान अरहन्त परमेश्वर के मार्ग के विरुद्ध है वह मार्गाभास है, उसका श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है, उसी में यह वास्तविक है ऐसा ज्ञान होना मिथ्याज्ञान है और उसी मार्ग का आचरण करना मिथ्याचारित्र है। अथवा स्वकीय शुद्ध आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से विमुख होना मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप रत्नत्रय है। तथा तीनों कालों में निरावरण, नित्यानन्द रूप लक्षण से युक्त, निष्कलंक, परम पारिणामिक भावमय कारण परमात्मा रूप आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण स्वरूप निश्चयरत्नत्रय है, इस प्रकार भगवान् परमात्मा के सुख का अभिलाषी और परमपुरुषार्थ में तत्पर रहने वाला जो साधु पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन आदि का त्यागकर शुद्ध निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की भावना करता है वही परम तपस्वी निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप होता है, ऐसा यहाँ कहा गया है।

टीकाकार कहते हैं—

''आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाला ज्ञानी पुरुष समस्त विभाव भाव और व्यवहारमार्ग रूप रत्नत्रय को छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्वरूप एक ज्ञान का ही श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करता है ॥१२२॥''

अब यहाँ निश्चय उत्तमार्थ रूप प्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं—

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण। निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा तस्मिन् सच्चिदानन्दमयकारणसमयसारस्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरवः, अत एव कर्मविनाशं कुर्वन्ति। तस्मादध्यात्मभाषयोक्तभेदकरण-ध्यानध्येयविकल्पविरहितं निरवशेषेणान्तर्मुखाकारसकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमिति स च बोद्धव्यम्। किं च, निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म-शुक्लध्यानमयात्वादमृतकुम्भस्वरूपं भवति, व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणं व्यवहारधर्मध्यानमयत्वा-द्विषकुम्भस्वरूपं भवति।

तथा चोक्तं समयसारे —

अन्वयार्थ—(उत्तमअट्ठं) उत्तम अर्थ-पदार्थ **(आदा)** आत्मा है **(तम्हि)** उस आत्मा में **(ठिदा)** स्थित हुए **(मुणिवरा)** मुनिराज **(कम्मं)** कर्म का **(हणदि)** नाश करते हैं **(तम्हा दु)** इसलिए **(झाणमेव हि)** ध्यान ही **(उत्तमअट्ठस्स)** उत्तम पदार्थ आत्मा का **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण है।

गाथार्थ—''उत्तमार्थ आत्मा को कहते हैं, चूँकि जो मुनिराज उसमें स्थित हैं वे ही कर्मों का नाश करते हैं, अतः ध्यान ही उत्तमार्थ - आत्मा का प्रतिक्रमण है ॥९२॥''

टीकार्थ—इस जैनमार्ग में मुनियों के सल्लेखना के समय ब्यालीस आचार्यों के द्वारा दिये हुए उत्तमार्थ प्रतिक्रमण के साथ उनका जो शरीर त्याग होता है वह व्यवहारनय की अपेक्षा सल्लेखना धर्म कहा जाता है। निश्चयनय की अपेक्षा तो पदार्थों में आत्मा ही उत्तमार्थ है— उत्कृष्ट पदार्थ है, अतः सच्चिदानन्दमय कारणसमयसार रूप उस आत्मा में जो तपस्वी स्थित हैं और नित्य ही मरण से भयभीत हैं वे ही वास्तव में कर्मों का नाश करते हैं। अतः पूर्वोक्त नाना भेदरूप ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित तथा पूरी तरह अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रियों का अगोचर जो निश्चय परम शुक्लध्यान है वही निश्चय से आत्मा का प्रतिक्रमण है जो कि आत्मारूप ही है ऐसा यहाँ अध्यात्मभाषा द्वारा जानना चाहिए। यह निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण स्वात्माश्रय निश्चयधर्म-शुक्लध्यानरूप होने से अमृतकुम्भरूप है और व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहारधर्मध्यान रूप होने के कारण विषकुम्भ रूप है।

ऐसा ही श्री समयसार में कहा है—

है सर्वश्रेष्ठ निज आतम पदार्थ साता, हो आत्म में स्थित यती विधि को नशाता।
सच्चा प्रतिक्रमण आतम ध्यान होता, तू आत्म ध्यान कर, केवल ज्ञान होता ॥९२॥

''पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो॥''

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम् –

वसन्ततिलका

''यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमप्यमृतं कथं स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतत्यधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपःकल्पनामात्ररम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥१२३॥

''प्रतिक्रमण[१], प्रतिसरण[२], प्रतिहरण[३], धारणा[४], निवृत्ति[५], निन्दा[६], गर्हा[७] और शुद्धि[८] यह आठ प्रकार का विषकुम्भ है ॥४८॥''

ऐसा ही समयसार की व्याख्या में भी कहा है कि–''जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष बतलाया है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है? जब यह बात है तब लोग प्रमादी होते हुए नीचे-नीचे क्यों गिरते हैं और प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ते।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''आत्मध्यान से अतिरिक्त जो कुछ भी है वह भयंकर संसार का मूलकारण है, ध्यान-ध्येय आदि का भेदरूप जो तप है वह भी कल्पनामात्र से सुन्दर है, अतएव बुद्धिमान मनुष्य ऐसा जानकर स्वाभाविक परमानन्दरूपी अमृत के पूर में निमग्न होने वाले एक सहज परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं–उसी का चिन्तन करते हैं ॥१२३॥''

---

१. प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणम्–किये हुए दोषों का निराकरण करना, २. प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणम्– सम्यक्त्व आदि गुणों में प्रेरणा करना, ३. प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणम्–मिथ्यात्व-रागादि दोषों का निवारण करना, ४. पञ्चनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादि बहिर्द्रव्यालम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा–पंचनमस्कार आदि मन्त्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य पदार्थ के आलम्बन से चित्त का स्थिर करना, ५. बहिरङ्गविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः–बाह्य विषयकषाय से चित्त को हटाना, ६. आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निन्दा–अपने ही सामने दोषों को प्रकट करना, ७. गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा–गुरु की साक्षी पूर्वक दोषों का प्रकट करना, ८. दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकरणं शुद्धिः–दोष होने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना। –समयसार की तात्पर्यवृत्ति

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम् –

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्यासन्नभव्यजीवः अध्यात्मभाषयोक्तस्वात्माश्रितनिश्चय-धर्मध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण स्थितः. अथवा सकलक्रियाकाण्डाडम्बरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यान-ध्येयविकल्पनिर्मुक्तनिखिलकरणग्रामागोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेदकल्पना निरपेक्षनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाणां परित्यागं करोति, तस्मात् स्वात्माश्रितनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्वातिचाराणां प्रतिक्रमणमिति।

अनुष्टुप्

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥१२४॥

अन्वयार्थ–(झाणणिलीणो) ध्यान में लीन हुआ **(साहू)** साधु **(सव्व-दोसाणं)** सभी दोषों का **(परिचागं)** परित्याग **(कुणइ)** करता है **(तम्हा दु)** इसलिए तो **(झाणमेव हि)** ध्यान ही निश्चय से **(सव्वदिचारस्स)** सभी अतिचारों का **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण है।

गाथार्थ–अब यहाँ एक ध्यान ही उपादेय है यह कहते हैं–''जो साधु ध्यान में लीन है वह समस्त दोषों का परित्याग करता है अतः ध्यान ही सर्व अतिचारों का प्रतिक्रमण है ॥९३॥''

टीकार्थ–जो कोई परम जितेन्द्रिय अत्यन्त निकट भव्य योगीश्वर साधु, अध्यात्मभाषा की अपेक्षा पूर्वोक्त स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान में लीन है, अभेदरूप से स्थित है अथवा समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर से युक्त व्यवहारनय रूप भेद को करने वाले ऐसे ध्यान-ध्येय के विकल्प से रहित और समस्त इन्द्रियसमूह के अगोचर तथा उत्कृष्ट तत्त्वरूप शुद्ध अन्तस्तत्त्व के विषयभेद की कल्पना से निरपेक्ष शुक्लध्यान में स्थित है वह अन्तर्मुखाकार प्रवृत्ति होने से पूरी तरह से अन्तर्मुख होकर प्रशस्त और अप्रशस्त सभी प्रकार के मोह, राग और द्वेष का परित्याग करता है इसलिए अपने आत्मा के आश्रय से होने वाला निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ये दोनों ही समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण है।

टीकाकार भी कहते हैं कि–''जिसके चित्तरूपी घर में यह शुक्लध्यान रूपी दीपक देदीप्यमान हो रहा है वह योगी है और उसके शुद्धात्मा स्वयं प्रत्यक्ष होने लगता है ॥१२४॥''

सद्ध्यान-रूप सर में अवगाह पाता, साधू-स्वदोष मल को पल में धुलाता।
सद्ध्यान ही विषमकल्मष पातकों का, सच्चा प्रतिक्रमण है घर-सद्गुणों का ॥९३॥

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य सफलत्वमुक्तम् —

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ॥९४॥

यथा हि निर्यापकाचार्यैः समस्तागमसारासारविचारचारुचातुर्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णितमिति (मति) विस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीतिमलङ्घयन् चारुचरित्रमूर्तिः सकलसंयमभावनां करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपञ्चविमुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमगुरुचरणस्मरणासक्तचित्तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवतीति।

इन्द्रवज्रा

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता-
मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम्।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्तु ॥१२५॥

अब इस गाथा में व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता का वर्णन करते हैं –

अन्वयार्थ–(पडिकमण-णामधेये) प्रतिक्रमण नाम वाले **(सुत्ते)** सूत्र में **(जह)** जिस प्रकार **(पडिक्कमणं)** प्रतिक्रमण **(वण्णिदं)** कहा है **(तह)** उसी प्रकार **(णच्चा)** जानकर **(जो)** जो **(भावइ)** भावना करता है **(तस्स)** उसको **(तदा)** उसी समय **(पडिक्कमणं)** प्रतिक्रमण **(होदि)** होता है।

गाथार्थ–''प्रतिक्रमण नाम के सूत्र में प्रतिक्रमण का जैसा वर्णन किया है वैसा ही जानकर जो उसकी भावना करता है उसी के उस समय प्रतिक्रमण होता है ॥९४॥''

टीकार्थ–समस्त आगम के सारासार के विचार करने में उत्तम चतुराई आदि गुणसमूह से युक्त निर्यापकाचार्यों ने द्रव्यश्रुतरूप प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का विस्तार के साथ जैसा वर्णन किया है उसे वैसा ही जानकर उत्तम चारित्र की मूर्तिस्वरूप जो साधु जिनेन्द्र भगवान् की नीति का उल्लङ्घन नहीं करता हुआ सकल संयम की भावना करता है, बाह्य प्रपञ्च से पराङ्मुख, पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी तथा परमगुरु–जिनेन्द्रदेव के चरणों की आराधना में आसक्त चित्त रहने वाले उस महामुनि के उस समय प्रतिक्रमण होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''निर्यापकाचार्य के द्वारा जो मुक्ति का स्वरूप कहा गया है, उसे सुनकर जिसका चित्त सकलसंयम का घर बन जाता है, उस संयमधारी मुनिराज को मेरा नमस्कार होओ ॥१२५॥''

जो भी प्रतिक्रमण नामक शास्त्र बोले, भाई प्रतिक्रमण की विधि नेत्र खोले।
जानो यथाविधि उसे उस भावना को, भाना प्रतिक्रमण है तज वासना को ॥९४॥

वसन्ततिलका

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ॥१२६॥

इतिसुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः पञ्चमः श्रुतस्कन्धः॥

''जिस मुमुक्षु के सदा काल प्रतिक्रमण ही होता रहता है, अप्रतिक्रमण अणुमात्र भी नहीं होता, सकलसंयम रूप आभूषण से युक्त उन श्री वीरनन्दी नामक मुनिराज के लिए मेरा निरन्तर नमस्कार होओ ॥१२६॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र ही जिनका परिग्रह है, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में निश्चयप्रतिक्रमणाधिकार नाम का पञ्चम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

६

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार:

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यविजयवैजयन्तीपृथुलदण्डमण्डनायमानसकलकर्म निर्जराहेतुभूत-निःश्रेयसनिःश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूतनिश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते। तद्यथा -

अत्र सूत्रावतारः।

निश्चयनयप्रत्याख्यानस्वरूपाख्यानमेतत् —

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥९५॥

अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं[1] प्रत्यादिष्टान्नपान-खाद्य-लेह्यरुचयः, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपम्। निश्चयनयतः प्रशस्ताप्रशस्त-समस्तवचनरचना-

---

अब इस समय समस्त दीक्षा रूपी साम्राज्य की विजयपताका के विशालदण्ड के आभूषण रूप समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण, मोक्ष की प्राप्ति के लिए नसैनी के समान और मुक्ति रूपी स्त्री के प्रथम साक्षात्कार में देने योग्य उपहार के तुल्य, ऐसे निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार का कथन करते हैं, जिसका ''मोत्तूण सयल'' इस सूत्र से अवतार होता है। यथा - उसमें निश्चयप्रत्याख्यान का वर्णन करते हैं -

अन्वयार्थ—(सयलजप्पं) समस्त जल्पवाद को **(मोत्तूण)** छोड़कर **(अणागय-सुह-मसुह-वारणं)** अनागत शुभ-अशुभ का निवारण **(किच्चा)** करके **(जो)** जो **(अप्पाणं)** आत्मा का **(झायदि)** ध्यान करता है **(तस्स)** उसको **(पच्चक्खाणं)** प्रत्याख्यान **(हवे)** होता है।

गाथार्थ—''जो समस्त जल्पवाद को छोड़कर तथा आगामी शुभ और अशुभ भावों का त्याग कर केवल आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है ॥९५॥''

टीकार्थ—यहाँ व्यवहारनय की आज्ञा से मुनि प्रतिदिन भोजन कर पुनः भोजन के योग्य कालपर्यन्त जो अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहारों की इच्छा को छोड़ देते हैं यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है निश्चयनय से तो शुभ-अशुभ सभी प्रकार के वचन

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे, साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाते, ये प्रत्यख्यान गुण-धारक हैं कहाते ॥९५॥

१. निराकृतान्न इत्यपि पाठः

प्रपञ्चपरिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणां संवरः प्रत्याख्यानम्। यः सदान्तर्मुखे परिणत्या परमकलाधारमत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति।

तथा चोक्तं समयसारे –

''सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥''

तथा समयसारव्याख्यायां च –

आर्या

''प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः।
सच्चारित्राण्यघकुलहरिणाण्यस्य(ण्यघकुलहराण्यस्य) तानि स्युरुच्चैः
तं वन्देऽहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ॥१२७॥

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोऽयम् –

परम्परा के विस्तार का त्याग कर शुद्धज्ञान की भावना रूप सेवा के प्रसाद से शुभ-अशुभ नूतन द्रव्य और भाव कर्मों का संवर ही प्रत्याख्यान है। आशय यह है कि सदा अन्तर्मुखाकार परिणति के द्वारा परम कला के आधारभूत अपूर्व आत्मा का ध्यान करता है उसके नित्य प्रत्याख्यान होता है।

ऐसा ही समयसार में कहा है–''चूँकि अपने ज्ञान सिवाय अन्य सभी पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर त्यागता है इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा नियम से जानना चाहिए।''

इसी प्रकार समयसार की व्याख्या में भी कहा है–''मैं आगामी आने वाले समस्त कर्मों का त्याग कर मोह रहित होता हुआ निष्कर्म चैतन्यस्वरूप अपने निष्कर्म आत्मा में ही निरन्तर प्रवृत्ति करता हूँ।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''जो सम्यग्दृष्टि समस्त कर्म और नोकर्म के समूह को छोड़ता है, सम्यग्ज्ञान की मूर्ति स्वरूप उसी सम्यग्दृष्टि के निश्चय प्रत्याख्यान होता है और उसी के पाप समूह को हरने वाला उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र होता है अतः मैं संसार सम्बन्धी क्लेशों का नाश करने के लिए निरन्तर उस सम्यग्दृष्टि को नमस्कार करता हूँ ॥१२७॥''

अब यह अनन्तचतुष्टय स्वरूप निज आत्मा के ध्यान करने का उपदेश देते हैं–

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९६॥

समस्तबाह्यप्रपञ्चवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता। कथंकारम्? अनाद्यनिधानामूर्त्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण् शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधार भूत-शुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा यः सोऽहमिति भावना कर्त्तव्या ज्ञानिनेति; निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोऽहम्, सहजदर्शनस्वरूपोऽहम्, सहजचारित्रस्वरूपोऽहम्, सहजसुख-स्वरूपोऽहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोऽहम् इति भावना कर्त्तव्या चेति -

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ —

अनुष्टुप्

''केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्॥''

अन्वयार्थ—(केवलणाणसहावो) केवलज्ञान स्वभाव वाला **(केवलदंसण-सहाव-सुहमइओ)** केवलदर्शन स्वभाववाला सुखमय **(केवलसत्ति-सहावो)** केवलशक्ति स्वभाव वाला **(सो)** वह **(हं)** मैं हूँ **(इदि)** इस प्रकार **(णाणी)** ज्ञानी **(चिंतए)** चिंतन करता है।

गाथार्थ—''सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा चिन्तन करे कि केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति रूप स्वभाव वाला जो परमात्मा है वही मैं हूँ ॥९६॥''

टीकार्थ—जो जीव समस्त बाह्य विस्तार की वासना से रहित हैं, सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुख प्रवृत्ति करने वाले हैं और परम तत्त्वज्ञानी हैं उसके लिए यह शिक्षा कही गई है कि अनादिनिधन, अमूर्तिक और अतीन्द्रिय स्वभाव को विषय करने वाले शुद्ध सद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा उसे ऐसी भावना करना चाहिए कि शुद्ध स्पर्श, शुद्धरस, शुद्धगन्ध और शुद्धवर्ण के आधारभूत शुद्धपुद्गल परमाणु की तरह जो परमात्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति से युक्त है वही मैं हूँ। तथा निश्चयनय से उसे ऐसी भावना करनी चाहिए कि मैं ही सहजज्ञान स्वरूप हूँ, मैं ही सहजदर्शन स्वरूप हूँ, मैं ही सहजचारित्र स्वरूप हूँ और मैं ही सहज चैतन्यशक्ति स्वरूप हूँ।

ऐसा ही एकत्वसप्तति में कहा है–''जो केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसुख स्वभाव है वही परम तेज है। यदि उसे जान लिया तो क्या नहीं जाना? यदि उसे देख लिया तो क्या नहीं देखा और यदि उसे सुन लिया तो क्या नहीं सुना?॥''

मेरा स्वभाव वर केवलज्ञानवाला, कैवल्य दर्शन मदीय स्वभाव-शाला।
कैवल्य शक्ति मम मात्र स्वभाव ऐसा, ज्ञानी करे सुखद चिंतन को हमेशा ॥९६॥

तथा हि –

मालिनी

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानन्दरूपः।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोऽयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ॥१२८॥

अत्र परमभावनाभिमुखस्य ज्ञानिनः शिक्षणमुक्तम् –

णियभावं णवि मुंचइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवैरिसेनाविजयवैजयन्तीलुण्टाकं त्रिकालनिरावरण-निरञ्जन-निजपरमस्वभावं क्वचिदपि नापि मुञ्चति, पञ्चविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्‍गलद्रव्य संयोगसंजातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरञ्जनसहजज्ञानसहजदृष्टिसहजशीलादि-

---

इसी प्रकार टीकाकार कहते हैं–''वह परमात्मा सदा जयवन्त रहे जो केवलज्ञान रूप मूर्ति से युक्त है, केवलदर्शनमय है, सदा आनन्द रूप है, स्वाभाविक-परमचैतन्यशक्तिमय है, नित्य है और समस्त मुनिजनों के चित्त रूप कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान है ॥१२८॥''

अब यहाँ उत्कृष्ट भावना के सन्मुख हुए सम्यग्ज्ञानी जीव को कुछ शिक्षा देते हैं–

अन्वयार्थ–(णियभावं) निज भाव को जो **(णवि)** नहीं **(मुंचइ)** छोड़ता है **(परभावं)** परभाव को **(केइं)** कुछ भी **(णेव)** नहीं **(गेण्हए)** ग्रहण करता है **(सव्वं)** सब कुछ **(जाणदि)** जानता है और **(पस्सदि)** देखता है **(सो हं)** वह मैं हूँ **(इदि)** इस प्रकार **(णाणी)** ज्ञानी **(चिंतइ)** चिंतन करता है।

गाथार्थ–''जो निज भाव को रंचमात्र त्यागता नहीं और परभाव को रंचमात्र ग्रहण नहीं करता केवल समस्त पदार्थों को जानता-देखता है वह मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी जीव चिन्तन करे ॥९७॥''

टीकार्थ–जो कारणपरमात्मा समस्त पापरूपी वीर बैरियों की सेना की विजयपताका को लूटने वाले ऐसे तीनों काल में आवरण रहित और निर्लेप स्वकीय परमभाव को कभी नहीं छोड़ता तथा पाँच प्रकार के संसार की वृद्धि के कारणभूत और अशुद्धपुद्‍गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए रागादि भाव को कभी नहीं ग्रहण करता और निश्चयनय से स्वकीय निरावरण उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उस कारण परमात्मा को जानता है, कर्म सम्बन्ध से रहित सहजज्ञान,

---

लो आतमा न तजता निज भाव को है, स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
द्रष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता, मैं ही रहा वह, सुधी इस भाँति गाता ॥९७॥

स्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्तिभामिनीसंभोग-संभवपरतानिलयं कारण-परमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स कारणसमयसारोऽहमिति भावना सदा कर्त्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः –

अनुष्टुप्

''यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥''

तथा हि – **वसन्ततिलका**

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा।
जानाति पश्यति च पञ्चमभावमेकम्।
तत्त्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ॥१२९॥

शार्दूलविक्रीडित

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिन्तामणा-
वन्यद्द्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम्।

सहजदर्शन और सहजशील आदि स्वभावभूत धर्मों के आधार-आधेय भाव से निर्मुक्त होने पर भी सदा मुक्त एवं सहजमुक्ति रूपी स्त्री के संयोग की संभावना के स्थानभूत कारणपरमात्मा को जानता है, जो ऐसा जानता-देखता है, वह निरावरण स्वाभाविक दर्शन के द्वारा देखता है, वह कारणसमयसार मैं हूँ, ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानियों को सदा करनी चाहिए।

ऐसा ही श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है–

''जो अग्राह्य-ग्रहण करने के अयोग्य-रागादि पर पदार्थों को कभी ग्रहण नहीं करता और ग्रहण में आये हुए-निज परमभाव को कभी छोड़ता नहीं एवं समस्त पदार्थों को सब प्रकार से जानता है, स्वसंवेद्य स्वरूप मैं उस रूप हूँ वही हूँ।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–

''सम्यग्ज्ञानी आत्मा, अपने आत्मगुणों से युक्त अपने आपको आपमें जानता-देखता है, वह सहज पारिणामिकभाव को कभी नहीं छोड़ता और न परभाव रूप अन्य पुद्गल सम्बन्धी विकार को कभी ग्रहण ही करता है ॥१२९॥''

''मेरा चित्त इस समय परपदार्थों में किये गये आग्रह के कारण उद्भूत हुए इस शरीर को छोड़कर चैतन्यचिन्तामणि स्वरूप अपने आपमें लीन हो रहा है सो इसमें आश्चर्य नहीं है,

तच्चित्रं न विशुद्धिपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने[1]॥१३०॥
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ॥१३१॥

आर्या

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
[2]निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम् ॥१३२॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् –

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥९८॥

क्योंकि विशुद्धि से परिपूर्ण सहजज्ञान स्वरूप आत्मा के लिए वह चित्त की लीनता ही सुखकर है। देवों के जब अमृत से ही तृप्ति हो जाती है तब उन्हें अन्य आहार से क्या प्रयोजन? ॥१३०॥''

''जो निर्द्वन्द्व है, निरुपद्रव है, नित्य है, स्वकीय आत्मा से समुत्पन्न है एवं अन्य द्रव्य की विभावना से जिसकी उत्पत्ति असंभव है, ऐसे इस निर्मल आनन्द रूपी अमृत का पान कर जो पुण्यात्मा मानव पुण्य को भी छोड़ देता है-पुण्य-पाप से परे हो जाता है वह उसी समय स्पष्ट ही चैतन्य चिन्तामणि रूप अद्वितीय अनुपम पद को प्राप्त हो जाता है ॥१३१॥''

''ऐसा कौन विद्वान् होगा जो गुरुओं के चरणकमल की पूजा से उत्पन्न निज महिमा को जानता हुआ भी कहता हो कि यह परद्रव्य ही मेरा है ॥१३२॥''

''यहाँ भव्य जीव के लिए बन्ध से रहित आत्मा का चिन्तन करना चाहिए'' ऐसी शिक्षा दी जाती है–

अन्वयार्थ–(अप्पा) आत्मा **(पयडि-ट्ठिदि-अणुभागप्पदेसबंधेहि)** प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधों से **(वज्जिदो)** रहित है **(सो हं)** वह मैं हूँ **(चिंतिज्जो)** चिंतन करते हुए **(य तत्थेव)** उसी में ही **(थिरभावं)** स्थिरभाव **(कुणदि)** करता है।

स्थित्यादि भेदवश बंध चतुर्विधा है, आत्मा परन्तु उससे लसता जुदा है।
'सो मैं' निरंतर विचार करे उसी में, ज्ञानी निवास कर नित्य रहे निजी में ॥९८॥

---

१. किमन्याशनैः २. जिनमहि-स प्रतौ पाठः

शुभाशुभमनोवाक्कायकर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ स्याताम्; चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभागबन्धौ स्तः, एभिश्चतुर्भिबन्धैर्निर्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोऽहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति।

मन्दाक्रान्ता

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वयमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥१३३॥

अत्र सकलविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः —

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥९९॥

गाथार्थ—''जो आत्मा प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चार प्रकार के बन्धों से रहित है वही मैं हूँ, ऐसा चिन्तन करता हुआ उसी में अपना भाव स्थिर करना चाहिए ॥९८॥''

टीकार्थ—मन, वचन और काय के शुभ व अशुभ व्यापारों से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं तथा चार कषायों से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है, इन चार प्रकार के बन्धों से जो आत्मा निर्मुक्त है और सदा उपाधि रहित है, वह मैं ही हूँ ऐसी सम्यग्ज्ञानी पुरुष को निरन्तर भावना करनी चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि–''बुद्धिमानों को सहज परमानन्द रूप इसी एक चैतन्य का संग्रह करना चाहिए जो कि निरुपम है और मोक्ष के साम्राज्य का मूल है। हे मित्र! तुम स्वयं भी मेरे इस सार पूर्ण वचन को सुनकर इसी चैतन्यचमत्कार मात्र में शीघ्र ही अपनी बुद्धि लगाओ ॥१३३॥''

अब इस गाथा में समस्त विभाव भावों के छोड़ने की विधि कही जाती है–

अन्वयार्थ—(ममत्तिं) ममत्व को **(परिवज्जामि)** मैं छोड़ता हूँ **(णिममत्तिं)** निर्ममत्व में **(उवट्ठिदो)** स्थित होता हुआ **(मे)** मुझे **(आदा च)** आत्मा का **(आलंबणं)** आलम्बन है **(अवसेसं च)** अवशेष को **(वोस्सरे)** मैं छोड़ता हूँ।

गाथार्थ—''निर्ममत्व भाव को प्राप्त हुआ मैं समस्त पदार्थों में ममता भाव को छोड़ता हूँ। मेरा आलम्बन एकमात्र मेरा आत्मा ही है, मैं उसके सिवाय सबका त्याग करता हूँ॥९९॥''

मैं तो मदीय ममता द्रुत त्यागता हूँ, निर्मोह भाव गहता नित जागता हूँ।
आत्मा मदीय अवलोकन एक मेरा, छोड़ूँ सभी पर, रहूँ बन में अकेला ॥९९॥

कमनीयकामिनीकाञ्चनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्यगुणपर्यायेषु ममकारं संत्यजामि। परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभव सुखदुःखाद्यनेक-विभावपरिणतिं परिहरामि।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

शिखरिणी

''निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः॥''

तथा हि —

मालिनी

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियोत्थो (यौघं)
भववनधिसमुत्थं मोहयादः समूहम्।
कनकयुवतिवांछामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ॥१३४॥

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः —

टीकार्थ—मैं सुन्दर स्त्री तथा सुवर्णादि समस्त परद्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों से ममता को छोड़ता हूँ। परम उपेक्षारूप लक्षण से युक्त तथा ममता भाव से रहित अपने आत्मा में स्थिर हो आत्मा का ही आलम्बन कर संसार रूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख आदि अनेक विभावभावों की परिणति का परित्याग करता हूँ।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है-''जब पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों का निषेध हो जाता है और निष्कर्मदशा प्रवृत्त होने लगती है तब मुनि अशरण - आलम्बन रहित हो जाते हैं, सो बात नहीं है। उस समय ज्ञान में ही लीन रहने वाला ज्ञान उनका आलम्बन होता है, जो परम अमृतस्वरूप है और जिस तत्त्वज्ञान में निरन्तर तत्पर रहने वाले मुनि उस परम अमृत को स्वयं अनुभव करते हैं।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं-''मैं अत्यन्त दृढ़ और निर्मल ध्यानरूपी अपनी सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित मन, वचन, काय और समस्त इन्द्रियों के समूह के कारण संसार रूपी समुद्र में उत्पन्न हुए मोह रूपी जल-जन्तुओं के समूह को और सुवर्ण तथा स्त्री आदि की इच्छा को भी छोड़ता हूँ ॥१३४॥''

अब यहाँ सर्वत्र एक आत्मा ही उपादेय है, यह कहते हैं-

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा। स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतना-परिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्राञ्चितपरमपञ्चमगतिप्राप्तिहेतुभूतपञ्चमभावभावनापरिणतस्य मम-सहजसम्यग्दर्शन-विषये च, साक्षान्निर्वाणप्राप्त्युपाय-स्व-स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरम-चारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेऽपि स परमात्मा सदा सन्निहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभ-पुण्यपापसुखदुःखानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्यपराङ्-मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः स्वरूप-गुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसंवरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेऽपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति।

अन्वयार्थ—(मज्झ णाणे) मेरे ज्ञान में **(खु)** निश्चित ही **(आदा)** आत्मा है **(दंसणे चरित्ते य)** दर्शन और चारित्र में **(मे)** मेरा **(आदा)** आत्मा है **(पच्चक्खाणे)** प्रत्याख्यान में **(आदा)** आत्मा है **(संवरे जोगे)** संवर और योग में **(मे)** मेरा **(आदा)** आत्मा है।

गाथार्थ—''निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान - त्याग में आत्मा है, मेरे संवर में आत्मा है और मेरे योग में आत्मा है ॥१००॥''

टीकार्थ—जो आत्मा अनादिअनन्त, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय और स्वभाव से शुद्ध सहज सुख रूप है वह निश्चय से सहज शुद्ध ज्ञानचेतना रूप से परिणत हुए मेरे सम्यग्ज्ञान में है और अत्यन्त उत्कृष्ट मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत पञ्चमभाव की भावना रूप से परिणत हुए मेरे सहज सम्यग्दर्शन के विषय में है तथा निर्वाणप्राप्ति के साक्षात् उपायभूत स्व-स्वरूप में अविचल स्थितिरूप लक्षण से युक्त सहज परम चारित्र रूप परिणति वाले मेरे सहज चारित्र में भी वही रहता है। जो भेदविज्ञानी है, परद्रव्य से पराङ्मुख है, पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित होकर शरीर मात्र परिग्रह वाला है, सहज वैराग्यरूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान है, निजस्वरूप में लीन है और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के तुल्य है ऐसे मेरे शुभ व अशुभ संवर में भी वही आत्मा स्थित रहता है। जो अशुभोपयोग से पराङ्मुख है किन्तु शुभोपयोग में भी उदासीन रहता हुआ साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख है और जिसके मुखकमल से परमागम रूपी मकरन्द झर रहा है ऐसे मेरे शुद्धोपयोग में भी वही परमात्मा सनातन स्वभाव होने से विराज रहा है।

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो! मैं।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का, है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१००॥

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ – अनुष्टुप्

''तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः॥''
''नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मङ्गलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्॥''
''आचारश्च तदेवैकं तदैवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकं तत्र स्थितस्य योगिनः॥''

तथा हि – मालिनी

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्द्वसंन्यासकाले।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योऽस्ति मुक्त्यै पदार्थः ॥१३५॥

पृथ्वी

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत्।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निर्मलम्[१] ॥१३६॥

ऐसा ही एकत्वसप्तति में कहा है–''वही एक आत्मा ही उत्कृष्ट ज्ञान है, वही एक निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही एक चारित्र है, वही एक निर्मल तप है, वही एक नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल रूप है, वही एक उत्तम है, वही एक सत्पुरुषों को शरणभूत है, वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है और उसी में स्थिर रहने वाले योगी के वही एक स्वाध्याय है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में, सम्यक् चारित्र में, पुण्य-पापकर्मों के नष्ट करने के अवसर में, संवर में और शुद्धोपयोग में वही एक परमात्मा है। इस पृथ्वीतल पर इसके सिवाय अन्य कोई पदार्थ मुक्ति प्राप्त कराने वाला नहीं है ॥१३५॥''

''जो कहीं तो शुद्ध मालूम होता है, कहीं शुद्धाशुद्ध मिश्ररूप मालूम होता है और कहीं अशुद्ध मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि जो अज्ञानी के लिए सदा गहन बना हुआ है, अपने ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा पापरूपी पृथ्वी की छाया को नष्ट करने वाला वही आत्मा सज्जन पुरुषों के हृदयकमल रूपी घर में सदा निर्मलरूप[१] से ही प्रतिभासित हो रहा है ॥१३६॥''

१. निश्चलम् इति पाठान्तर अर्थात् निश्चल रूप से प्रतिभासित हो रहा है।

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च निःसहायो जीव इत्युक्तः –

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरयो ॥१०१॥

नित्यमरणे तद्भवमरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते; सादिसनिधनमूर्तिविजातीय विभावव्यंजननरनारकादिपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवोज्जीवत्येव। सर्वैर्बन्धुभिः परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि स्वयमेव जायते मरणम्; एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजाः सन् सद्यो निर्वाति।

तथा चोक्तम् –

अनुष्टुप्

''स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥''

अब इस गाथा में यह जीव संसार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में सहाय रहित है, इस बात का निर्देशन करते हैं–

अन्वयार्थ–(य) यह **(जीवो)** जीव **(एगो)** एक अकेला **(मरदि)** मरता है **(एगो य)** और अकेला ही **(सयं)** स्वयं **(जीवदि)** जीता है **(एगस्स)** अकेले का **(मरणं)** मरण **(जादि)** होता है **(एगो)** अकेला **(णीरयो)** नीरज हुआ **(सिज्झदि)** सिद्ध होता है।

गाथार्थ–''यह जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही जीवित रहता है, अकेले का ही मरण होता है और अकेला ही कर्मरहित होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है ॥१०१॥''

टीकार्थ–यह जीव नित्य और तद्भव दोनों प्रकार के मरणों में किसी की सहायता के बिना व्यवहारनय की अपेक्षा अकेला ही मरता है, सादि-सान्त, मूर्तिक, विजातीय विभाव व्यंजन रूप नर-नारकादि पर्यायों की उत्पत्ति होने पर निकटगत पदार्थ को विषय करने वाले अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय की विवक्षा से स्वयं ही जीवित रहता है, समस्त बन्धुजनों के द्वारा रक्षा की जाने पर भी प्रबल पराक्रमी इस जीव का बिना चाहा मरण भी स्वयं होता है, और यह अकेला ही परम गुरुओं के प्रसाद से प्राप्त हुए स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से अपने आत्मा का ध्यान कर कर्मरहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

ऐसा ही कहा है–''यह जीव स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही उनका फल भोगता है, स्वयं ही संसार में घूमता है और स्वयं ही उनसे विमुक्त होता है।''

है जीव एक मरता जग में मुधा है, है एक ही जनमता रहता सदा है।
हो एक का मरण भी जब अन्त वेला, हो मुक्त, कर्मरज से तब भी अकेला ॥१०१॥

उक्तं च श्रीसोमदेवपण्डितदेवैः —

वसन्ततिलका

''एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं नटपेटकं ते॥''

तथा हि —

मन्दाक्रान्ता

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम्।
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥१३७॥

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम् —

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

ऐसा ही श्रीसोमदेव पण्डिताचार्य ने कहा है–''हे आत्मन्! अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए तू अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। तेरे सुख और दुःख के कार्य में अन्य कोई कभी भी सहायक नहीं हो सकता। यह सब नटों का समूह अपनी आजीविका के लिए ही तेरे पास इकट्ठा हुआ है।''

टीकाकार कहते हैं–''यह जीव प्रबल पापकर्म के उदय से जन्म और मरण को अकेला ही प्राप्त होता है। तीव्र मोह के उदय से स्वसुख से विमुख हो रहा है अतः इसे अकेले ही द्विविध कर्मोदय के फल स्वरूप उत्तम सुख और दुःख इन दोनों को बार-बार भोगना पड़ता है और जब कभी गुरुओं के प्रसाद से इस अनुपम एकत्व तत्त्व को पा लेता है तब अकेला ही उसमें स्थिर रहता है ॥१३७॥''

अब एकत्व भावना में परिणत हुए सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण कहते हैं–

अन्वयार्थ–(मे) मेरा **(अप्पा)** आत्मा **(एगो)** एक है **(सासदो)** शाश्वत है **(णाण दंसण लक्खणो)** ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है **(सेसा)** शेष **(सव्वे भावा)** सभी भाव **(मे)** मुझसे

पूरा भरा दृग विबोधमयी सुधा से, मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे, रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे॥१०२॥

(यः) अखिलसंसृतिनन्दनतरुमूलालवालाम्भःपूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्संस्थितकलेवरसंभव-हेतुभूत-द्रव्यभावकर्माभावादेकः, य (श्च) यस्त्रिकालनिरुपाधिस्वभावत्वात् निरावरणज्ञानदर्शनलक्षण-लक्षितः कारण-परमात्मा[१] स एव निखिलकर्मक्रियाकाण्डाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहज-शुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुञ्जानः सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपस्तिष्ठति। ये शुभाशुभकर्मसंयोग-संभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे; मम निश्चयः इति।

मालिनी

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः
किमिह बहुविकल्पे (पैः) मे फलं बाह्यभावैः ॥१३८॥

आत्मगतदोषनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम् –

जं किंचि मे दुच्चरित्तं तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥

(बाहिरा) बाह्य हैं **(संजोगलक्खणा)** और संयोग लक्षण वाले हैं।

गाथार्थ–''ज्ञान-दर्शन लक्षण से सम्पन्न एक, नित्य, आत्मा ही मेरा है, संयोग से उत्पन्न होने वाले अन्य समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं, भिन्न हैं ॥१०२॥''

जो समस्त संसाररूपी नन्दनवन के वृक्षमूल की क्यारियों को भरने वाली जलप्रवाह से परिपूर्ण प्रणाली की तरह शरीर की पुनः उत्पत्ति के कारणभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म का अभाव हो जाने से एक है और जो तीनों कालों में निरुपाधि स्वभाव होने के कारण निरावरण ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त है, कारणपरमात्मा रूप है, वही समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर और अनेक विकल्पों के कोलाहल से रहित भावशुद्ध ज्ञानचेतना का मानसिक उपभोग करता हुआ शाश्वत है, नित्य है तथा उपादेय है, इसके सिवाय शुभ-अशुभकर्मों के संयोग से होने वाले बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह रूप जितने भी भाव हैं वे सब बाह्य हैं, मुझसे भिन्न हैं, ऐसा मेरा निश्चय है।

टीकाकार कहते हैं कि–''वह एक परमात्मा ही मेरा है, जो कि नित्य है, स्वाभाविक-उत्कृष्ट चैतन्य-चिन्तामणि स्वरूप है, अत्यन्त शुद्ध है एवं सीमा रहित स्वकीय दिव्यज्ञान और दिव्यदर्शन से सम्पन्न है। अनेक विकल्पों से भरे हुए बाह्य भावों से मेरा क्या प्रयोजन है? ॥१३८॥''

जो भी दुराचरण है मुझमें दिखाता, वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं, तो बार-बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥१०३॥

---

१. प्राप्त प्रतियों में यह पेराग्राफ 'कर्म्माभावादेकः' के बाद मुद्रित है परन्तु अर्थसंगति की दृष्टि से मुझे यहीं उचित मालूम होता है।

भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसञ्चितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत् (तत्) सर्वं मनोवाक्कायशुद्ध्या संत्यजामि। सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्ध्यभिधानभेदाभिधम्। अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि; नवपदार्थ-परद्रव्य-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभाव-रत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः। किं च, भेदोपचारचारित्रम् अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वविमल (तत्त्वाविचल) स्थितिरूपसहजनिश्चय-चारित्रं निराकारतत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्र मिति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्।

वसन्ततिलका

''द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥''

अब यह आत्मा में स्थित दोषों से छूटने के उपाय का कथन है–

अन्वयार्थ–(जं किंचि) जो कुछ भी **(मे)** मेरा **(दुच्चरित्तं)** दुश्चरित है **(तं सव्वं)** उन सबको **(तिविहेण)** तीनों प्रकार से **(वोस्सरे)** छोड़ता हूँ **(तु)** और **(तिविहं)** तीन प्रकार की **(सव्वं)** पूर्ण **(णिरायारं)** निर्विकल्प **(सामाइयं)** सामायिक **(करेमि)** करता हूँ।

गाथार्थ–''मेरा जो कुछ भी दुश्चरित्र है, मैं उस सबको मन, वचन, काय से छोड़ता हूँ और तीन प्रकार के निराकार सामायिक को सब तरह से करता हूँ ॥१०३॥''

टीकार्थ–यद्यपि मैं भेदविज्ञानी हूँ और परमतप रूप धन से युक्त हूँ, तथापि पूर्व संचित कर्मोदय के बल से चारित्रमोह का उदय होने पर जो कुछ भी दुश्चरित्र मेरे हो जाता है, मैं उस समस्त दुश्चरित्र का मन, वचन, काय की शुद्धि के द्वारा त्याग करता हूँ और तीन प्रकार का सामायिक करता हूँ। यहाँ सामायिक शब्द से सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि नाम का चारित्र कहा गया है। अथवा जघन्य रत्नत्रय को उत्कृष्ट रत्नत्रय करता हूँ। अथवा नव पदार्थ रूप परद्रव्य के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण स्वरूप साकार रत्नत्रय को स्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप स्वभाव रत्नत्रय की स्वीकारता से निराकार अर्थात् शुद्ध करता हूँ। अथवा भेदोपचार रूप चारित्र को अभेदोपचार रूप करता हूँ। अथवा अभेदोपचार को अभेदानुपचार रूप करता हूँ। इस प्रकार तीन प्रकार के सामायिक को आगे-आगे के भेदों की स्वीकारता से सहज परम तत्त्व में अविचल स्थिति रूप सहज निश्चयचारित्र को करता हूँ। अथवा निराकार, निर्विकल्पक तत्त्व में निरत-लीन होने के कारण निराकार चारित्र को करता हूँ।

ऐसा ही प्रवचनसार की व्याख्या में कहा गया है कि–''चूँकि आचरण द्रव्य के अनुसार होता है और द्रव्य आचरण के अनुसार रहता है, इस प्रकार ये दोनों परस्पर में सापेक्ष हैं, इसलिए मोक्षाभिलाषीजन चाहे द्रव्य की अपेक्षा से और चाहे आचरण की अपेक्षा से मोक्षमार्ग में अधिरूढ़ हों।''

तथा हि –

अनुष्टुप्

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम्।
यतन्ते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥१३९॥

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता –

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहिं पडिवज्जए ॥१०४॥

विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेदविज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता; मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं; सहजवैराग्यपरिणतेः न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधिं प्रपद्येऽहमिति।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त हो रही है, ऐसे मुनिजन दुःखदायी यमराज के नाश के कारणभूत चारित्र के प्रति प्रयत्नशील रहते हैं–उत्तमचारित्र धारण करने का प्रयत्न करते हैं ॥१३९॥''

यहाँ अन्तरंग की ओर प्रवृत्ति करने वाले परम तपस्वी के भावशुद्धि कही गई है –

अन्वयार्थ–(मे) मेरा **(सव्वभूदेसु)** सभी जीवों में **(सम्मं)** साम्य है **(वेरं)** वैर **(मज्झं)** मेरा **(केण वि)** किसी से भी **(ण)** नहीं है **(आसाए)** आशा को **(वोसरित्ता)** छोड़कर **(णं)** निश्चित ही **(समाहिं)** समाधि को **(पडिवज्जए)** प्राप्त करता हूँ।

गाथार्थ–''मेरा समस्त प्राणियों पर समताभाव है, मेरा किसी भी प्राणी के साथ बैर नहीं है। मैं सब प्रकार की आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त होता हूँ ॥१०४॥''

टीकार्थ–जिसके समस्त इन्द्रियों के व्यापार छूट गये हैं ऐसे मेरे भेदविज्ञान से रहित और सहित समस्त जीवों में समता परिणाम है। शत्रु और मित्र रूप परिणति का अभाव होने से मेरा न किसी के साथ बैर है और सहज वैराग्यरूप परिणति होने से न मेरे कुछ आशा ही है, अतः मैं परमसमरसीभाव से सहित समाधि को–निर्विकल्पकदशा को प्राप्त होता हूँ।

ना वैरभाव मम हो जग में किसी से, हो साम्य-भाव त्रस स्थावर से सभी से।
आशा सभी तरह की तजना कहाती, सच्ची समाधि अनुपाधि मुझे सुहाती ॥१०४॥

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः –

वसन्ततिलका

''मुक्त्वालसत्वमधिसत्वबलोपपन्नःस्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्णमज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि॥''

तथा हि –

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम्।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम् ॥१४०॥

हरिणी

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चैः सालङ्क्रिया जगतामपि ॥१४१॥

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत् –

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

ऐसा ही श्री योगीन्द्रदेव ने कहा है–''हे बन्धु! स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू आलस्य छोड़कर, उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके अज्ञानी मंत्री सहित मोह शत्रु का नाश करने वाले इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।''

''मैं उस समताभाव की निरन्तर भावना करता हूँ, जो कि मुक्तिरूपी ललना की सखी है, मोक्षसुख का मूल कारण है, खोटी-खोटी भावनाओं रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए चन्द्रमा के समान है, स्वयं उत्कृष्ट है और संयमी जन जिसे निरन्तर चाहते हैं ॥१४०॥''

टीकाकार कहते हैं–''वह समता निरन्तर जयवन्त रहे जो मुनियों को भी दुर्लभ है, आत्मसुख रूपी उत्कृष्ट समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान है, परम संयमी मुनियों की दीक्षा रूपी स्त्री के मन को प्रसन्न करने वाली प्रिय सखी के समान है, श्रेष्ठ मुनियों तथा अखिल संसार का उत्तम आभूषण है ॥१४१॥''

साधू कषाय तज इंद्रिय जीत होता, संसार के दुखन से भयभीत होता।
सारे परीषह सहे नित अप्रमादी, हो प्रत्यख्यान उसका गुरु ने बतादी ॥१०५॥

सकलकषायकलङ्कपङ्क विमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिल-परीषह-महाभटविजयोपार्जितनिज शूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरण निरतशुद्धभावस्य संसारदु:खभीतस्य व्यवहारेण चतुराहारविवर्जनं प्रत्याख्यानम्। किंच पुन: व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्र-मोहोदयहेतुभूत-द्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित् संभवति। अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्य-जीवानाम्; यत: स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथान्धपाषाणस्येति। तत: संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चय (नय) प्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोह-रागद्वेषादिविविधविभावानां परिहार: परमार्थप्रत्याख्यानम्, अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्प-परित्याग: शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यानम् इति।

हरिणी

यह निश्चयप्रत्याख्यान के योग्य जीव के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(णिक्कसायस्स) निष्कषाय **(दंतस्स)** दान्त **(सूरस्स)** शूर **(ववसायिणो)** व्यवसायी **(संसार-भय भीदस्स)** और संसार से भयभीत है उसे **(पच्चक्खाणं)** प्रत्याख्यान **(सुहं)** सुखपूर्वक **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो कषायरहित है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूरवीर है, उद्योगी है और संसार के भय से भीत है, उसी के सुख रूप प्रत्याख्यान होता है ॥१०५॥''

टीकार्थ–जो समस्त कषाय रूपी कलंक की कीच से रहित है, जिसने समस्त इन्द्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेने से परम जितेन्द्रियता प्राप्त की है, जिसने समस्त परिग्रह रूपी महायोद्धाओं पर विजय पा लेने से अपने शूरवीरता रूप गुण को प्रकट किया है, जिसका शुद्धभाव उत्कृष्ट निश्चय तपश्चरण में लीन है और जो संसार के दु:ख से भयभीत है, ऐसे मुनि के जो चार प्रकार के आहार का त्याग होता है, वह व्यवहार की अपेक्षा प्रत्याख्यान है। चूँकि यह व्यवहारप्रत्याख्यान कभी चारित्रमोह के उदय के कारणभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म के क्षयोपशम से कहीं मिथ्यादृष्टि जीव को भी हो जाता है। अत: निश्चयनय का प्रत्याख्यान ही हितकारी है यह निश्चय प्रत्याख्यान अत्यन्त निकट भव्य जीवों के ही होता है। यह कथन ठीक भी है, क्योंकि स्वर्णपाषाण में जैसी उपादेयता है वैसी अन्धपाषाण में नहीं है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्तता होना निश्चयनय के प्रत्याख्यान का कारण है। आगामी काल में संभव होने वाले समस्त मोह, राग, द्वेष आदि अनेक प्रकार के विभाव भावों का त्याग करना वास्तविक प्रत्याख्यान है अथवा भविष्यत्काल में होने वाले अनेक प्रकार के अन्तर्जल्पों का त्याग करना शुद्धनिश्चय प्रत्याख्यान है।

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्वाणसौख्यकरं परम्।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ॥१४२॥

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोऽयम् —

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥१०६॥

यः श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्‌गलयोरनादिबन्धन-सम्बन्धयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति।

रथोद्धता

टीकाकार कहते हैं कि–''हे मुनिप्रधान! यह प्रत्याख्यान निरन्तर जयवन्त रहे जो कि जिनेन्द्र भगवान् के मत में समुद्‌भूत है, परम संयमियों के मोक्ष सुख का कारण है, स्वाभाविक समता रूपी देवी के कानों का उत्तम आभूषण है और तुम्हारी दीक्षा रूपी स्त्री के यौवन का कारण है। इसे तुम ध्यान से सुनो ॥१४२॥''

यह निश्चयप्रत्याख्यान का वर्णन करने वाले अध्याय का उपसंहार है–

अन्वयार्थ–(एवं) इस प्रकार **(जो)** जो **(जीवकम्मणो)** जीव-कर्म का **(भेदब्भासं)** भेदाभ्यास **(णिच्चं)** नित्य **(कुव्वइ)** करता है **(सो)** वह **(संजदो)** संयत **(णियमा)** नियम से **(पच्चक्खाणं)** प्रत्याख्यान **(धरिदुं)** धारण करने के लिए **(सक्कदि)** समर्थ है।

गाथार्थ–''इस प्रकार जो निरन्तर जीव और कर्मों के भेद का अभ्यास करता है, वही संयमी नियम से प्रत्याख्यान को धारण कर सकता है ॥१०६॥''

टीकार्थ–जो पुरुष श्रीमान् अर्हन्त भगवान् के मुखकमल से प्रकट हुए परमागम के अर्थ के विचार करने में समर्थ होता हुआ अनादिकालीन बन्धन से बँधे हुए अशुद्ध जीव और कर्मरूप पुद्‌गलद्रव्य में अपने भेदभावना के अभ्यास के बल से परस्पर भेद करता है-दोनों को जुदा-जुदा अनुभव करता है, वही परम संयम का धारक निश्चय तथा व्यवहार रूप प्रत्याख्यान को स्वीकृत करता है।

यों जीव भेद, विधि भेदन का सुचारा, अभ्यास है कर रहा जग को विसारा,
सो संयती नियम से बस धार पाता, है प्रत्यख्यान पद को भव पार जाता ॥१०६॥

भाविकालभवभावनिवृत्तःसोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥१४३॥

स्वागता

घोरसंसृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्त्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥१४४॥

मन्दाक्रान्ता

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानन्दचिन्निष्ठबुद्धेः।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा ॥१४५॥

शिखरिणी

महानन्दानन्दो जगति विदितः शाश्वतमयः
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे।
अमी विद्वान्सोऽपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः
कथं काङ्क्षन्त्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः ॥१४६॥

मन्दाक्रान्ता

टीकाकार कहते हैं कि–''आगामी काल में होने वाले रागादि भावों से निवृत्त हुआ मुनियों का स्वामी प्रतिदिन अपनी कालुषता को दूर करने के लिए समस्त सुखों के भण्डार स्वरूप अपने निर्मल स्वरूप का ''सोऽहं'' मैं वही हूँ इस प्रकार अनुभवन, चिन्तन करे ॥१४३॥''

''चूँकि जिनेन्द्र भगवन् के इस परम तत्त्व को भयंकर संसार रूपी समुद्र के बीच शोभायमान जहाज कहा है अतः मैं मोह को जीत कर इसी परम तत्त्व की निरन्तर भावना करता हूँ ॥१४४॥''

''यह प्रत्याख्यान उसी के होता है जो निरन्तर निर्मल चारित्र की मूर्तिस्वरूप बन कर रहता है और जिसकी बुद्धि भ्रम के नष्ट हो जाने से एक सहज परमानन्दरूप चैतन्य में स्थित रहती है। अन्य आगम में लीन अन्य साधुओं का इस ओर मुखदान नहीं हो सकता। इसके बिना जीवों के भयंकर संसार की प्राप्ति होती रहती है ॥१४५॥''

''वह जगत्प्रसिद्ध तथा नित्य रहने वाला उत्कट आनन्द का समूह निर्मल गुणों के धारक सिद्ध परमेष्ठी में निश्चित रूप से निवास करता है। फिर काम के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल हुआ कलिकाल के फेरे ये मन्दबुद्धि विद्वान् उसकी यहाँ इच्छा कैसे करते हैं?'' ॥१४६॥

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसान्द्राटवीवह्निरूपम्।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूलनित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ॥१४७॥

मालिनी

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत्।
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ॥१४८॥

पृथ्वी

अखण्डितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवाम्बुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम्।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ॥१४९॥

''प्रत्याख्यान से मुनियों में वह अतिशय स्पष्ट और अत्यन्त शुद्ध सम्यक् चारित्र प्रकट होता है जो कि पापरूपी वृक्षों की सघन अटवी को जलाने के लिए अग्नि स्वरूप है। जबकि यह बात है तब हे भव्य श्रेष्ठ! तुम शीघ्र ही उस अनुपम चारित्र को अपने हृदय में धारण करो जो कि सहज सुख को देने वाला है और मुनियों के शील का मूल कारण है ॥१४७॥''

''वह सहज तत्त्व जयवन्त रहे जो कि तत्त्वज्ञान में निपुण मनुष्य के हृदय रूपी कमल के भीतर स्थित होता है और उस सहज तेज की भी जय हो जिसने कि मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है एवं जो आत्मानन्द के समूह से देदीप्यमान सम्यग्ज्ञान के प्रकाश रूप है ॥१४८॥''

''मैं आनन्द के साथ उसी सहज तत्त्व को बार-बार नमस्कार करता हूँ जो कि अखण्डित है, सदा समस्त दोषों से दूर रहता है, उत्कृष्ट है, संसार रूपी समुद्र में निमग्न जीव समूह के लिए जहाज के तुल्य है और अतिशय दुःखरूपी दावानल को बुझाने के लिए जल के समान है ॥१४९॥''

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम्।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभि:
नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुच्चैरद: ॥१५०॥
प्रणष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम्।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरप्रणाशात्मकं
प्रवृद्धगुणमन्दिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुम: ॥१५१॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसार-व्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार: षष्ठ: श्रुतस्कन्ध:॥

''मैं उस उत्कृष्ट सहजतत्त्व को नमस्कार करता हूँ जो कि जिनेन्द्र भगवान् के मुख कमल से ज्ञात हुआ है, स्वरूप में स्थित है, बड़े-बड़े मुनियों के मन रूपी घर के मध्य रखे हुए मणिमय दीपक के समान प्रभायुक्त है, दर्शनमोह आदि को जीतने वाले योगी जिसे नमस्कार करते हैं और जो समस्त सुखों का मन्दिर है ॥१५०॥''

''मैं उस परमतत्त्व की स्तुति करता हूँ जिसने कि पापों के समूह को नष्ट कर दिया है, पुण्य कर्म के समूह को भी नष्ट कर दिया है, काम आदि को दूर कर दिया है, जो स्थिरीभूत सम्यग्ज्ञान का कुलभवन है, तत्त्वज्ञानियों का समूह जिसे प्रणाम करता है, जो स्वयं अविनश्वर है, बढ़ते हुए गुणों का मन्दिर है और मोहरूपी रात्रि को हरने वाला है ॥१५१॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और पंचेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नाम का षष्ठ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

७.

परमालोचनाधिकारः

आलोचनाधिकार उच्यते –

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत् –

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि, ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-मोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि। कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्ध-निश्चय-द्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम्। मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकादि-व्यंजनपर्यायाश्चैव विभाव-पर्यायाः। सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाश्च। एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं,

---

यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(णोकम्म-कम्म-रहियं) नोकर्म-द्रव्यकर्म से रहित **(विहाव-गुणपज्जएहिं)** विभाव गुण पर्यायों से **(वदिरित्तं)** भिन्न **(अप्पाणं)** आत्मा को **(जो)** जो **(झायदि)** ध्याते हैं **(समणस्स)** उन श्रमण के **(आलोयणं)** आलोचना **(होदि)** होती है।

गाथार्थ–''जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभावगुण और विभावपर्यायों से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करता है उस साधु के आलोचना होती है ॥१०७॥''

टीकार्थ–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर नोकर्म हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय आयु, नाम और गोत्र ये द्रव्यकर्म हैं। कर्मरूप उपाधि से निरपेक्ष सत्तामात्र को ग्रहण करने वाले शुद्ध निश्चय रूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से यह आत्मा इन नोकर्म और द्रव्य कर्मों से रहित है। मतिज्ञान आदि विभावगुण हैं और नर-नारकादि व्यञ्जनपर्याय विभावपर्याय हैं। जो साथ उत्पन्न हों उन्हें गुण कहते हैं और जो क्रम से उत्पन्न हों उन्हें पर्याय कहते हैं। शुद्ध आत्मा इन सभी विभावगुणों और विभावपर्यायों से रहित है तथा स्वाभाविक गुणों और स्वाभाविक पर्यायों से सहित है। इस प्रकार त्रिकाल में निरावरण रहने

नो-कर्म-कर्म बिन शाश्वत है सुहाता, होता विभावगुण पर्यय हीन साता।
ऐसी निजात्म छवि का यदि ध्यान ध्याता,आलोचना श्रमण वो उरधार पाता ॥१०७॥

स्वभावगुणपर्यायैः संयुक्तं, त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनापराङ्मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः –

आर्या

''मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥''

उक्तं चोपासकाध्ययने –

''आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

वाले कल्मषरहित निज परमात्मा का जो महामुनि गुप्तित्रय से गुप्त परमसमाधि के द्वारा निरन्तर ध्यान करता है और ध्यान रूप अनुष्ठान के समय वचन रचना से पराङ्मुख रहता है, उसी भावश्रमण-सच्चे साधु के निश्चयनय की अपेक्षा आलोचना होती है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि–''यह उदयागत समस्त कर्मों का समूह मोह के विलास से ही समुत्पन्न है, ऐसा विचार कर मैं कर्मरहित चैतन्यरूप निज आत्मा में ही निरन्तर लीन रहता हूँ।''

ऐसा ही उपासकाध्ययन में भी कहा है कि–''कृत, कारित और अनुमोदित समस्त पापों की निश्छल आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे।''

टीकाकार कहते हैं कि–''इस भयंकर संसार के मूल कारण स्वरूप पुण्य और पाप की बार-बार आलोचना कर मैं स्वाभाविक-स्वच्छगुणों से युक्त अपने शुद्ध आत्मा का आलम्बन करता हूँ और इसके बाद ही द्रव्यकर्म स्वरूप समस्त कर्म प्रकृतियों का नाशकर स्वाभाविक सम्यग्ज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त होता हूँ॥१५२॥''

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् –

आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥१०८॥

भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभगसुन्दरानन्दनिष्यन्दानक्षरात्मकदिव्यध्वनि-परिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमलविनिर्गतचतुरसन्दर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थ-सार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमालोचनायाश्चत्वारोविकल्पा भवन्ति। ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति।

इन्द्रवज्रा

आलोचनाभेदममुं विदित्वा
मुक्त्यङ्गनासङ्गमहेतुभूतम्।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः
तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

यह आलोचना के लक्षण और भेदों का कथन है–

अन्वयार्थ–(आलोयणं) आलोचन **(आलुंछण)** आलुंछन **(वियडीकरणं च)** अविकृतिकरण और **(भावसुद्धी य)** भावशुद्धि **(चउविहं)** चार प्रकार से **(इह)** यहाँ **(आलोयणलक्खणं)** आलोचना का लक्षण **(समए)** आगम में **(परिकहियं)** कहा है।

गाथार्थ–''आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि इस प्रकार आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा है ॥१०८॥''

टीकार्थ–''श्री अर्हन्त भगवान् के मुखकमल से निकली हुई, समस्त जन समूह के कानों को प्रिय और सुन्दर आनन्द को झराने वाली अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि के समझने में निपुण एवं मनःपर्ययज्ञान के धारक श्री गौतम महर्षि के मुखकमल से प्रकट, उत्तम शब्द विन्यास से युक्त सिद्धान्तादि समस्त शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थ समुदाय का सार ही जिसका सर्वस्व है, ऐसी शुद्ध निश्चयरूप परम आलोचना के चार भेद हैं और उनका आगामी चार गाथाओं द्वारा उल्लेख होगा।''

टीकाकार कहते हैं कि–''मुक्तिरूपी स्त्री के समागम के कारणभूत इस आलोचना के रहस्य को समझकर जो भव्यजीव अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है, उस स्वरूपावस्थायी को मेरा नमस्कार हो ॥१५३॥''

आलोचना अविकृती करुणा निराली, आलुंचना विमलभाव विशुद्धि प्यारी।
आलोचना चउविधा जिन शास्त्र गाता, जो भी धरे परम पावन पात्र पाता ॥१०८॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता —

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिंडीरपिण्डपरिपाण्डुरमण्डनमण्डलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यपूर्वं निरंजननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखं स्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति; किं कृत्वा? पूर्वं निजपरिणामं समतावलम्बनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति, तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथम-विकल्पोऽयमिति।

स्रग्धरा

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं ह्यात्मना पश्यतीत्थं
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति।

यहाँ आलोचना के द्वारा परम समता रूप भावना का कथन किया गया है –

अन्वयार्थ—(जो) जो **(परिणामं)** परिणाम को **(समभावे)** समभाव में **(संठवित्तु)** संस्थापित करके **(अप्पाणं)** आत्मा को **(पस्सदि)** देखता है **(इदि)** इस प्रकार इसे **(आलोयणं)** आलोचना **(जाणह)** जानो **(परमजिणिंदस्स)** परम जिनेन्द्रदेव का **(उवएसं)** यह उपदेश है।

गाथार्थ—''जो समताभाव में अपने परिणाम रखकर आत्मा का अवलोकन करता है उसी के आलोचना होती है ऐसा यह श्री जिनेन्द्रदेव का उपदेश जानो ॥१०९॥''

टीकार्थ—स्वाभाविक वैराग्य रूपी अमृतमय समुद्र के फेनसमूह रूप सफेद आभूषणों के समूह को बढ़ाने के लिए पूर्णचन्द्र की तुलना करने वाला जो तत्त्ववेत्ता, सदा अन्तर्मुखाकार रहने वाले पूर्ण निर्मल आत्मज्ञान के भण्डार स्वरूप कारणपरमात्मा का समग्र रूप से स्व-स्वभाव में निरत सहज आलोचना के द्वारा निरन्तर अवलोकन करता है। क्या करके? पहले निज परिणामों को समतावलम्बी करके। अर्थात् उपर्युक्त तत्त्ववेत्ता परम संयमी होकर जो स्व-स्वरूप का अवलोकन करता है। हे शिष्य! उसे ही तू आलोचना का स्वरूप जान। श्रीजिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप सूर्य के द्वारा प्रकाशित आलोचना के चार विकल्पों में यह पहला विकल्प है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार जो आत्मा अपने आत्मा में स्थिर रहने वाले अपने आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा देख रहा है, जो थोड़े ही समय में विशाल सुख से युक्त मुक्तिरूपी लक्ष्मी के विलासों को प्राप्त होने वाला है और जो देवेन्द्र, साधुओं के समूह, विद्याधरों

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे, वे साम्य के सदन में सहसा सुहावे।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में, आलोचना बस यही जिन-देशना में ॥१०९॥

सोऽयं वन्द्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
चिद्रूपं (तं वन्दे) सर्ववन्द्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥१५४॥

मन्दाक्रान्ता

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुञ्जः पुराणः ।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥१५५॥

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपञ्चमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः ।

पृथ्वी

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥१५६॥

और भूमिगोचरियों के द्वारा वन्दनीय है, मैं भी सबके द्वारा वन्दनीय और समस्त गुणों के भण्डार स्वरूप उस शुद्ध आत्मा को उसके गुणों की प्राप्ति की इच्छा से वन्दना करता हूँ ॥१५४॥''

''जो आत्मा परम संयमी मुनियों के हृदयरूपी कमल के मध्य में स्पष्ट है, जिसने अपनी ज्ञान रूपी ज्योति के द्वारा पाप रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अतिशय प्राचीन अथवा श्रेष्ठ है और जो संसारी प्राणियों के वचन अथवा मन के मार्ग से परे है, ऐसे इस सर्वोत्कृष्ट शुद्ध आत्मा के विषय में क्या विधि और क्या निषेध होगा? ॥१५५॥''

इस प्रकार इस पद्य के द्वारा परमयोगीराज श्री जिनेन्द्रदेव व्यवहार आलोचना के प्रपञ्च का उपहास करते हैं –

''यह पाप रहित चैतन्यरूप सर्वोत्कृष्ट शुद्धात्मतत्त्व जयवन्त हो जिसने कि समस्त इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न कोलाहल का त्याग कर दिया है, जो नय और अनय के समूह से दूर हैं, योगियों का विषय है–योगीगण जिसे जानते हैं, सदा आनन्दरूप है, उत्कृष्ट है और अज्ञानियों से अत्यन्त दूर हैं ॥१५६॥''

मन्दाक्रान्ता

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्धो (बुद्ध्वा) भव्य: परमगुरुत: शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयामीत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥१५७॥

वसन्ततिलका

निर्मुक्तसङ्गनिकरं परमात्मतत्त्वं निर्मोहरूपमनघं परभावयुक्तम् (मुक्तम्)।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ॥१५८॥
त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ॥१५९॥

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत् –

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

''चूँकि भव्य प्राणी श्री परम गुरु की कृपा से आत्मसुखरूपी अमृत के समुद्र में निमग्न रहने वाले इस शुद्ध आत्मा को समझकर अविनाशी - मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है इसलिए मैं भी उस सर्वोत्कृष्ट अभूतपूर्व शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करता हूँ जो कि भेद का अभाव हो जाने पर प्रकट होता है, सहज है और मोक्ष में उत्पन्न होने वाले सुख से शुद्ध है ॥१५७॥''

''जिसने समस्त परिग्रह का समूह छोड़ दिया है, जो मोह रहित है, निष्पाप है और पर-परिणति से रहित है, उस परमात्मा की मैं भावना करता हूँ और मुक्ति रूपी वनिता के आत्मोत्थ आनन्द के लिए उसी परमात्मा को निरन्तर प्रणाम करता हूँ ॥१५८॥''

''मैं निजभाव से भिन्न समस्त विभावभाव का त्याग कर चैतन्यमात्र, निर्मल एक शुद्धात्मा का ही चिन्तन करता हूँ और संसार समुद्र से पार होने के लिए अभेदरूप तथा मुक्ति के मार्ग स्वरूप उसी शुद्ध आत्मा की निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥१५९॥''

यह परमभाव का निरूपण है–

अन्वयार्थ–(कम्ममहीरुहमूलच्छेद-समत्थो) कर्मरूपी वृक्ष के मूल का छेद करने में समर्थ **(सकीयपरिणामो)** स्वकीय परिणाम **(साहीणो)** स्वाधीन और **(समभावो)** स्वभाव रूप है

ऐसा अपूर्व बल को वह धारता है, आमूल कर्ममय वृक्ष उखाड़ता है।
स्वाधीन साम्य-मय भाव स्वकीय होता, आलुंचना वह रहा भजनीय होता ॥११०॥

भव्यस्यपारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभाव: औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचर: स पञ्चमभाव:। अत एवोदयोदीरणक्षयक्षयोपशम (मोपशम) विविधविकारविवर्जित:। अत: कारणाद-स्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम्। निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थ: त्रिकालनिरावरणनिजकारण परमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुदृष्टेरयं परमभाव: सदा निश्चयतो विद्यमानोऽप्यविद्यमान एव। नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन (विद्यमानोऽपि) स परमभाव: अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न संभवति। यथा मेरोरधोमार्गस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमभावस्वभावत्वं, वस्तुनिष्ठं, न व्यवहारयोग्यम्। सुदृशामत्यासन्न-भव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभाव: सदा निरंजनत्वात्; यत: सकलकर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलन-समर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवालुंछनाभिधानम् अनेन परमपञ्चमभावेन अत्यासन्नभव्य-जीवस्य सिध्यतीति।

(इदि) इस प्रकार **(आलुंछणं)** आलुंछन **(समुद्दिट्ठं)** कहा गया है।

गाथार्थ—''कर्मरूपी वृक्ष की जड़ के काटने में समर्थ अपने आत्मा का जो स्वाधीन समभाव रूप परिणाम है वह आलुंछन कहा गया है ॥११०॥''

टीकार्थ—भव्यत्व नामक पारिणामिक भावरूप से परिणमन करने वाला जीव का जो पाँचवां पारिणामिकभाव है, वही परमस्वभाव है। यह परमस्वभाव औदायिक आदि चार विभाव भावों का अगोचर है—उनका विषय नहीं है और चूँकि कर्मों का उदय-उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम और उपशम रूप विविध विकारों से रहित है अत: इसी एक के परमत्व-उत्कृष्टपना सिद्ध है और बाकी चार विभाव भावों के अपरमत्व-अनुत्कृष्टपना। यह परमस्वभाव समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष की जड़ के काटने में समर्थ है। यह परमभाव निश्चयनय की अपेक्षा यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीव के भी विद्यमान रहता है परन्तु तीन काल में निरावरण रहने वाले कारणपरमात्मा के स्वरूप श्रद्धान के प्रतिपक्षी तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय के बल से अविद्यमान की तरह ही रहता है। इसी प्रकार नित्य निगोदिया जीवों के भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यद्यपि वह परमभाव विद्यमान रहता है परन्तु निरन्तर अभव्य पारिणामिकभाव रूप परिणमन होने से वह असंभव के समान ही है। जिस प्रकार मेरुपर्वत के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि में सुवर्णपना रहता तो है, परन्तु कभी व्यवहार में—उपयोग में नहीं आता इसी प्रकार अभव्यजीवों के परमभावरूप स्वभाव का होना वस्तु स्वभाव की अपेक्षा संभव तो है परन्तु व्यवहार के योग्य नहीं है। हाँ, अत्यन्त निकट भव्य-सम्यग्दृष्टि जीवों का यह परम स्वभाव अवश्य ही सफल होता है, क्योंकि वह सदा निरंजन रूप है और समस्त कर्मरूपी तीव्र विषवृक्ष की विस्तृत जड़ों के उखाड़ने में समर्थ है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि अत्यन्त निकट भव्यजीव के इस पञ्चम परमभाव के रहने से निश्चय परमालोचना का 'आलुंछन' नामक विकल्प संभव होता है।

मन्दाक्रान्ता

एको भावः स जयति सदा पञ्चमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥
आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुम्भमण्डलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ॥१६१॥

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः –

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥१११॥

टीकाकार कहते हैं कि–''वह एक पञ्चम पारिणामिक भाव सदा जयवन्त रहे जो कि अत्यन्त शुद्ध है, कर्मरूपी शत्रुओं के नाश से प्रकट होने वाली आत्मा की स्वाभाविक दशा के द्वारा अवस्थित है, आत्मस्वरूप में स्थिर रहने वाले समस्त संयमी जीवों के मोक्ष का कारण है, एक रूप है, आत्मीय आनन्द के समूह से पूर्ण है, पुण्यरूप है और प्राचीन अथवा श्रेष्ठ है ॥१६०॥''

''यद्यपि ये समस्त प्राणी तीव्रमोह का उदय होने से जब से संसार है तभी से निरन्तर उन्मत्त हो रहे हैं, काम के वश को प्राप्त हो रहे हैं और अपने आत्मा के कार्य में मूढ़ बन रहे हैं तथापि यह निश्चित है कि मोह का अभाव होने से ये उस शुद्ध भाव को प्राप्त हो सकते हैं, जिसमें कि आत्मा की स्वाभाविक अवस्था प्रकट हो जाती है और ज्ञानज्योति के द्वारा समस्त दिग्मण्डल प्रकाशित हो उठता है ॥१६१॥''

यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष का कथन है–

अन्वयार्थ–(मज्झत्थभावणाए) मध्यस्थ भावना से **(विमल-गुण-णिलयं)** विमल गुणों के मन्दिर **(अप्पाणं)** आत्मा को **(कम्मादो)** कर्मों से **(भिण्णं)** भिन्न **(भावेइ)** जो भावना करता है **(त्ति)** इस प्रकार **(वियडीकरणं)** अविकृतिकरण **(विण्णेयं)** जानना चाहिए।

आत्मा स्वकर्म दल से अति भिन्न न्यारा, हीराभ शुभ्र गुणधाम अखिन्न प्यारा।
माध्यस्थभाव धर यों मुनि भा रहा हो, सिद्धान्त में अविकृती-करुणी रहा वो ॥१११॥

यः पापाटवीपावको द्रव्यभावनोकर्मभ्यः सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण-[१](-निलयं मध्यस्थभावनायां भावयति तस्याविकृतिकरण-) अभिधानपरमालोचनायाः स्वरूपमस्त्येवेति।

मन्दाक्रान्ता

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानन्दाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ॥१६२॥
अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहःकलङ्कः।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥१६३॥

गाथार्थ—''जो कर्मों से भिन्न और निर्मल गुणों के स्थान स्वरूप आत्मा का मध्यस्थभावना से ध्यान करता है उसके अविकृतिकरण होता है ऐसा जानना चाहिए ॥१११॥''

टीकार्थ—पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि की तुलना करने वाला जो प्राणी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा का मध्यस्थ भावना से चिन्तन करता है उसके आत्मा के स्वाभाविक गुणों का कथन करने वाली परमालोचना का अविकृतिकरण नामक भेद होता ही है।

टीकाकार कहते हैं कि–''यह आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्म की राशि से सदा भिन्न रहता है, अन्तरंग में शुद्ध है, शम-दम आदि गुण रूपी कमलिनी पर क्रीड़ा करने के लिए राजहंस पक्षी के समान है। मोह का अभाव हो जाने से यह किसी भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है, नित्य सुख आदि अनुपम गुणों से युक्त है और चैतन्य चमत्कार की मूर्ति है ॥१६२॥''

''जिसके भीतर अटूट गुणरूपी मणियों का समूह विद्यमान है और जो अत्यन्त निर्मल है, ऐसे शुद्ध भाव रूपी अमृत के समूह में निरन्तर अवगाहन करने से जिसके पाप रूपी कलंक धुल चुके हैं, जिसने इन्द्रिय समूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है, तथा ज्ञान रूप ज्योति के द्वारा अज्ञान रूप अन्धकार की वृत्ति को भी नष्ट कर दिया है, ऐसा शुद्धात्मा सर्वोत्कृष्ट शोभायमान होता है ॥१६३॥''

---

१. यहाँ पर पाठ त्रुटित होने से कोष्ठकगत पाठ मुद्रित प्रति से लिया गया है।

वसन्ततिलका

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रैर्दुःखादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ॥१६४॥
मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात्।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ॥१६५॥

अनुष्टुप्

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम्।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ॥१६६॥
अनादिमलसंसाररोगस्यदानमुत्तमम्।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥१६७॥

मालिनी

अथ विविधविकल्पं चार (पञ्च) संसारमूलं
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा।
भवमरणविमुक्तं पञ्चमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनयामि प्रत्यहं भावयामि ॥१६८॥

''जबकि यह सारा संसार, संसार के सहभावी-जन्म-मरणादि भयंकर दुःखों से संतप्त हो रहा है तब मुनिराज समताभाव के प्रसाद से शान्तिरूप अमृत से युक्त भारी हिमसमूह को-बर्फ की राशि को प्राप्त होते हैं ॥१६४॥''

''मुक्त जीव कभी भी वैभाविक दशा को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसके कारणभूत पुण्य और पाप का नाश कर चुकता है। इसीलिए मैं भी पुण्य-पापरूप समस्त कर्मों के जाल को छोड़कर एक मोक्षमार्ग में ही प्रयाण करता हूँ ॥१६५॥''

''मैं पौद्गलिक स्कन्धों से युक्त इस संसार की मूर्ति को त्यागकर ज्ञानरूप शरीर से युक्त शुद्ध आत्मा को ही सदा प्राप्त होता हूँ ॥१६६॥''

''शुभ-अशुभभावों से रहित शुद्ध चैतन्य का चिन्तन करना ही अनादिकाल से लगे हुए संसाररूपी मलिन रोग की उत्तम औषधि है ॥१६७॥''

''अब मैं अनेक विकल्पों से युक्त और पञ्चपरिवर्तन रूप संसार का मूल कारणभूत जो शुभ-अशुभकर्म है उसे अत्यन्त भिन्न जानकर जन्म-मरण से रहित एवं पञ्चपरिवर्तन से मुक्ति देने वाले शुद्ध आत्मा का ही निरन्तर स्तवन करता हूँ और उसी की भावना करता हूँ ॥१६८॥''

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम्।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६९॥
जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१७०॥

भावशुद्ध्यभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् –

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

''आदि-अन्तरहित जो आत्मज्योति प्रियवचन बोलने वाले सत्यवादियों को भी प्राप्त नहीं हो सकती उस दुर्लभ आत्मज्योति को गुरुओं के वचनों से प्राप्त कर जो मानव अपनी दृष्टि को शुद्ध बनाता है वह मुक्ति रूपी लक्ष्मी का इष्टपति होता है ॥१६९॥''

''उस शुद्ध-सम्यग्ज्ञान की जय हो, जिसने कि अपने स्वाभाविक तेज से रागरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जो बड़े-बड़े मुनियों के मन का विषय है, अत्यन्त शुद्ध है, विषय सुख में लीन मनुष्यों को दुर्लभ है, उत्कृष्ट सुख का समुद्र है और सदा निद्रारहित रहता है ॥१७०॥''

भावशुद्धिनामक परमालोचना के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शुद्ध निश्चयालोचनाधिकार का उपसंहार करते हैं –

अन्वयार्थ–(मद-माण-माय-लोह-विवज्जियभावो) मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव **(दु)** ही **(भावसुद्धि)** भावशुद्धि है **(त्ति)** ऐसा **(लोया-लोयप्पदरिसीहिं)** लोक-अलोक को देखने वाले भगवान ने **(भव्वाणं)** भव्यों को **(परिकहियं)** कहा है।

गाथार्थ–''मद, मान, माया और लोभ से रहित आत्मा का जो भाव है वह भावशुद्धि है, ऐसा लोक-अलोक को देखने वाले श्रीजिनेन्द्रदेव ने भव्य जीवों के लिए कहा है ॥११२॥''

मायाभिमान-मद-मोह-विहीन होना, है भाव शुद्धि जिससे शिव सिद्धि लोना।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा, सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥११२॥

तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुंवेदाभिधाननोकषायविलासो मदः। अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः। चतुरसन्दर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्ध-कुलजातिविशुद्ध्या वा, शतसहस्रकोटिभटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च, दानादि-शुभकर्मोपार्जितसंपद्वृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीय-कामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः। गुप्तयतो (गुप्तपापतो) माया। युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्व-परिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः। एभिश्चतुर्भिर्वा भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भाव-शुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोकप्रदर्शिभिः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति।

मालिनी

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७१॥

टीकार्थ—तीव्रचारित्रमोहनीयकर्म के उदय के बल से पुंवेदनामक नोकषाय का जो विलास है वह मद कहलाता है। यहाँ मद शब्द से मदन अर्थात् कामसेवन का परिणाम लेना है। चतुरवचनों से युक्त प्रासाद गुणोपेत काव्य निर्माण की शक्ति से, आदेय नामकर्म का उदय होने पर समस्त जनों के द्वारा प्राप्त होने वाली पूज्यता से, माता-पिता सम्बन्धी कुल और जाति की निर्मलता से, एक लाख कोटिभट नामक प्रधान ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से प्राप्त अनुपम बल से, दान आदि पुण्यकार्यों के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के बढ़ने से अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों से एवं सुन्दर स्त्रियों के नेत्रों को आनन्द देने वाले शरीर के सौन्दर्य से अपने आपका अहंकार करना-अपने आपको बड़ा मानना मान कहलाता है। गुप्तरूप से पाप करना माया है और योग्य अवसर में भी धन खर्च नहीं करना लोभ है। यह व्यवहार की अपेक्षा कथन है, निश्चयनय की अपेक्षा समस्त परिग्रह का परित्याग ही जिसका लक्षण है ऐसे निरञ्जन निज परमात्मा को छोड़कर अन्य परमाणुमात्र द्रव्य को स्वीकार करना-अपना समझना लोभ है। इन चार भावों से रहित जो शुद्धभाव है वही भावशुद्धि है, ऐसा लोक-अलोक को देखने वाले, परम वीतराग सुख रूपी अमृत के पान से संतुष्ट भगवान् अरहन्तदेव के द्वारा भव्य जीवों के लिए कहा गया है।

टीकाकार कहते हैं कि-''जो भव्य जीव सब ओर से पर भावों को छोड़कर और जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग में कहे हुए आलोचना के समस्त भेदों को देखकर अपने स्वरूप को समझता है वही मुक्ति रूपी स्त्री का इष्ट पति होता है ॥१७१॥''

वसन्ततिलका

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तिमार्गफलदा यमिनामजस्रम्।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१७२॥

शालिनी

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥१७३॥

स्रग्धरा

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम्।
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ (धेर्ल) लङ्घने यानपात्रम् ॥१७४॥

''जो आलोचना सदा शुद्ध नय रूप है, संयमी जनों को सदा मुक्तिमार्गरूपी फल को देने वाली है और शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत संयमी के लिए निश्चय कर कामधेनु के समान मन वांछित फल देने वाली हो ॥१७२॥''

''जो मोक्षार्थी लोकत्रय का जानने वाले निर्विकल्पक शुद्ध आत्मतत्त्व को जानकर उसकी सिद्धि के लिए शुद्ध शील का आचरण करता है, वह मुक्तिरूपी वल्लभा का स्वामी होता हुआ सिद्धि को प्राप्त होता है ॥१७३॥''

''जो तत्त्व जितेन्द्रिय मुनियों के हृदयरूपी कमल की केशर के मध्य में शोभायमान है, आनन्दयुक्त है, बाधारहित है, विशुद्ध है, कामदेव के बाणों की सघनसेनारूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है, शुद्धज्ञानरूपी दीपक के द्वारा मुनियों के मनरूपी घर के भयंकर अन्धकार को नष्ट करने वाला है, बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा वन्दनीय है और संसाररूपी समुद्र से पार होने में जहाज के समान है, मैं उस शुद्ध आत्मतत्त्व की वन्दना करता हूँ ॥१७४॥''

हरिणी

अभिनवमिदं पापं यायाः (पापाः) समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्विन एव हि।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिण्डमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम् ॥१७५॥
जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम्।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ॥१७६॥
सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम्।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ॥१७७॥

''जो पापी पूर्ण बुद्धिमान होकर भी इस नवीन पाप को करते हैं, उनसे क्या कहें? वे बेचारे तो दयनीय हैं ही। परन्तु जो हृदय में सुशोभित शुद्धज्ञान के पिण्ड स्वरूप इस सर्वोत्कृष्ट पद को जानकर भी पुनः सराग अवस्था-सरागभाव को प्राप्त होते हैं, उनके ऊपर आश्चर्य होता है ॥१७५॥''

''उस सहज तत्त्व की जय हो, जो समस्त तत्त्वों में अविनाशी है, अनाकुल है, सम्यग्दृष्टि जीवों को सदा सुलभ है, देदीप्यमान है, समता का भण्डार है। उत्कृष्ट कला से सहित है, अपने अन्य वर्धमान गुणों के साथ वृद्धि को प्राप्त है, जिसमें सहज-स्वाभाविक दशा प्रकट हो जाती है और जो निरन्तर अपनी महिमा में लीन रहता है ॥१७६॥''

''जो स्वभाव से ही उत्कृष्ट है, सातों तत्त्वों में निर्मल है, सम्पूर्ण निर्मलज्ञान का स्थान है, आवरणरहित है, मंगल रूप है, अत्यन्त उज्ज्वल है, नित्य है, बाह्य प्रपञ्च से पराङ्मुख है और मुनियों के भी मन तथा वचन से दूर है मैं उस शुद्ध आत्मतत्त्व की स्तुति करता हूँ ॥१७७॥''

द्रुतविलम्बित

जयति शान्तरसामृतवारिधि-
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः।
अतुलबोधदिवाकरदीधिति-
प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ॥१७८॥
विजितजन्मजरामृतिसञ्चयः
प्रहतदारुणरोगकदम्बकः।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान्
जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥१७९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः॥

''जो शान्तरसरूपी अमृत के समुद्र को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन उदित होने वाले सुन्दर चन्द्रमा है और जिन्होंने अपने ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के द्वारा मोहरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है वे श्रीजिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त हों ॥१७८॥''

''वे जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों, जिन्होंने कि जन्म, जरा और मृत्यु के समूह को जीत लिया है, भयङ्कर रोगों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो पापरूपी घोर अन्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए सूर्य हैं और परमात्मपद में स्थित हैं ॥१७९॥''

इस प्रकार उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान

तथा पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारक श्रीपद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में परमालोचनाधिकार नाम का यह सातवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

८

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते निश्चयप्रायश्चित्त-स्वरूपाख्यानमेतत् –

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिशीलसकलेन्द्रियवाङ्.मनःकायसंयमपरिणामः पञ्चेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखर

अब आगे समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के त्याग का कारणभूत शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्ताधिकार कहा जाता है–

यह निश्चयप्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(वद-समिदि-सील-संजम परिणामो) व्रत, समिति, शील, संयम परिणाम **(करण णिग्गहो)** इन्द्रिय निग्रह **(भावो)** का जो भाव है **(सो)** वह **(पायछित्तं)** प्रायश्चित्त **(हवदि)** होता है **(अणवरयं)** अनवरत **(चेव कायव्वो)** करना ही चाहिए।

गाथार्थ–''व्रत, समिति, शील और संयम का परिणाम तथा इन्द्रियों के निग्रह करने का जो भाव है वह प्रायश्चित्त है, यह प्रायश्चित्तरूप भाव सदा करना चाहिए ॥११३॥''

टीकार्थ–पाँच महाव्रत, पाँच समिति, शील तथा समस्त इन्द्रियों और मन, वचन, काय के वशीकरणरूप परिणाम तथा पञ्च इन्द्रियों के निरोधरूप जो भाव हैं वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त शब्द का निरुक्त्यर्थ है प्राय अर्थात् प्रचुरता के साथ मन का निर्विकार होना। यह प्रायश्चित्तरूप भाव मुझ पद्मप्रभ के द्वारा सदा करने योग्य है जो कि अन्तर्मुखाकार परमसमाधि से युक्त है, परम जितेन्द्रिय योगियों में श्रेष्ठ है, पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है, पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है, जो सहज वैराग्यरूपी महल की

जो भाव है समिति शीलव्रतों यमों का, प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियों का।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता, होऊँ अतीत विधि से विधि खो विधाता ॥११३॥

शिखामणिना परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्त्तव्य इति।

मन्दाक्रान्ता

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां
मुक्तिं यान्ति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापाः।
अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्त्ताः
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥१८०॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम् –

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावनायां सत्यां निसर्ग-वृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादि-सहजगुणचिन्ता प्रायश्चित्तं भवतीति।

शिखर पर सुशोभित शिखामणि के समान है और जिसके मुखकमल से परमागमरूपी मकरन्द झर रहा है।

टीकाकार कहते हैं कि–''मुनियों के निरन्तर अपने आत्मा की चिन्ता होना सो प्रायश्चित्त है, आत्मस्वरूप में रत रहने वाले पुरुष ही उस प्रायश्चित्त के द्वारा पाप रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। जिन मुनियों के चित्त में अन्य चिन्ता विद्यमान है, वे मूढ़ एवं काम से पीड़ित हैं। ऐसे ही पापी जीव पुनः पुनः पाप करते हैं, इसमें आश्चर्य क्या है?'' ॥१८०॥

यहाँ समस्त कर्मों के उखाड़ने में समर्थ निश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है–

अन्वयार्थ–(कोहादिसगब्भावक्खयपहुदि भावणाए) क्रोधादि स्वकीय भावों के क्षय आदि की भावना से **(णिग्गहणं)** निग्रह करना **(य)** और **(णियगुणचिंता)** निजगुणों की चिन्ता **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(पायच्छित्तं)** प्रायश्चित्त **(भणिदं)** कहा गया है।

गाथार्थ–''क्रोध आदि अपने विभाव भावों के क्षय करने आदि की भावना में लगना तथा अपने गुणों का चिन्तन करना निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है ॥११४॥''

टीकार्थ–क्रोध आदि समस्त मोह-राग-द्वेष आदि विभाव भावों के क्षय करने में कारणभूत जो निज कारण परमात्मा उसकी भावना के रहते हुए निजस्वभाव में प्रवेश करने की अपेक्षा प्रायश्चित्त कहा गया है अथवा परमात्मा के गुणस्वरूप जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व तद्रूप सहज ज्ञानादि

क्रोधादि भाव, जिनका क्षय होय कैसा, साधू विचार करता दिन-रैन ऐसा।
आत्मीय शुद्धात्म चिंतन लीन होता, प्रायश्चिता वह सही अघ हीन होता ॥११४॥

शालिनी

प्रायश्चित्तं ह्युक्तमुच्चैर्मुनीनां
कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च।
किं च स्वस्य ज्ञानसंभावना वा
सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥१८१॥

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत् –

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥११५॥

जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्त्रो भवन्ति। अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां संत्रास-यितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा। अकारणेन संत्रासकरस्य तस्य ताडन-वधादि-परिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा। तथा वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकार-

---

गुणों का चिन्तन करना प्रायश्चित्त है।

टीकाकार कहते हैं कि–''काम, क्रोध आदि अन्य भावों के क्षय करने में मुनियों की जो प्रवृत्ति है वही उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कहा गया है अथवा स्वकीय ज्ञानादि गुणों की भावना करने को सत्पुरुष प्रायश्चित्त जानते हैं ऐसा आत्मप्रवाद में कथन है ॥१८१॥''

यह चार कषायों के जीतने के उपायों का कथन है–

अन्वयार्थ–(कोहं) क्रोध को **(खमया)** क्षमा से **(माणं)** मान को**(समद्दवेण)**स्व मार्दव परिणाम से **(मायं च)** माया को **(अज्जवेण)** आर्जवभाव से और **(लोहं य)** लोभ को **(संतोसेण)** संतोषवृत्ति से **(चहुविह कसाए)** चारों प्रकार की कषायों को **(खुए जयदि)** निश्चय जीत लेता है।

गाथार्थ–''योगी क्षमा से क्रोध को, स्वकीय मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को इस प्रकार इन चार कषायों को जीतता है ॥११५॥''

टीकार्थ–''जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की है, बिना कारण ही अप्रिय बोलने वाले मिथ्यादृष्टि का मुझे त्रास देने का जो यह अकारण उद्योग है, वह मेरे पुण्य से निकल गया – मेरा कुछ भी नहीं कर सका, ऐसा चिन्तन करना जघन्य क्षमा है। बिना कारण ही त्रास देने वाले उस मिथ्यादृष्टि का जो मुझे मारने–पीटने आदि का परिणाम है वह भी मेरे पुण्य से निकल गया, इस प्रकार विचार करना मध्यम क्षमा है और बाधा आदि के आने

माया हरो परम आर्जव भाव द्वारा, औ मान मर्दन सुमार्दव भाव द्वारा।
मेटो प्रलोभ धर तोष, क्षमा सुधा से, क्रोधाग्नि शान्त कर दो अविलम्बता से ॥११५॥

हानिरिति परमसमरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा। आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभसन्तोषेण लोभकषायं चेति।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रसूरिभिः —

वसन्ततिलका

''चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः॥''

''चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति॥''

अनुष्टुप्

''भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः॥''

पर चिन्तन करना कि मैं अमूर्तिक हूँ तथा परम ब्रह्म रूप हूँ मेरी अपकार से क्या हानि हो सकती है, ऐसा विचार कर परम समरसीभाव में स्थिर रहना यह उत्तम क्षमा है। इन क्षमाओं के द्वारा क्रोध कषाय को, मार्दव द्वारा मान कषाय को, आर्जव द्वारा माया कषाय को और परम तत्त्व के लाभ से उत्पन्न हुए संतोष के द्वारा लोभकषाय को जीतता है।''

ऐसा ही श्रीगुणभद्रसूरि ने कहा है–''महादेव जी ने अज्ञानवश हृदय में स्थित कामदेव को नहीं जानकर क्रोध से बाह्य में स्थित किसी अन्य पदार्थ को जला दिया और समझ यह लिया कि मैंने काम को जला दिया। पीछे से वही महादेव उस काम के द्वारा की हुई भयंकर दशा को प्राप्त हुए सो ठीक ही है, क्योंकि क्रोध के उदय से किसके कार्य की हानि नहीं होती?''

''बाहुबली अपने दाहिने हाथ पर स्थित चक्र को छोड़कर जिस समय दीक्षित हुए थे, उसी समय मुक्त हो जाते परन्तु (भाई भरत सम्बन्धी मान के लगे रहने से) चिर काल तक तपस्या का क्लेश उठाते रहे सो ठीक ही है, क्योंकि थोड़ा भी मान बहुत हानि करता है।''

''मिथ्यात्व रूपी सघन अन्धकार से भरे हुए उस मायारूपी महागर्त से अवश्य डरते रहना चाहिए, जिसमें कि छिपे हुए क्रोधादि विषय सर्प दिखाई नहीं देते।''

हरिणी

''वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः॥''

तथा हि –

आर्या

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु॥१८२॥

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवतः प्रायश्चित्तमित्युक्तम् –

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स॥११६॥

''शिकारी के भय से चमरी मृग इधर-उधर दौड़ता है। भाग्यवश उसकी पूंछ जब कभी लताओं में उलझ जाती है तब वह मूर्खता के कारण अपने बालों के समूह में इतना अधिक प्रेम करता है कि उनके टूट जाने के भय से वहीं निश्चल होकर खड़ा हो जाता है और इस प्रकार खेद है कि वह शिकारियों के द्वारा मार डाला जाता है। सो ठीक है कि क्योंकि तृष्णायुक्त-लोभी जीवों को ऐसी विपत्तियाँ प्राप्त होती ही रहती हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि-''क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव की प्राप्ति से माया को और शौचधर्म से लोभकषाय को जीतो॥१८२॥''

यहाँ शुद्धज्ञान को स्वीकार करना ही प्रायश्चित्त है ऐसा कहा है–

अन्वयार्थ–(तस्सेव) उसी **(अप्पणो)** आत्मा का **(जो)** जो **(उक्किट्ठो)** उत्कृष्ट **(बोहो)** बोध **(णाणं)** ज्ञान **(चित्तं)** या चित्त है **(जो)** जो **(मुणी)** मुनि **(धरइ)** धारण करता है **(तस्स)** उसको **(णिच्चं)** नित्य **(पायच्छित्तं)** प्रायश्चित्त **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध अथवा ज्ञान है वही चित्त कहलाता है, जो मुनि निरन्तर उस चित्त को धारण करता है उसी के प्रायश्चित्त होता है॥११६॥''

शुद्धात्म के सतत चिंतन में लगा है, शुद्धात्म ज्ञान करता निज में जगा है।
शुद्धात्म बोध कर जीवन है बिताता, प्रायश्चिता नियम से उसका कहाता॥११६॥

उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोधः इत्यर्थः। बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। अत एव तस्यैव परमधर्मिणो जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तं। यः परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य खलु निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति।

शालिनी

यः शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तं ह्यत्र चास्त्येव तस्य।
निर्धूतांहःसंहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तमेव समस्ताचरणानां परमाचरण-मित्युक्तम् —

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणा महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ ॥११७॥

टीकार्थ—आत्मा का जो उत्कृष्ट विशिष्टधर्म (असाधारणभाव) है वह परमबोध है। चूँकि बोध, ज्ञान और चित्त-तीनों ही पर्याय वाचक हैं—एकरूप हैं, अतएव उसी परम धर्मी जीव का जो प्रकृष्ट ज्ञान है वही प्रायश्चित्त है। जो परम संयमी निरन्तर ऐसे प्रायश्चित्त को धारण करता है, निश्चयप्रायश्चित्त उसी के होता है।

''शुद्ध आत्मज्ञान की भावना रखने वाला आत्मा ही प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त जिनके विद्यमान है, मैं पापसमूह को नष्ट करने वाले उन मुनिराज को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए निरन्तर वन्दना करता हूँ ॥१८२॥''

यहाँ ''परम तपश्चरण में लीन उत्कृष्ट योगीश्वरों का जो निश्चय प्रायश्चित्त है वही समस्त आचरणों में उत्कृष्ट आचरण है'' ऐसा कहा है—

अन्वयार्थ—(बहुणा भणिएण दु) बहुत कहने से **(किं)** क्या ? **(महेसिणं)** महर्षियों का **(अणेय-कम्माण-खयहेऊ)** वही अनेक कर्मों के क्षय का कारण **(वरतवचरणं)** जो श्रेष्ठ तपश्चरण है **(सव्वं)** उस सबको **(पायच्छित्तं)** प्रायश्चित्त **(जाणह)** जानो।

गाथार्थ—''बहुत कहने से क्या? महर्षियों का जो कुछ उत्कृष्ट तपश्चरण है उस सबको प्रायश्चित्त ही जानो। यह प्रायश्चित्त अनेक कर्मों के क्षय का कारण है ॥११७॥''

भारी तपश्चरण साधु महर्षियों का, प्रायश्चिता वह सभी गुणधारियों का।
क्या क्या कहूँ बहुत भी कहना वृथा है, है सर्व कर्म-क्षय हेतु यही कथा है ॥११७॥

बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम्। पुनः सर्वं निश्चयव्यवहारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाशकारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि।

द्रुतविलम्बित

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकलापरिगोचरं सहजतत्त्वमघक्षयकारणम् ॥१८४॥

शालिनी

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम्।
कर्मप्रान्तध्वान्तसद्बोधतेजो-
लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नः (महिम्नि) ॥१८५॥

मन्दाक्रान्ता

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा।
कर्मारण्योद्भवदवशिखाजालकानामजस्त्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ॥१८६॥

बहुत असत्प्रलाप करने से क्या लाभ है? अनादि संसार से बंधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्म के समूल नाश का कारणभूत परम जितेन्द्रिय मुनियों का जो निश्चय और व्यवहार रूप सब प्रकार का तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा हे शिष्य! तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि –''यह अनशनादि तपश्चरण रूप प्रायश्चित्त सहज शुद्ध चैतन्य रूप आत्मतत्त्व के जानने वालों के होता है। यही प्रायश्चित्त स्वाभाविक ज्ञानकला का गोचर है, स्वाभाविक तत्त्व है और पापों के क्षय का कारण है ॥१८४॥''

''निश्चय से यह प्रायश्चित्त उत्तम पुरुषों के ही होता है, यह स्वद्रव्य के चिन्तन रूप है, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप है, कर्मरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञान रूपी तेज है एवं अपनी निर्विकार महिमा में लीन है ॥१८५॥''

''आत्मज्ञान से मुनियों को क्रमपूर्वक वह आत्मलब्धि – उस आत्मा की प्राप्ति होती है जिसमें कि ज्ञान रूप ज्योति के द्वारा इन्द्रिय समूह का समस्त घोर अन्धकार नष्ट हो चुकता है, और जो कर्मरूपी वन में उत्पन्न होने वाली दावानल की ज्वालाओं के समूह को नष्ट करने के लिए निरन्तर समता जलरूपी धारा को शीघ्र प्रकट करती रहती है ॥१८६॥''

उपजाति

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे-
र्मयोद्धृता संयमरत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालङ्कृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ॥१८७॥

उपेन्द्रवज्रा

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं
मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम्।
विमुक्तिवाताम्बर (कान्तावर) सौख्यमूलं
विनष्टसंसारद्रुमूलमेतत् ॥१८८॥

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् —

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥११८॥

''मैंने अध्यात्मशास्त्र रूपी अमृत के समुद्र से जो संयमरूपी रत्नों की माला निकाली है, वही मुक्तिरूपी स्त्री के वल्लभ तत्त्वज्ञानी मनुष्यों के कण्ठ में अलंकार हुई है ॥१८७॥''

''मैं उस परमात्म तत्त्व को नमस्कार करता हूँ जो कि बड़े-बड़े मुनियों के चित्तरूपी कमल के भीतर निवास करता है, मुक्तिरूपी कान्ता के उत्कृष्ट सुख का मूलकारण है और जिसने संसार रूपी वृक्ष की जड़ को नष्ट कर दिया है ॥१८८॥''

यहाँ प्रसिद्ध और शुद्ध कारण समयसार रूप परमात्मतत्त्व में अन्तर्मुखाकार होकर जो तपश्चरण करना है वही प्रायश्चित्त है, ऐसा कहा है –

अन्वयार्थ—(णंताणंतभवेण) अनन्तानन्त भवों के द्वारा **(समज्जिय सुह-असुह-कम्म-संदोहो)** अर्जित किया हुआ शुभ-अशुभ कर्मों का समूह **(तवचरणेण)** तपश्चरण से **(विणस्सदि)** विनष्ट होता है **(तम्हा)** इसलिए **(तवं)** तप **(पायच्छित्तं)** ही प्रायश्चित्त है।

गाथार्थ—''अनन्तानन्त भवों में उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभकर्मों का जो समूह है वह तपश्चरण के द्वारा नष्ट हो जाता है इसलिए तपश्चरण ही प्रायश्चित्त है ॥११८॥''

जो भी शुभाशुभ कुकर्म युगों-युगों में, बाँधा हुवा विगत में कि भवों-भवों में।
सम्यक् तपश्चरण से मिट पूर्ण जाता, प्रायश्चिता इसलिए तप ही कहाता ॥११८॥

आसंसारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मकः पञ्चसंसारसंवर्धनसमर्थः परम-तपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त-मित्यभिहितम्।

मन्दाक्रान्ता

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानन्दपीयूषपूर्णम्।
आसंसारादुपचितमहत्कर्मकान्तारवह्नि-
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ॥१८९॥

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानमेव समर्थमित्युक्तम् —

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥११९॥

टीकार्थ—अनादि संसार से उपार्जन किया हुआ द्रव्य-भाव रूप तथा पञ्च प्रकार के संसार के बढ़ाने में समर्थ जो शुभ-अशुभ कर्मों का समूह है वह भावों की शुद्धि ही जिसका लक्षण है ऐसे परम तपश्चरण के द्वारा नष्ट हो जाता है अतः स्वात्मतल्लीनतारूप परम तपश्चरण ही शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा आचार्यों ने कहा है।

टीकाकार कहते हैं कि–''कर्मों का क्षय करने के लिए अन्य कार्य प्रायश्चित्त नहीं, किन्तु वह तप ही प्रायश्चित्त है जो कि चिदानन्दरूपी अमृत से पूर्ण है अनादि संसार से संचित कर्मरूपी महाअटवी को जलाने के लिए अग्नि की ज्वालाओं का समूह है, समता सुखमय है और मोक्षलक्ष्मी को देने योग्य उपहार है, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं ॥१८९॥''

इस गाथा में अपने आत्मा के आश्रय से होने वाला निश्चय धर्मध्यान ही समस्त भावों का अभाव करने के लिए समर्थ है यह कहा है–

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव **(अप्पसरूवालंबणभावेण)** आत्मस्वरूप के अवलंबन भाव से **(दु)** ही **(सव्व-भाव-परिहारं)** सभी भावों का परिहार **(कादुं)** करने में **(सक्कदि)** समर्थ होता है **(तम्हा)** इसलिए **(झाणं)** ध्यान ही **(सव्वं)** सब कुछ **(हवे)** है।

गाथार्थ—''यह जीव आत्मस्वरूप को अवलम्बन करने वाले भाव-ध्यान के द्वारा ही समस्त विभाव भावों का परिहार करने में समर्थ होता है, अतः ध्यान ही सब कुछ है ॥११९॥''

आत्मा विनष्ट करता पर भाव सारा, लेके स्वकीय गुण का रुचि से सहारा।
सर्वस्व है इसलिए निजध्यान प्यारा, लेऊँ अतः शरण मैं निज की सुचारा ॥११९॥

अविचलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षुण्णनित्यनिरावरणसहजपरमपारिणामिक भावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात्, तत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम्। अतः पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यान-प्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति।

मन्दाक्रान्ता

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिःप्रतिहततमःपुञ्जमाद्यन्तशून्यम्।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्तिं
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशिः ॥१९०॥

शुद्धनिश्चयनियमस्वरूपाख्यानमेतत् —

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

टीकार्थ—निश्चल, परद्रव्य के परित्याग रूप लक्षण से सहित, अखण्ड, अविनाशी, निरावरण एवं सहज परम पारिणामिक भाव की भावना से ही यह अत्यन्त निकट भव्यजीव औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन चार अन्य भावों का परिहार करने में समर्थ होता है अतः उसका वह भाव पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान कहा गया है। इस प्रकार पञ्च महाव्रत, पञ्च समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सब कुछ ध्यान ही है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो शुद्ध आत्म स्वरूप में निश्चल चित्त होकर अपने उस एक शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है जो कि नित्य ज्योति के द्वारा अज्ञानान्धकार के समूह को नष्ट करने वाला है, आदि अन्त से रहित है, परम कला से सहित है और आनन्द की मूर्ति है, वह आचार की राशि स्वरूप भव्य जीव शीघ्र ही जीवन्मुक्त हो जाता है ॥१९०॥''

यह शुद्ध निश्चय के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ—(सुह-असुह वयणरयणं) शुभ-अशुभ वचनों की रचना **(रायादी भाव-वारणं)** रागादि भाव का वारण **(किच्चा)** करके **(जो)** जो **(अप्पाणं)** आत्मा को **(झायदि)** ध्याता है **(तस्स दु)** उसको **(णियमा)** नियम से **(णियमं)** नियम **(हवे)** होता है।

छोड़ी विभावमय राग प्रणालि की भी, चेष्टा शुभाशुभ सभी वचनावली की।
पश्चात् स्वकीय शुचि ध्यान लगा रहा है, वो साधु का 'नियम' मित्र सगा रहा है ॥१२०॥

यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधनो दैनं दैनं संचितसूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चय-प्रायश्चित्त-परायणोऽस्यापि संयमिना (नियमित) मनोवाक्कायत्वाद्भववल्लीमूलकन्दात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्ताप्रशस्त-समस्तवचनरचनानां निवारणं करोति। न केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोह-रागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति, पुनरनवरतमखण्डाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्दानुपमनिरञ्जननिज-कारणपरमात्मं तत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभावयति, तस्य यतेः मनुष्यस्य शुद्धनिश्चयनियमो नियमेन भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतामिति।

हरिणी

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम्।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यङ्गनासुखकारणम् ॥१९१॥

मालिनी

अनवरतमखण्डाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किञ्चित्।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥१९२॥

गाथार्थ—''जो शुभ-अशुभ वचनों की रचना तथा रागादि भावों का निवारण करके आत्मा का ध्यान करता है उसके नियम से निश्चय-रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ॥१२०॥''

टीकार्थ—जो परम तत्त्व ज्ञानी महातपोधन, प्रतिदिन संचित होने वाले सूक्ष्मकर्मों के निर्मूलन करने में समर्थ निश्चय प्रायश्चित्त के धारण करने में तत्पर संयमी जीव के भी मन, वचन, काय के नियन्त्रित होने से संसार रूपी बेल के मूलकन्द स्वरूप शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त सभी प्रकार के वचन रचना का निवारण करता है। केवल इन वचन रचना का ही निवारण तिरस्कार नहीं करता किन्तु समस्त मोह, राग, द्वेष आदि परभावों का भी निवारण करता है और निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, सुन्दर आनन्द के निस्पंद से अनुपम एवं निर्मल निजकारण परमात्मा का शुद्धोपयोग के बल से ध्यान करता है उस संयमी साधु के शुद्धनिश्चय नियम अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय नियम से होता है ऐसा सूत्रकार भगवान् श्रीकुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय है।

टीकाकार कहते हैं कि-''जो भव्य शुभ-अशुभरूप वचन रचना को छोड़कर निरन्तर सहज परमात्मा का ध्यान करता है उस ज्ञानमय परम संयमी के नियम से मुक्ति वधू के सुख का कारणभूत शुद्ध नियम-शुद्ध रत्नत्रय होता है ॥१९१॥''

''निरन्तर अखण्ड अद्वैत और विकारहीन चैतन्य तत्त्व में समस्त नयों का कुछ भी विलास प्रकट नहीं रहता। जिस आत्म तत्त्व में यह समस्त भेदवाद नष्ट हो चुकता है मैं उसे नमस्कार करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ और उसी का ध्यान करता हूँ ॥१९२॥''

अनुष्टुप्

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत्।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥१९३॥
भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते ॥१९४॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत् –

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यञ्जनपर्यायात्मकः स्वस्याकारः कायः। आदिशब्देन क्षेत्रवास्तु-कनक रमणीप्रभृतयः। एतेषु सर्वेषु स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरञ्जननिजकारण परमात्मानं व्यवहारक्रियाकाण्डाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति यः सहज-तपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशीथिनीहृदयाधीश्वरः तपस्विनः खलु तस्य सहजवैराग्यप्रासादशिखर-

---

''यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और यह उसका फल है, इन विकल्पजालों से जो रहित है मैं उस शुद्धात्म तत्त्व को नमस्कार करता हूँ ॥१९३॥''

''योग में लीन रहने वाले जिस किसी साधु के जब कभी भेदवाद उठा करते हैं उसकी अर्हन्त जिनेन्द्र के मत में मुक्ति हो सकेगी अथवा नहीं यह कौन जानता है? ॥१९४॥''

यह निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन है –

अन्वयार्थ–(कायाई परदव्वे) काय आदि परद्रव्यों में **(थिरभावं)** स्थिर भाव का **(परिहरत्तु)** परिहार करने के लिए **(जो)** जो **(णिव्वियप्पेण)** निर्विकल्पता के साथ **(अप्पाणं)** आत्मा का **(झायइ)** ध्यान करता है **(तस्स)** उसको **(तणुसग्गं)** कायोत्सर्ग **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो शरीर आदि परद्रव्य में स्थिर बुद्धि को छोड़कर निर्विकल्प रूप से अपने आत्मा का ही ध्यान करता है उसी के कायोत्सर्ग होता है ॥१२१॥''

टीकार्थ–सादि सान्त मूर्तिक और विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप जो अपना आकार है, वह काय है। आदि शब्द से क्षेत्र, मकान, सुवर्ण, स्त्री आदि पदार्थ लेना चाहिए। इन सब में स्थिर भाव अर्थात् सनातन बुद्धि को छोड़कर व्यावहारिक क्रियाकाण्ड के आडम्बर से उत्पन्न अनेक विकल्प रूप कोलाहल से रहित सहज परमयोग के बल से जो निरन्तर रमणीय एवं निर्मल निज कारण परमात्मा का ध्यान करता है तथा स्वयं सहज तपश्चरणरूप क्षीरसमुद्र को

जो ध्यान आत्म गुण का करता निहाला, हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प-माला।
देहादि से बन निरीह स्व में बसा है, कायोतसर्ग मुनि का वह है लसा है ॥१२१॥

शिखा-मणेर्निश्चयकायोत्सर्गो भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरलसत्कर्ममुक्तेः सकाशात्।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥१९५॥

मालिनी

जयति सहजतेजःपुञ्जनिर्मग्नभास्वत्-
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम्।
सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितं मोघजात
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥१९६॥
भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेऽहम् ॥१९७॥

बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान है उस सहज वैराग्यरूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान सुशोभित तपस्वी के निश्चय कायोत्सर्ग होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''निश्चय से कायोत्सर्ग अपने आत्मा में स्थिर रहने वाले संयमी पुरुषों के शरीर से उत्पन्न होने वाले अतिशय बलिष्ठ कार्यों के छूटने से, वचनों के उच्चारण के परित्याग से, मानसिक विकल्पों के परिहार से एवं स्वात्मा के ध्यान से होता है ॥१९५॥''

''वह सहज परम तत्त्व जयवन्त हो जो कि तेज के पुंज में निमग्न होकर देदीप्यमान हो रहा है, जिसने मोहरूपी अन्धकार को छोड़ दिया है, जो सहज परम दृष्टि से युक्त है तथा वृथा ही उत्पन्न भव-भव के संताप और कल्पनाओं से रहित है ॥१९६॥''

''भव-भव में होने वाला जो सुख है वह अल्प है तथा कल्पनामात्र से रमणीय है, मैं आत्मशक्ति से उस समस्त सुख को छोड़ता हूँ और चैतन्यचमत्कारमात्र तथा निज विलास के विकास से युक्त सहज परम सुख का निरन्तर अनुभवन करता हूँ ॥१९७॥''

पृथ्वी

निजात्मगुणसम्पदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःखकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितः खलु हतोऽस्मि हा संसृतौ ॥१९८॥

आर्या

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुञ्जे ॥१९९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः अष्टमः श्रुतस्कन्धः॥

''खेद है कि मैंने अपने हृदय में प्रकाशमान समाधि विषयक निजात्मा की इस गुण रूपी सम्पदा को पहले कभी क्षण भर के लिए भी नहीं जाना। जगत्त्रय की विभूति के नाश के कारणभूत जो दुष्कर्म उनके प्रभुत्व शक्ति से मैं इस संसार में हता गया ॥१९८॥''

''भव-भव के विषमयी वृक्षों के फल स्वरूप इन समस्त दुःखों के कारणों को जानकर मैं चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा में उत्पन्न हुए विशुद्ध सुख का उपभोग करता हूँ ॥१९९॥''

इस प्रकार उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए जो सूर्य के समान है और पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्रीपद्मप्रभ-मलधारीदेव के द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में यह शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्ताधिकार नामक अष्टम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

९

परमसमाध्यधिकारः

अथाखिलमोहरागद्वेषादिपरभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्यधिकार उच्यते।

शुद्धनिश्चयपरमसमाधिस्वरूपाख्यानमेतत् —

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

क्वचिदशुभवंचनार्थं वचनरचनामात्राञ्चितपरमवीतरागसर्वज्ञस्तवनादिकं कर्तव्यं परमजिन-योगीश्वरेणापि। परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवाग्विषयव्यापारो न कर्तव्यः। अत एव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकलङ्कपङ्कविनिर्मुक्तप्रध्वस्तभावकर्मात्मकपरमवीतरागभावेन, त्रिकालनिरावरण-नित्यशुद्धकारणपरमात्मानंस्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपनिरत परमशुक्ल-

---

अब समस्त मोह तथा रागद्वेषादि परभावों के नष्ट करने में कारणभूत परमसमाधि नाम का अधिकार कहा जाता है। उसमें सर्वप्रथम शुद्धनिश्चयनय से परम समाधि के स्वरूप का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(वयणोच्चारणकिरियं) वचनों के उच्चारण की क्रिया का **(परिचत्ता)** परित्याग करके **(वीयरायभावेण)** वीतराग भाव से **(जो)** जो **(अप्पाणं)** आत्मा का **(झायदि)** ध्यान करता है **(तस्स)** उसके **(परमसमाही)** परम समाधि **(हवे)** होती है।

गाथार्थ–''जो वचनों के उच्चारणरूप क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है ॥१२२॥''

टीकार्थ–कहीं-कहीं अशुभ से बचने के लिए वचन रचना मात्र से विस्तारित परम वीतराग सर्वज्ञ देव का स्तवनादिक किया जाता है परन्तु साधारणजन की बात तो दूर रही परम जितेन्द्रिय मुनिराज को भी वास्तव में प्रशस्त-अप्रशस्त, सभी प्रकार के वचनों का व्यापार नहीं करना चाहिए। इसलिए समस्त कर्म कलंक रूप कर्दम से रहित तथा परम वीतराग तपश्चरण में तत्पर रहने वाला जो शुद्ध संयमी जीव समस्त वचन रचना को छोड़कर समस्त भावकर्मों के नष्ट हो जाने से जिसमें परम वीतरागभाव प्रकट हुआ है, ऐसे स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान तथा टंकोत्कीर्ण

वाक् योग-रोक जिसने मन-मौन धारा, औ वीतराग बन आतम को निहारा।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की, पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२२॥

ध्यानेन च यः परमवीतरागतपश्चरणनिरतः निरुपरागसंयतः ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मवरूथिनी-लुंटाकस्य परमसमाधिर्भवतीति।

वंशस्थ

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरतीं समतानुयायिनीम्।
यावन्न विद्मः सहजात्मसम्पदं
न मादृशां यो विषमो विदामहि ॥२००॥

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम् –

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्क झाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः। नियमो हि स्वात्माराधनातत्परता। आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनं तपः। सकलबाह्यक्रियाकाण्डाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तः क्रियाधिककरणमात्मानं

एक ज्ञायक स्वरूप में निरत उत्कृष्ट शुक्लध्यान के द्वारा त्रिकाल में निरावरण रहने वाले नित्य शुद्ध कारणपरमात्मा का ध्यान करता है, द्रव्य-भावकर्मरूप सेना को लूटने वाले उसी संयमी साधु के परम समाधि होती है।

टीकाकार कहते हैं कि–''किसी अभूतपूर्व समाधि के द्वारा उत्तम मनुष्यों के हृदय में स्फुरायमान तथा समता की अनुगामिनी सहज आत्मसंपदा को जब तक हम नहीं जान लेते तब तक वह परम समाधि हमारा विषय नहीं हो सकती, ऐसा हम समझते हैं ॥२००॥''

इस गाथा में समाधि का लक्षण कहा गया है–

अन्वयार्थ–(संजमणियमतवेण) संयम, नियम और तप से **(दु)** तथा **(धम्मज्झाणेण)** धर्म्यध्यान और **(सुक्कझाणेण)** शुक्लध्यान के द्वारा **(जो झायइ अप्पाणं)** जो आत्मा को ध्याता है **(तस्स परमसमाही हवे)** उसके परमसमाधि होती है।

गाथार्थ–''जो संयम, नियम, तप, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है ॥१२३॥''

टीकार्थ–समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग करना संयम है। स्वात्मा की आराधना में तत्पर रहना नियम है। आत्मा के द्वारा आत्मा का धारण करना अर्थात् स्वरूप में लीन होना सो आध्यात्मिक तप है। समस्त बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर का परित्याग ही जिनका लक्षण

हो संयमी नियम औ तप धारता है, औ धर्म-शुक्लमय ध्यान निहारता है।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की, पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२३॥

निरवधित्रिकालनिरुपाधिस्वरूपं यो जानाति, तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानम्। ध्यानध्येय-ध्यातृत्वफलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तान्तर्मुखाकारनिखिलकरणग्रामागोचरनिरञ्जननिजपरमतत्त्व-विचलस्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानम्। एभिः सामग्रीविशेषैः सार्धमखण्डाद्वैतपरमचिन्मयमात्मानं यः परमसंयमी नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवतीति।

अनुष्टुप्

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥२०१॥

अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारणं नास्तीत्युक्तम् —

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

सकलकर्मकलङ्कपंङ्कविनिर्मुक्तमहानन्दहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासावासेन प्रावृषि

है ऐसी मानसिक क्रियाओं के आधार तथा निरवधि और त्रिकाल में उपाधि रहित रहने वाले आत्मा को जो जानता है उसकी परिणति विशेष को धर्मध्यान कहते हैं। बहिर्मुखाकार प्रवृत्ति करने वालों की बात जाने दीजिये अन्तर्मुखाकार भी प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रिय समुदाय का जो विषय नहीं है ऐसे निर्लेप निज परम तत्त्व में जो अविचल स्थिति है, वह निश्चय शुक्लध्यान है। इन सभी सामग्री विशेष के द्वारा अखण्ड अद्वैत परम चैतन्य रूप आत्मा का जो परम संयमी साधु निरन्तर ध्यान करता है, निश्चय से उसी के परम समाधि होती है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो निर्विकल्प चैतन्य रूप समाधि में स्थित है–लीन है, मैं द्वैत–अद्वैत के विकल्प से रहित उस आत्मा को निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥२०१॥''

यहाँ द्रव्यलिङ्ग को धारण करने वाले श्रमणाभास मुनि को समता के न होने से कुछ भी परलोक का कारण नहीं है–यह कहा है–

अन्वयार्थ–(समदारहियस्स) समताभाव से रहित **(समणस्स)** श्रमण को **(वणवासो)** वन वास **(कायकिलेसो)** कायक्लेश **(विचित्तउववासो)** विचित्र उपवास **(अज्झयणमोणपहुदी)** अध्ययन, मौन आदि **(किं काहदि)** क्या करेंगे?

गाथार्थ–''समता से रहित मुनि के वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन तथा मौन आदि क्या कर सकते हैं? ॥१२४॥''

टीकार्थ–द्रव्यलिंग को धारण करने वाले श्रमणाभास साधु के समस्त कर्मकलंकरूपी

मासोपवास करना वनवास जाना, आतापनादि तपना तन को सुखाना।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना, ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥१२४॥

वृक्षमूले स्थित्वा च ग्रीष्मेऽतितीव्रकरकरसंतप्तपर्वताग्रग्रावनिषण्णतया वा हेमन्ते च रात्रिमध्येह्याशाम्बर-दशाफलेन च, त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गक्लेशदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च, वाग्विषयव्यापार-विवृत्तिलक्षणेन संततमौनव्रतेन वा न किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलद्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासस्येति।

तथा चोक्तम् अमृताशीतौ —

मालिनी

''गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं स्वसारम्॥''

तथा हि —

द्रुतविलम्बित

अनशनादितपश्चरणैः फलं
समतया रहितस्य यतेर्न हि।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं
भज मुने समताकुलमन्दिरम् ॥२०२॥

कर्दम से रहित महान् आनन्द के कारणभूत समताभाव के बिना वनवास के कष्ट से, वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ठहरने से, ग्रीष्मऋतु में अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत के अग्रभाग की शिलाओं पर बैठने से, हेमन्तऋतु में रात्रि के मध्य दिगम्बर मुद्रा द्वारा खुले आकाश में बैठने से, हड्डी और चमड़ा ही जिसमें शेष रह गया है ऐसे सर्वांग को क्लेश देने वाले महोपवास से, सदा अध्ययन की चतुराई से अथवा वाचनिक व्यापार से रहित नित्य मौनव्रत से कुछ भी उपादेय फल की प्राप्ति नहीं होती।

ऐसा ही अमृताशीति में कहा गया है–''हे साधो! पर्वत, वन, गुफा आदि जंगल के शून्य प्रदेशों में निवास करना, इन्द्रियों का निरोध करना, ध्यान करना, तीर्थस्थानों की सेवा करना, पढ़ना, जप करना तथा होम करना, इन कार्यों से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती अतः आत्मकल्याण का कोई दूसरा ही मार्ग खोजो।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''समता से रहित मुनि के उपवास आदि तपों से कुछ भी फल की प्राप्ति नहीं हो पाती इसलिए हे मुने! तू आकुलता रहित एवं समता के कुल भवन स्वरूप इस आत्मतत्त्व का ही भजन कर ॥२०२॥''

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुखस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तम् –

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरम्बक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्त-कायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोताभिधानपञ्चेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्य-विषयग्रहणाभावात् पिहितेन्द्रियः, तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रतं शश्वत् स्थायि भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम्।

यहाँ समस्त सावद्यव्यापार से रहित, त्रिगुप्तियों से गुप्त और समस्त इन्द्रियों के व्यापार से विमुख मुनि के ही स्थायी सामायिकव्रत होता है–यह कहा है–

अन्वयार्थ–(सव्वसावज्जे) समस्त सावद्य से **(विरदो)** जो विरत है, **(तिगुत्तो)** तीन गुप्ति सहित है, **(पिहिदिंदिओ)** अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, **(तस्स)** उसको **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** इस प्रकार **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ–''जो समस्त सावद्य–पाप कर्मों से विरत है, त्रिगुप्तियों से गुप्त है तथा इन्द्रियों को वश करने वाला है उसी के स्थायी सामायिकव्रत होता है–ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१२५॥''

टीकार्थ–जो एकेन्द्रियादि प्राणिसमूह को क्लेश देने वाले समस्त पाप युक्त कार्यों से रहित है, प्रशस्त एवं अप्रशस्त - सभी प्रकार के मन, वचन एवं काय के व्यापारों का अभाव होने से त्रिगुप्त है और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण नामक पञ्चेन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने योग्य विषयों के ग्रहण का अभाव होने से पिहितेन्द्रिय है उसी महामुमुक्षु परम वीतराग संयमी मुनि के ही सामायिकव्रत निरन्तर स्थायी रह सकता है।

टीकाकार कहते हैं–''इस प्रकार संसार सम्बन्धी भय करने वाले समस्त सावद्य कार्यों के समूह को छोड़कर तथा मन, वचन, काय के विकार को नष्ट कर जो जीव अतिशय श्रेष्ठ

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पाले, हैं पंचइन्द्रियजयी समदृष्टि वाले।
स्थायी सुसामयिक है उनमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२५॥

अन्त:शुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तु: स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥२०३॥

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षो: स्वरूपमत्रोक्तम् –

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

य: सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणि: विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावात् भेदकल्पनापोढ-परमसमरसीभावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु सम:, तस्य च परमजिनयोगीश्वरस्य सामायिकाभिधान-व्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्गे सिद्धमिति।

मालिनी

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम्।

अन्तरंग की शुद्धि के साथ एक शुद्ध शील आत्मा को जानता है वही स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है ॥२०३॥''

यहाँ परम माध्यस्थ्य भाव में आरूढ़ होकर स्थिर रहने वाले परम मुमुक्षु जीव का स्वरूप कहा है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(सव्वभूदेसु)** सभी जीवों में **(थावरेसु)** स्थावरों में **(वा)** और **(तसेसु)** त्रसों में **(समो)** समभाव रखता है **(तस्स)** उसको **(समाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** इस प्रकार **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ–''जो सभी त्रस और स्थावर जीवों में सम रहता है उसी के सामायिक व्रत स्थायी रह सकता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१२६॥''

टीकार्थ–सहज वैराग्यरूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान सुशोभित होने वाला जो मुनि विकार के कारणभूत समस्त मोह तथा रागद्वेष का अभाव होने के कारण भेद कल्पना से रहित परम समरसीभाव से सहित होता है और इसी कारण त्रस-स्थावर जीवों के समूह में सम रहता है उस परम जितेन्द्रिय योगिराज के सामायिक नाम का व्रत स्थायी होता है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र के मार्ग में निरूपित है।

टीकाकार कहते हैं कि–''परम जितेन्द्रिय मुनियों का उत्कृष्ट चित्त निरन्तर त्रस और

जो साधुराज जड़ जंगम जंतुओं में, सौभाग्यमान धरता समता सबों में।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२६॥

अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥२०४॥

अनुष्टुप्

केचिदद्वैतमार्गस्था: केचिद् द्वैतपथे स्थिता:।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम् ॥२०५॥
कांक्षन्त्यद्वैतमन्येऽपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम् ॥२०६॥
अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहु: ॥२०७॥

शिखरिणी

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरै:
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषय:।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति तत: कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ॥२०८॥

स्थावरों की हिंसा से दूर रहता है तथा अन्तिम - सर्वोत्कृष्ट निर्मलता को प्राप्त होता है, मैं कर्मों से मुक्ति पाने के लिए उनके उस चित्त को नमस्कार करता हूँ, उसकी स्तुति करता हूँ और उसी का ध्यान करता हूँ ॥२०४॥''

''कोई अद्वैत मार्ग में स्थित है और कोई द्वैतमार्ग में, परन्तु हम द्वैत तथा अद्वैत दोनों से रहित मार्ग में वर्तमान हैं ॥२०५॥''

''कोई अद्वैतमार्ग को पसंद करते हैं और कोई द्वैत मार्ग को चाहते हैं पर हम द्वैत-अद्वैत दोनों ही मार्गों से रहित शुद्ध आत्मा की स्तुति करते हैं ॥२०६॥''

''चूँकि मैं आत्मा हूँ और आत्मसुख का इच्छुक हूँ अत: आत्मा के द्वारा आत्मा में ही स्थित होकर जन्म-मरण से रहित अपने आत्मा का बार-बार चिन्तन करता हूँ ॥२०७॥''

''संसार को करने वाले इन विकल्पों का व्याख्यान रहने दें, चूँकि अखण्ड आनन्द स्वरूप यह आत्मा समस्त नयों के समूह का अविषय है-अगोचर है, अत: जो आत्मा एकान्त रूप से न द्वैत रूप है और न अद्वैत रूप। मैं संसार सम्बन्धी भय का नाश करने के लिए उसी एक आत्मा की निरन्तर वन्दना करता हूँ ॥२०८॥''

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभो भावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो वाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥२०९॥

मालिनी

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेजःपुञ्जदूरीकृतांहः।
प्रबलतरतमःस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥२१०॥

पृथ्वी

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम्।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥२११॥

अत्राप्यात्मैवोपादेय इत्युक्तः —

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

''इस जन्म में जो सुख-दुःख होते हैं वे पुण्य और पाप के उदय से उत्पन्न होते हैं। आत्मा में एकान्त रूप से न तो शुभ भाव है और न अशुभ परिणति ही। जो संसार के परिचय से रहित है तथा संसार को बढ़ाने वाले गुणों के समूह से रहित है मैं उसी आत्मा की स्तुति करता हूँ ॥२०९॥''

''वह चैतन्यचमत्कार मात्र ज्योति संसार में सदा जयवन्त रहे जिसने कि पाप रूपी सेना की विजय पताका को हरण किया है, जिसने प्रकाशमान सहज तेज के समूह से पाप रूपी प्रबल अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है और जो सदा अतिशय शुद्ध रहता है ॥२१०॥''

''यह निर्मल आत्मतत्त्व सदा जयवन्त रहे जिसने कि संसार को नष्ट कर दिया है, जो महामुनि गणधर देव के हृदय कमल में स्थित हैं जिसने संसार के कारणों को छोड़ दिया है, जो एकान्त से शुद्ध है, सदा निज महिमा में लीन रहता है और सम्यग्दृष्टियों का गोचर-विषय है ॥२११॥''

हो संयमी नियम में यम में बिठाता, जो आत्म को पतन से अघ से उठाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२७॥

यस्य खलु बाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखस्य निर्जिताखिलेन्द्रियव्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रिया-निवृत्तिरूपे बाह्यसंयमे कायवाङ्मनोगुप्तिरूपसकलेन्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितकालाचरणमात्रे नियमे परमब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वस्य स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपञ्चाञ्चित-पञ्चाचारे पञ्चमगतिहेतुभूते किञ्चनभावप्रपञ्चपरिहीणे सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादासादितनिरञ्जननिजकारणपरमात्मा सदा सन्निहितः तस्य परद्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतराग-सम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतं स्थायि भवतीति। इति केवलिनां शासने प्रतिपादितम्।

मन्दाक्रान्ता

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनां शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत्।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाधिरामे ॥२१२॥

इस गाथा में भी आत्मा ही उपादेय है—यह कहा है—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसकी **(अप्पा)** आत्मा **(संजम)** संयम में **(णियमे)** नियम में **(तवे)** तप में **(सण्णिहिदो)** सन्निहित है **(तस्स)** उसकी **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** इस **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ—''जिसका आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में सदा सन्निहित रहता है उसी के स्थायी सामायिक व्रत होता है, ऐसा केवली जिनेन्द्र के शासन में कहा है ॥१२७॥''

टीकार्थ—जो बाह्य प्रपञ्च से पराङ्मुख रहता है, जिसने समस्त इन्द्रियों के व्यापार को जीत लिया है और जो आगामी जिनेन्द्र अवस्था को प्राप्त होने वाला है ऐसे जिस मुनि का परम गुरु के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला निर्मल निज कारण परमात्मा पाप क्रिया के त्याग रूप बाह्य संयम में कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति रूप तथा समस्त इन्द्रियों के व्यापार से रहित अन्तरंग संयम में, निश्चित काल तक आचरण करने रूप नियम में चैतन्यरूप परम ब्रह्म में स्थिर रहने वाले निश्चय अन्तरंग आचार में, स्व स्वरूप में निश्चल स्थिति रूप व्यवहार पञ्चाचार में एवं पञ्चम गति-मोक्ष के कारणभूत अन्यभावों के प्रपञ्च से रहित तथा समस्त दुराचार की निवृत्ति के कारणभूत उत्कृष्ट तपश्चरण में सदा सन्निहित रहता है, परद्रव्य से विमुख, परम वीतराग सम्यग्दृष्टि एवं वीतराग चारित्र को प्राप्त होने वाले उस मुनि के सामायिकव्रत स्थायी होता है-ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

टीकाकार कहते हैं कि—''उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले मुनियों की आत्मा निरन्तर तप में, नियम में, संयम में और सम्यक्चारित्र में स्थिर रहती है। यदि शुद्ध सम्यग्दृष्टि पुरुष का मन संसार के भय को हरने वाले, आगामी तीर्थंकर तथा राग जनित मनोहरता को नष्ट करने वाले उस आत्मा में लीन रहता है तो उनकी यह सहज-स्वाभाविक समता है ॥२१२॥''

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पन्दरूपत्वं भवतीत्युक्तम् -

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

यस्य परमवीतरागसंयमिनः पापाटवीपावकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरति, तस्य महानन्दाभि-लाषिणः जीवस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रतं शाश्वतं भवतीति केवलिनां शासने प्रसिद्धं भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरससमये को विधिः को निषेधः ॥२१३॥

इस गाथा में रागद्वेष के अभाव से निश्चलरूपता होती है, ऐसा कहा है-

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसको **(रोगो दु)** राग और **(दोसो)** द्वेष **(विगडिं दु)** विकृति **(जणेइ ण)** उत्पन्न नहीं होती है **(तस्स)** उसकी **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ—''जिसके राग और द्वेष विकार उत्पन्न नहीं करते उसके स्थायी सामायिक व्रत होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में प्रसिद्ध है।''

टीकार्थ—जिस परम वीतराग संयमी मुनिराज के पापरूप अटवी को जलाने के लिए अग्नि के तुल्य राग अथवा द्वेष विकार भाव उत्पन्न नहीं करते उस महान् आनन्द के अभिलाषी तथा पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारक जीव के स्थायी सामायिक व्रत होता है, ऐसा श्री केवली जिनेन्द्र के शासन में प्रसिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं कि-''जो राग और द्वेष विकार उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं हैं, जिसने ज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा पापसमूहरूपी भयंकर अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जिसमें सहज-स्वाभाविक परमानन्दरूपी अमृत का पूर भरा हुआ है, जो नित्य तथा समरसमय है उस साधु में क्या विधि? और क्या निषेध? अर्थात् उसमें विधि और निषेध का विकल्प नहीं उठता ॥२१३॥''

ये राग-द्वेष मुनि में रहते तथापि, उत्पन्न वे न करते विकृती कदापि।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२८॥

आर्त्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् –

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

यस्तु नित्यनिरञ्जननिजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो-जीवः तिर्यग्योनिप्रेतवासनारकगतिप्रायोग्यतानिमित्तम् आर्त्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति, तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति केवलिदर्शने सिद्धम्।

आर्या

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ॥२१४॥

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत् –

यह आर्त्त और रौद्रध्यान के परित्याग करने से स्थायी रहने वाला सामायिक व्रत के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(दु अट्टं च रुद्दं च)** आर्त और रौद्र **(झाणं)** ध्यान को **(णिच्चसो)**नित्य **(वज्जेदि)** छोड़ता है **(तस्स)** उसके **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ–''जो आर्त्त और रौद्रध्यान को छोड़ता है उसके निरन्तर स्थायी सामायिकव्रत होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१२९॥''

टीकार्थ–नित्य निरञ्जन निज कारणसमयसार रूप निज स्वरूप में नियत तथा शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत परम वीतराग सुखरूपी अमृत के पान करने में तत्पर रहने वाला जो जीव तिर्यंच तथा नरकगति की योग्यता के निमित्तभूत आर्त्त और रौद्रध्यान को नित्य ही छोड़ता है उसके स्थायी सामायिकव्रत होता है, ऐसा श्री केवली भगवान् के दर्शन-मत में प्रसिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस प्रकार जो मुनि निरन्तर आर्त्त और रौद्रध्यान को छोड़ता है, उसके वह सामायिकव्रत होता है, जो कि अन्य अनेक व्रतों का अनुगामी होता है, ऐसा श्री जिनशासन में प्रसिद्ध है ॥२१४॥''

यह शुभ-अशुभ परिणामों से उत्पन्न पुण्य-पाप कार्यों के परित्याग का विधान है–

लो आर्त-रौद्रमय ध्यान नहीं लगाता, पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२९॥

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनक्षालनसंवाहनादि-वैयावृत्त्यकरणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जितं पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणाम संजातम-शुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरंध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमिस्थानं तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्धं सामायिकव्रतं भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानन्दं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम्।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनः स्यात् ॥२१५॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(दु पुण्णं च पावं च)** पुण्य और पाप **(भावं)** भाव को **(णिच्चसो)** नित्य **(वज्जेदि)** छोड़ता है **(तस्स)** उसके **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ—''जो निरन्तर पुण्य और पाप रूप भाव को छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक व्रत होता है ऐसा केवली भगवान् के मत में प्रसिद्ध है ॥१३०॥''

टीकार्थ—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के परित्याग रूप लक्षण से लक्षित परम जितेन्द्रिय योगिराज के चरण कमलों का संमर्दन करना आदि वैयावृत्य के करने से उत्पन्न शुभ परिणति विशेष से जिसका उपार्जन होता है वह पुण्यकर्म है, तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणामों से जो उत्पन्न होता है वह अशुभ-पापकर्म है। सहज वैराग्य रूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान सुशोभित होने वाला जो मुनि संसृति (संसार) रूप स्त्री की विलास चेष्टाओं के जन्म स्थान रूप उक्त दोनों-पुण्य पाप कर्मों को छोड़ता है उसके निरन्तर सामायिकव्रत होता है, ऐसा केवली के मत में प्रसिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं कि-''जो संसार के मूलभूत सर्व प्रकार के पुण्य पाप को छोड़कर नित्यानन्दरूप सहज चैतन्य भाव को प्राप्त होता है, शुद्ध जीवास्तिकायरूप उसी जीव में निरन्तर सम्यग्दर्शन का विहार होता है और वही बाद में त्रिभुवन के लोगों से पूजित होता हुआ जिनेन्द्र

लो पाप-पुण्यमय भाव कभी न लाता, पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३०॥

शिखरिणी

स्वतः सिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम्।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानन्दसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ॥२१६॥
अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू-
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः।
क्वचिद् गत्यत्वेन (त्यक्तैवं) व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा (?) पुनरपि स सिद्धो न चलति ॥२१७॥

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचारित्रस्वरूपाख्यानमेतत्-

जो दु हस्सं रई सोगं अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३१॥
जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३२॥

होता है ॥२१५॥''

''मैं उस स्वतः सिद्ध ज्ञान की सदा पूजा करता हूँ जो कि पाप-पुण्यरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है, महामोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रबल तेजरूप है, मुक्ति का मूल कारण है, उपाधि रहित महान् आनन्द और सुख को देने वाला है और संसार सम्बन्धी तिरस्कार के नष्ट करने में निपुण है ॥२१६॥''

''यह जीव पाप समूह के वश से संसृति-संसाररूपी स्त्री के स्वामित्व को प्राप्त कर कामजनित सुख से आकुल बुद्धि होता हुआ पुनः पुनः उत्पन्न होता है और कभी इसे छोड़कर उस निर्वाण सुख को प्राप्त होता है जिसे छोड़कर सिद्ध जीव फिर कभी चलायमान नहीं होते अर्थात् उसी एक में लीन रहते हैं ॥२१७॥''

जो शोक को अरति को रति-हास्य त्यागे, हो नित्य दूर उनसे मुनि नित्य जागे।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३१॥

ग्लानी त्रिवेद भय को मुनि त्यागता है, हो दूर नित्य उनसे नित जागता है।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३२॥

मोहनीयकर्मसमुपजनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलित-कलङ्कपङ्कात्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलिभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति।

शिखरिणी

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम्।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ॥२१८॥

यह नव-नोकषाय को जीतने से प्राप्त हुए सामायिकचारित्र के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(हस्सं)** हास्य, **(रई)** रति, **(सोगं)** शोक, **(अरदिं)** अरति **(णिच्चसो)** नित्य **(दु वज्जेदि)** छोड़ता है **(तस्स)** उसके **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

(जो) जो **(दुगुंछा)** जुगुप्सा, **(भयं)** भय, **(वेदं)** वेद **(सव्वं)** सबको **(णिच्चसा)** नित्य **(वज्जेदि)** छोड़ता है **(तस्य)** उसके **(ठाइ)** स्थायी **(सामाइगं)** सामायिक है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ–''जो हास्य, रति, शोक और अरति को छोड़ता है उसी के निरन्तर स्थायी सामायिकव्रत होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१३१॥''

''जो जुगुप्सा, भय और समस्त वेदों को नित्य छोड़ता है उसी के स्थायी सामायिकव्रत होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१३२॥''

टीकार्थ–निश्चय रत्नत्रयात्मक परम तपश्चरण रूप धन को धारण करने वाला जो मुनि परम समाधि के बल से मोहनीय कर्म से उत्पन्न स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा नामक नोकषाय से उद्भूत कलंक-पंक रूप समस्त विकार जाल को छोड़ता है उसी के केवली भट्टारक के शासन में प्रसिद्ध उत्कृष्ट सामायिक व्रत स्थायी रूप से होता है ऐसा दो गाथाओं में कहा गया है –

टीकाकार कहते हैं कि–''मैं हर्षपूर्वक नवनोकषाय से उत्पन्न हुए उस समस्त वैषयिक आनन्द का त्याग करता हूँ, जो कि संसार रूपी स्त्री से उत्पन्न सुख एवं दुःख के समूह को करने वाला है, महामोह से अन्धे मनुष्यों को सदा सुलभ है, और समाधि में स्थित रहने वाले प्रसन्नचित्त मुनियों को अत्यन्त दुर्लभ है ॥२१८॥''

परमसमाध्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् —

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३३॥

यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिल-विकल्पजालनिर्मुक्तनिश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखण्डाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षण-मक्षयानन्दाम्भोधिमज्जंतं सकलबाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदन्तःक्रियाधिकरणंस्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरम-समाधिसंपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हि तस्य खलु जिनेश्वर-शासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्ति-गुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति।

यह परम समाध्यधिकार के उपसंहार का निरूपण है –

अन्वयार्थ—(जो) जो **(णिच्चसो)** नित्य **(धम्मं च)** धर्म **(च सुक्कं)** और शुक्ल **(झाणं)** ध्यान को **(दु झाएदि)** ध्याता है **(तस्स)** उसके **(सामाइगं)** सामायिक **(ठाइ)** स्थायी है **(इदि)** ऐसा **(केवलिसासणे)** केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथार्थ—''जो निरन्तर धर्म और शुक्लध्यान को ध्याता है उसके स्थायी सामायिकव्रत होता है ऐसा श्री केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥१३३॥''

टीकार्थ—जो सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का लोभी है स्वात्मा का आश्रय करने वाले निश्चय धर्मध्यान के प्रभाव से जो समस्त विकल्प जाल से निर्मुक्त है और निश्चयशुक्लध्यान के द्वारा जो निरन्तर अखण्ड अद्वैत सहज चैतन्य विलास रूप लक्षण से युक्त आनन्द रूप समुद्र में अवगाहन करता हुआ, समस्त बाह्य क्रियाओं से पराङ्मुख हो निरन्तर अन्तःप्रवृत्ति का आधार होता है ऐसा जो परम जितेन्द्रिय योगीश्वर स्वात्मनिष्ठ निर्विकल्पक परम समाधि रूप सम्पत्ति के कारणभूत धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा सदा आनन्द रूप आत्मा का ध्यान करता है उसी के जिनेन्द्रदेव के शासन में निरूपित नित्य शुद्ध त्रिगुप्ति से गुप्त परम समाधि रूप स्थायी सामायिकव्रत होता है।

जो धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा लगाता, होना न दूर उनसे यह साधु गाथा।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३३॥

मन्दाक्रान्ता

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेऽप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन्।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम् ॥२१९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः।

टीकाकार कहते हैं कि–''शुक्लध्यान में अथवा निर्मल परमानन्द रूप तत्त्व का आश्रय करने वाले धर्मध्यान में जिसकी मति परिणत हो रही है ऐसा शुद्धरत्नत्रय का धारी पुरुष भेदवाद का अभाव होने से उस अद्‌भुत उत्कृष्ट मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करता है, जो कि दुःखों के जाल से रहित है, विशाल है और संसारी जीवों के वचन तथा मन के मार्ग से दूर है ॥२१९॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं तथा पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारण करने वाले हैं ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में परमसमाध्यधिकार नाम का नवम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

१०.

परमभक्त्यधिकारः

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् –

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

चतुर्गतिसंसारपरिग्रहणभ्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृतिप्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्याः षट्, मध्यमास्त्रयः, उत्तमौ द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति। अथवा भवभयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः

अब इस समय भक्त्यधिकार कहा जाता है–

यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(सावगो)** श्रावक **(समणो)** या श्रमण **(सम्मत्त-णाण-चरणे)** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में **(भत्तिं)** भक्ति **(कुणइ)** करता है **(तस्स)** उसके **(दु)** ही **(णिव्वुदिभत्ती)** निवृत्ति की भक्ति **(होदि)** होती है **(त्ति)** ऐसा **(जिणेहि)** श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा **(पण्णत्तं)** कहा गया है।

गाथार्थ–''जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में भक्ति करता है–उनकी आराधना करता है उसके निर्वृत्ति भक्ति मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥१३४॥''

टीकार्थ–''चतुर्गतिरूप संसार के ग्रहण और परिभ्रमण में कारणभूत जो तीव्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति उसके विरुद्ध निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान सम्यग् अवबोध और सम्यक् आचरणरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का भजन करना भक्ति कहलाती है, इसी को आराधना कहते हैं। श्रावक के ग्यारह पद होते हैं उनमें से प्रारम्भ के छह पद जघन्य हैं, उसके आगे के तीन पद मध्यम और अन्त के दो उत्तम पद हैं। ये सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति-आराधना करते हैं। अथवा संसार के भय से भयभीत, अतिशय निष्कर्म प्रवृत्ति के धारक परम तपस्वी मुनिराज

सम्यक्त्व-ज्ञान-व्रत की मुनि श्रावकों से, जो भक्ति हो नियम-संयमधारियों से।
निर्वाण-भक्ति उनकी वह है कहाती, वाणी जिनेन्द्र कथिता इस भाँति गाती ॥१३४॥

परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति। तेषां परमश्रावकाणां परमतपोधनानां च जिनोत्तमैः प्रज्ञप्ता निर्वृत्तिभक्तिरपुनर्भवपुरंध्रिकासेवा भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम्।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेताः
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥२२०॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् –

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

ये पुराणपुरुषाः समस्तकर्मक्षयोपायहेतुभूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या-

---

रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय की भक्ति करते हैं उन परम श्रावकों और परम तपस्वी मुनियों के निर्वाण-भक्ति अर्थात् मुक्तिरूपी वनिता की सेवा होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।''

टीकाकार कहते हैं कि–''जो भक्त श्रावक अथवा भक्तसंयमी संसार सम्बन्धी भय को हरने वाले, इस सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान और शुद्धचारित्र में निरन्तर संसार के छेदने में समर्थ अनुपम भक्ति करता है वह सदा काम-क्रोध आदि पापों के समूह से निर्मुक्तचित्त होता है-मोक्ष प्राप्त करता है ॥२२०॥''

यह व्यवहारनय की प्रधानता से सिद्धभक्ति के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(मोक्खंगयपुरिसाणं)** मोक्ष गए पुरुषों के **(गुणभेदं)** गुणभेदों को **(जाणिऊण)** जानकर **(तेसिं पि)** उनकी भी **(परमभत्तिं)** परमभक्ति **(कुणदि)** करते हैं **(ववहारणयेण)** वह व्यवहारनय से **(परिकहियं)** कही है।

गाथार्थ–''जो मोक्ष को प्राप्त हुए पुरुषों के गुणभेद को जानकर उनकी भक्ति करता है उसकी वह भक्ति व्यवहार नय से कही गयी है ॥१३५॥''

टीकार्थ–जो पुराण-पुरुष अभेदानुपचार रूप रत्नत्रय की परिणति के द्वारा समस्त कर्मक्षय के उपायों के हेतुभूत कारण परमात्मा की अच्छी तरह से आराधना करके सिद्ध हुए हैं उसके

सन्मार्ग पे विचरते मुनि साधुवों के, भेदोपभेद गुण जान यतीश्वरों के।
होना विलीन उनकी शुचि भक्ति में है, निर्वाण-भक्ति वह भी व्यवहार में है ॥१३५॥

सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां केवलज्ञानादिशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरम्पराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्यः करोति, तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृतिभक्तिर्भवतीति।

अनुष्टुप्

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान्।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ॥२२१॥

आर्या

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृतिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ॥२२२॥
निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयम्।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ॥२२३॥

शार्दूलविक्रीडित

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणाः
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ॥२२४॥

केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर जो निकटभव्य मोक्ष प्राप्ति के परम्परा कारणरूप परम भक्ति को करता है उस मुमुक्षु के व्यवहारनय से निवृत्ति भक्ति होती है।

टीकाकार कहते हैं कि–''मैं कर्मसमूह को नष्ट करने वाले मुक्ति रूपी वधू के स्वामी, अष्टगुण रूप ऐश्वर्य को प्राप्त और मोक्ष में रहने वाले सिद्ध परमेष्ठी की निरन्तर वन्दना करता हूँ ॥२२१॥''

''इस प्रकार की भक्ति करना व्यवहारनय की निर्वृत्तिभक्ति है और रत्नत्रय की भक्ति करना निश्चयनय की निर्वृत्ति भक्ति है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२२२॥''

''जो समस्त दोषों से दूर है और केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का घर है ऐसा सिद्धत्व पद शुद्धोपयोग का फल है–ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं ॥२२३॥''

''मैं उन सिद्ध भगवान् की प्रतिदिन स्तुति करता हूँ जो कि लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, भव-भव के क्लेशरूपी समुद्र का अन्त पा चुके हैं, जो मुक्तिरूपी स्त्री के स्तनों के आलिङ्गन से उत्पन्न हुए सुख की खान हैं, शुद्ध आत्मा के चिन्तन से जिनके केवलज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं और जो पाप रूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं ॥२२४॥''

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान्।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ॥२२५॥

वसन्ततिलका

ये मर्त्यदेवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति-
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः।
सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र-
पंकेरुहोरुमकरन्दमधुव्रताः स्युः ॥२२६॥

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् —

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥१३६॥

''मैं उन सिद्ध भगवान् की निरन्तर शरण गहता हूँ, जो कि तीन लोक के अग्रभाग पर रहते हैं, गुणों से गुरु हैं, ज्ञेय-पदार्थरूपी समुद्र के पारगामी हैं, मुक्तिलक्ष्मीरूपी वनिता के मुखकमल को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, आत्माधीन सुख के समुद्र हैं जिन्हें अष्ट गुण प्राप्त हुए हैं, जो संसार को हरने वाले हैं, जिन्होंने अष्टकर्मों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो नित्य हैं और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं ॥२२५॥''

''जो मनुष्य और देवों के समूह की परोक्ष भक्ति के योग्य हैं, सदा शिवरूप हैं, उत्कृष्ट हैं, प्रसिद्ध हैं और मुक्तिरूपी स्त्री के मनोहर मुखकमल के अत्यधिक मकरन्द का पान करने के लिए भ्रमर के समान हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ॥२२६॥''

यह निज परमात्मभक्ति के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जीवो दु) जीव **(अप्पाणं)** अपने आत्मा को **(मोक्खपहे)** मोक्षपथ पर **(ठविऊण)** स्थापित करके **(णिव्वुदी)** निर्वृत्ति की **(भत्ती)** भक्ति **(कुणदि य)** करता है **(तेण)** उससे **(णियप्पाणं)** निज आत्मा के **(असहायगुणं)** असहाय गुणों को **(पावइ)** प्राप्त करता है।

गाथार्थ–''जो जीव अपनी आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर निर्वृत्ति-मुक्ति की भक्ति करता है, वह असहाय गुणों से युक्त अपनी आत्मा को प्राप्त कर लेता है ॥१३६॥''

जो साधु मोक्ष पथ पे निज को चलाता, निर्वाण-भक्ति-भर में मन को लगाता।
स्वाधीनपूर्ण-गुण-युक्त निजी दशा को, पाता नितान्त, कर नष्ट निरी निशा को ॥१३६॥

भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागमोक्षमार्गे निरञ्जननिजपरमानन्दपीयूषपानाभि-मुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति निर्वृतेर्मुक्त्यङ्गनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्तिगुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति।

स्रग्धरा

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये श्रीमुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे।
संस्थाप्यानन्दभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥२२७॥

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् –

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३७॥

टीकार्थ–निरञ्जन निज परमात्मा के आनन्द रूपी अमृत के पान करने में सन्मुख रहने वाला जो जीव भेदकल्पना से निरपेक्ष निरुपचार-यथार्थ रत्नत्रय रूप निर्बाध मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर निर्वृत्ति अर्थात् मुक्तिरूप अङ्गना के चरणकमल में उत्कृष्ट भक्ति करता है वह भव्य उस भक्तिगुण के प्रभाव से आवरणरहित सहज ज्ञान गुणमय होने से असहायगुणरूप निज आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''यह आत्मा-जीव अविनाशी, श्रीमुक्तिलक्ष्मी के कारण, अनुपम, सहज ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र ही जिसका स्वरूप है ऐसे निश्चल महाशुद्ध रत्नत्रय रूप इस आत्मा में अपने आत्मा को स्थापित करता है वह चैतन्यचमत्कार की भक्ति के द्वारा आनन्द से सुशोभित और विपत्ति से रहित उस उत्कृष्ट निरतिशय गृह को प्राप्त होता है, जिसे कि सिद्धिवधू के वल्लभ श्री सिद्धपरमेष्ठी प्राप्त कर चुके हैं ॥२२७॥''

यह निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जो साहू) जो साधु **(रायादीपरिहारे)** रागादि के परिहार में **(अप्पाणं)** आत्मा को **(जुंजदे दु)** युक्त करता है, जोड़ता है **(सो)** वह **(जोगभत्तिजुत्तो)** योग भक्ति से युक्त है **(इदरस्स)** अन्य को **(किह य)** कैसे **(जोगो)** योग **(हवे)** होवे।

गाथार्थ–''जो साधु अपने आत्मा को रागादि के त्याग में लगाता है वही योगभक्ति से युक्त

रागादि मोह परिणामन को मिटाने, जो साधु उद्यत निरंतर है सयाने।
वे योग-भक्ति सर में डुबकी लगाते, पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाते ॥१३७॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां परिहारे सति यस्तु साधुरासन्नभव्यः निजेनाखण्डाद्वैतपरमानन्दस्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति, स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चययोग-भक्तियुक्तः। इतरस्य बाह्यप्रपञ्चसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति।

तथा चोक्तम् –

अनुष्टुप्

''आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥''

तथा हि –

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
य योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ॥२२८॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम् –

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

होता है अन्य पुरुष के योग्य कैसे हो सकता है? ॥१३७॥''

टीकार्थ–सम्पूर्ण अन्तर्मुखाकार परम समाधि के द्वारा मोह, रागद्वेष आदि समस्त परभावों का परिहार हो चुकने पर जो निकट भव्य साधु निज कारण परमात्मा को अखण्ड-अद्वैत परमानन्द स्वरूप निज आत्मा के साथ युक्त करता है, वही परम तपश्चरणरूप धन का धारक शुद्ध निश्चय योगभक्ति से युक्त होता है। बाह्य प्रपञ्च में सुख मानने वाले अन्य साधु के वह योगभक्ति कैसे हो सकती है।

जैसा कि कहा है–''आत्मप्रयत्न के सापेक्ष-आधीन रहने वाली जो विशिष्ट मनोगति है उसका ब्रह्म-आत्मा के साथ संयोग होना ही योग कहलाता है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं–''जो मुनीश्वर अपने आत्मा को निरन्तर अपने ही आत्मा के साथ संयुक्त रखता है वही निश्चयनय से योगभक्तियुक्त हो सकता है ॥२२८॥''

यहाँ भी पूर्व गाथा की तरह निश्चययोग भक्ति का स्वरूप कहा गया है –

अन्वयार्थ–(सव्व वियप्पाभावे) समस्त विकल्पों के अभाव में **(जो साहू)** जो साधु **(अप्पाणं)** आत्मा को **(दु जुंजदे)** (आत्मा से) युक्त करता है **(सो)** वह **(जोगभत्तिजुत्तो)** योगभक्ति से युक्त है **(इदरस्स)** अन्य को **(जोगो य)** योग **(किह हवे)** कैसे हो सकता है?

संकल्प जल्प सविकल्पन से छुड़ाता, हो निर्विकल्प निज को निज में सुलाता।
सो योग-भक्ति सर में डुबकी लगाता, पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाता? ॥१३८॥

अत्यपूर्वनिरुपरागरत्नत्रयात्मकनिजचिद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमाधिना निखिलमोह-रागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूप-मत्यासन्न-भव्यजीवः सदा युक्त एव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्नान्येषाम् इति।

अनुष्टुप्

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥२२९॥

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः –

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावं सो हवे जोगो ॥१३९॥

गाथार्थ–''जो साधु अपने आपको समस्त विकल्पों के अभाव करने में युक्त करता है वही योगभक्ति से सहित होता है, अन्य के वह योग कैसे हो सकता है? ॥१३८॥''

टीकार्थ–सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुखाकार प्रवृत्ति करने वाला निज कारण समयसार स्वरूप जो अत्यन्त निकट भव्य जीव, अत्यन्त अपूर्व निर्बाध रत्नत्रयरूप स्वकीय चैतन्य विलास के लक्षण से युक्त विकल्पातीत परम समाधि के द्वारा समस्त मोह, रागद्वेषादि अनेक विकल्पों का अभाव होने पर परमसमरसीभाव से सदाकाल युक्त रहता है उसी के निश्चययोग भक्ति होती है, अन्य के नहीं।

टीकाकार कहते हैं कि–''भेदवाद का अभाव होने पर जो यह उत्कृष्ट योगभक्ति होती है, उसी से योगियों को आत्मप्राप्ति स्वरूप मुक्ति प्राप्त होती है ॥२२९॥''

यहाँ समस्त गुणों के धारक गणधरदेव आदि जैन महर्षियों द्वारा कहे हुए तत्त्वों में विपरीताभिनिवेश से रहित जो आत्मभाव है वही निश्चय परमयोग है...यह कहा गया है –

अन्वयार्थ–(विवरीयाभिणिवेसं) विपरीत अभिनिवेश को **(परिचत्ता)** छोड़कर **(जोण्ह-कहिय-तच्चेसु)**जिनेन्द्रदेव कथित तत्त्वों में **(जो)** जो **(अप्पाणं)** आत्मा को **(जुंजदि)** लगाता है **(सो)** वह **(णियभावो)** निजभाव **(जोगो)** योग **(हवे)** होता है।

गाथार्थ–''जो विपरीत अभिप्राय को छोड़कर जैन मुनियों द्वारा कहे हुए तत्त्वों में स्वकीय निजभाव को लगाता है वही योग है ॥१३९॥''

मिथ्यात्व भाव परिणाम विभाव त्यागे, हो जैन तत्त्व भर में रत आप जागे।
सो योग, भाव निज का अभिराम साता, ऐसा वसन्ततिलका अविराम गाता ॥१३९॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेश:। अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहारनयाभ्यां बोद्धव्यानि। सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैना:, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थ:। तैरभिहितानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु य: परमजिनयोगीश्वर: स्वात्मानं युनक्ति, तस्य च निजभाव एव परमयोग इति।

वसन्ततिलका

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविन्द-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथ:
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योग: ॥२३०॥

भक्त्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् –

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरुजोगवरभत्तिं ॥१४०॥

टीकार्थ–अन्य मत के तीर्थ प्रवर्तकों द्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थ में जो अभिनिवेश अर्थात् दुराग्रह है वही विपरीताभिनिवेश कहलाता है। इस विपरीताभिनिवेश को छोड़कर श्री जैन मुनियों के द्वारा कहे हुए तत्त्वों को निश्चय और व्यवहारनय से जानना चाहिए। भगवान् तीर्थपति-अरहन्तदेव के चरणकमलों के आश्रय रहने वाले गणधरदेव आदि वास्तव में जैन कहलाते हैं। उन्होंने समस्त जीवादि तत्त्वों का कथन किया है, जो परम जितेन्द्रिय मुनिराज उन्हीं तत्त्वों में अपने आत्मा को नियुक्त करता है-लगाता है उसका वह निज भाव ही परम योग है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो मुनिराज इस दुराग्रह को छोड़कर भव्यजीवों के संसार को घात करने वाले, जैन महर्षियों के मुखकमल से प्रकट हुए तत्त्वों में साक्षात् अपना अभिप्राय लगाता है, उसका वह अभिप्राय ही योग है ॥२३०॥''

यह भक्त्यधिकार के उपसंहार का कथन है–

अन्वयार्थ–(उसहादि-जिणवरिंदा) वृषभादि जिनवरेन्द्र **(एवं)** इस प्रकार **(जोगवरभत्तिं)** श्रेष्ठ योग भक्ति **(काऊण)** करके **(णिव्वुदिसुहमावण्णा)** निर्वृत्ति सुख को प्राप्त हुए हैं **(तम्हा)** इसलिए **(जोगवरभत्तिं)** योग की श्रेष्ठ भक्ति को **(धरु)** तुम धारण करो।

गाथार्थ–''चूँकि श्रीऋषभ आदि जिनेन्द्र भी इसी तरह उत्कृष्ट योगभक्ति करके निर्वाण सुख को प्राप्त हुए हैं अत: तुम सब भी उत्कृष्ट योगभक्ति को धारण करो ॥१४०॥''

तीर्थंकरों वृषभ-सन्मति आदिकों ने, की योग-भक्ति यम-संयम-धारकों ने।
पश्चात् बने शिव बने शिवधामवासी, धारो अत: तुम सुयोग बनो उदासी ॥१४०॥

अस्मिन् भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः चतुर्विंशतितीर्थकरपरमदेवाः सर्वज्ञ-वीतरागाः त्रिभुवनवर्तिकीर्तयो महादेवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसम्बन्धिनीं शुद्ध-निश्चययोगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढनिर्भरानन्दपरमसुधारसपूरत-परितृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटितभव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति।

शार्दूलविक्रीडित

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान्।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशाङ्गनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥२३१॥

आर्या

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोऽप्येवमुक्तमार्गेण।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ॥२३२॥
अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम्।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥२३३॥

इस भरतक्षेत्र में पहले श्रीऋषभ को आदि लेकर श्री वर्द्धमानपर्यन्त चौबीस तीर्थंकर परमदेव हो चुके हैं जो कि सर्वज्ञ वीतराग थे, तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल रही थी, महादेवाधिदेव और परमेश्वर थे, वे सभी इसी प्रकार स्वात्मा से सम्बन्ध रखने वाली, शुद्ध निश्चय योगभक्ति करके परम मुक्ति रूपी स्त्री के स्थूल स्तनों के गाढ़ आलिंगन से उत्पन्न परमानन्दरूपी सुधारस के प्रवाह से सर्वात्मप्रदेशों में संतुष्ट हुए हैं इसलिए तुम सब महाजन भी जिनका कि भव्यत्वगुण प्रकट हो रहा है स्वात्मा से सम्बन्ध रखने वाली तथा परम वीतराग सुख को देने वाली योगभक्ति करो।

टीकाकार कहते हैं कि–''मैं उन ऋषभादि तीर्थंकरों की स्तुति करता हूँ, जो कि गुणों से गुरु हैं, त्रैलोक्य के पुण्य के समूह हैं, इन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग में सुशोभित मणियों की माला से पूजित हैं, शची आदि प्रसिद्ध देवाङ्गनाओं के समूह और इन्द्र के द्वारा जन्म समय में किये हुए नृत्यादि भोग तथा हास से जो निर्मल हैं और लक्ष्मी तथा कीर्ति के स्वामी हैं ॥२३१॥''

''वृषभादि महावीरपर्यन्त तीर्थंकर भी इसी प्रकार ऊपर कहे हुए मार्ग से योगभक्ति करके मुक्ति रूपी स्त्री के सुख को प्राप्त हुए हैं ॥२३२॥''

''मोक्षसुख की सिद्धि के लिए मैं शुद्ध उत्कृष्ट योगभक्ति करता हूँ और सभी जीव संसार के भयंकर भय से डरकर निरन्तर इसी उत्कृष्ट योगभक्ति को करें ॥२३३॥''

शार्दूलविक्रीडित

रागद्वेषपरम्परापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानन्दात्मतत्त्वस्थितः।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परं ब्रह्मणि ॥२३४॥

अनुष्टुप्

निर्वृत्तेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम्।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥२३५॥
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥२३६॥

वसन्ततिलका

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम्।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः॥

''मैं रागद्वेष की परम्परा में परिणत चित्त को छोड़कर इस समय शुद्धध्यान में लीन मन से आनन्द रूप आत्मतत्त्व में स्थित होता हूँ और परमगुरु के समीप में निर्मल सुख को करने वाले धर्म को पाकर ज्ञान के द्वारा समस्त मोह की महिमा को दूर करता हुआ परमब्रह्म में लीन होता हूँ ॥२३४॥''

''जिनके इन्द्रियों की चपलता दूर हो गई है और तत्त्व की प्राप्ति में जिनका चित्त लुब्ध हो रहा है ऐसे साधुओं को ही सुन्दर आनन्द को शरण करने वाला उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है ॥२३५॥''

''अत्यन्त अपूर्व निजात्मभावना से उत्पन्न सुख के लिए जो मुनि प्रयत्न करते हैं वे ही जीवन्मुक्त अरहन्त होते हैं, अन्य नहीं ॥२३६॥''

''मैं बार-बार उसी एक परमात्मतत्त्व का चिन्तन करता हूँ जो कि सांसारिक सुख-दुःखादि के द्वन्द्व से परे तथा निर्मल है। मैं चूँकि एक मुक्ति की ही इच्छा रखता हूँ और सांसारिक सुख से निस्पृह हूँ अतः मुझे अन्य पदार्थों के समूह से क्या प्रयोजन है? ॥२३७॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, तथा पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में परमभक्त्यधिकार नाम का दशम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

११.

निश्चयपरमावश्यकाधिकार:

अथ साम्प्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम् –

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

यः खलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः। तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपञ्चपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधान-परमावश्यककर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति। किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्त-

---

अब इस समय व्यवहारनयाश्रित छह आवश्यकों के विरुद्ध शुद्ध निश्चयाधिकार कहा जाता है–

इस गाथा में निरन्तर स्ववश रहने वाले साधु के ही निश्चय आवश्यक कर्म होता है, यह कहा है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(अण्णवसो)** अन्य के वश **(ण हवदि)** नहीं होता **(तस्स)** उसके **(कम्मं)** कर्म **(आवासं)** आवश्यक **(दु भणंति)** कहलाते हैं **(कम्मविणासणजोगो)** कर्म विनाश करने वाला योग **(णिव्वुदिमग्गो)** निर्वृत्ति मार्ग है **(त्ति)** ऐसा **(पिज्जुत्तो)** प्ररूपित है।

गाथार्थ–''जो दूसरे के वश नहीं है वह अवश है, उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। यह आवश्यक ही कर्मों के नाश करने में समर्थ मोक्ष का मार्ग है ऐसा कहा गया है ॥१४१॥''

टीकार्थ–निश्चय से जो विधिपूर्वक श्रीजिनेन्द्रदेव के मार्ग का आचरण करने में कुशल है, वह सदा अन्तर्मुखाकार प्रवृत्ति होने से अन्यवश नहीं होता किन्तु साक्षात् स्ववश रहता है। व्यावहारिक क्रियाओं के प्रपञ्च से पराङ्मुख रहने वाले उस साधु के स्वकीय आत्मा के आश्रय से होने वाले धर्मध्यान की प्रधानता से सहित परमावश्यक कर्म निरन्तर होता है, ऐसा परम तपश्चरण में लीन परम जितेन्द्रिय योगीश्वर कहते हैं तथा समस्त कर्मों के विनाश का कारण

जो इन्द्रियों व मन के वश में न आता, आवश्यका वह रहा मुनि कार्य साता।
जो योग है करम नाशक है कहाता, निर्वाण मार्ग वह आगम यों बताता ॥१४१॥

परमसमाधिलक्षणपरमयोग: सकलकर्मविनाशनहेतु: स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृत्तिमार्ग इति निरुक्ति-र्व्युत्पत्तिरिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि: —

मन्दाक्रान्ता

''आत्मा धर्म: स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसेज्ज्ञानतत्त्वे निलीनम्।
प्राप्नोत्युच्चैरचलितया नि:प्रकम्पप्रकाशात्
स्फूर्जज्ज्योति:सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥''

तथा हि —

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्म: साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम्।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्ग:
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ॥२३८॥

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तम् —

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो (वस्स) होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥

एवं त्रिगुप्तियों से गुप्त परम समाधिरूप लक्षण से युक्त जो परम योग है, वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वृत्ति का मार्ग है ऐसी आवश्यक शब्द की निरुक्ति–व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दार्थ है।

ऐसा ही श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने कहा है–''इस प्रकार आत्मा नित्यानन्द के प्रसार से सरावोर ज्ञानतत्त्व में लीन शुद्धोपयोग को पाकर स्वयं धर्मरूप हो जाता है और अविचल रूप से निष्कम्प प्रकाश होने के कारण उस मणिमय दीप की शोभा को प्राप्त होता है जो कि स्वाभाविक वर्धमानज्योति से सुशोभित हो रहा है।''

टीकाकार कहते हैं कि –''स्ववश से उत्पन्न होने वाला आवश्यक कर्मरूप यह साक्षात् धर्म सत् चिदानन्द की मूर्ति स्वरूप अपने उत्कृष्ट आत्मा में ही होता है। कर्मों के क्षय करने में समर्थ यह आवश्यक ही मुक्ति का मार्ग है, अत: मैं इसी मार्ग के द्वारा किसी अद्भुत निर्विकल्पक सुख को शीघ्र ही प्राप्त होता हूँ ॥२३८॥''

हो अन्य के वश नहीं अवशी कहाता, आवश्यका, अवश का वह कार्य भाता।
है युक्ति का उचित अर्थ उपाय होता, ऐसा अवश्यक सयुक्तिक सिद्ध होता ॥१४२॥

यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम्। निरवयवस्योपायो युक्तिः। अवयवी (अवयवः) कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः। अवशः परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति।

मन्दाक्रान्ता

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात् ॥२३९॥

अवश-किसी के वश न रहने वाले परम जितेन्द्रिय योगीश्वर का जो परमावश्यक कार्य है वह आवश्य कहलाता है, यह इस गाथा में कहा है-

अन्वयार्थ-(ण वसो) जो वश में नहीं है **(अवसो)** वह अवश है **(अवसस्स)** अवश का **(कम्म)** कर्म **(वावस्सयं)** वह आवश्यक है **(ति)** ऐसा **(बोद्धव्वा)** जानना चाहिए **(जुत्ति त्ति)** इस प्रकार युक्ति **(उवाअं ति य)** उपाय है **(णिज्जुत्ती)** निर्युक्ति **(णिरवरयो)** निरवयव **(होदि)** होती है।

गाथार्थ-''जो किसी के वश नहीं है, वह अवश कहलाता है, अवश का जो कार्य है उसे आवश्य जानना चाहिए। अथवा निरवयव-शरीर रहित होने की जो युक्ति अथवा उपाय है उसे आवश्य जानना चाहिए। यह आवश्य-आवश्यक शब्द की निरुक्ति-व्युत्पत्ति है ॥१४२॥''

टीकार्थ-जो योगी स्वात्मद्रव्य के परिग्रह को छोड़कर अन्य पदार्थों के वश को प्राप्त नहीं है, वह अवश कहा गया है। उस अवश परम जितेन्द्रिय योगीश्वर का निश्चय धर्मध्यान रूप जो परमावश्यक कर्म है वह आवश्य या आवश्यक होता है ऐसा जानना चाहिए। अथवा जो निरवयव का उपाय या युक्ति है वह आवश्य कहलाता है। अवयव का अर्थ काय-शरीर होता है, इसके अभाव से अवयवाभाव-निरवयव दशा होती है। जो परद्रव्यों के अवश है वह निरवयव होता है। इस प्रकार आवश्य शब्द की निरुक्ति है।

टीकाकार कहते हैं कि-''आत्महित में तत्पर तथा शुद्ध जीवास्तिकाय के सिवाय अन्यद्रव्यों के वश न रहने वाला जो कोई योगी है वह अवश है, उसकी जो संस्थिति-समीचीन दशा है वही आवश्य कहलाता है। और चूँकि उसी आवश्य भाव से प्रकाशमान ज्योति से प्रकट हुई सहज अवस्था के द्वारा पापरूप अन्धकार के पुंज को नष्ट करने वाले इस योगी के अमूर्तता-काय का अभाव होता है अतः इस अमूर्तता का जो उपाय है वह भी आवश्य कहलाता है ॥२३९॥''

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम् –

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिंगी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमन्दिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधन-धान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति।

मालिनी

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभवनान्तर्ध्वान्तपुंजायमानम्।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥२४०॥

जिस जीव के भेदोपचार रत्नत्रय रूप परिणति हो रही है उसके अवशपना (आवश्यक) नहीं होता, यह इस गाथा में कहा गया है –

अन्वयार्थ–(जो) जो **(समणो)** श्रमण **(असुहभावेण)** अशुभभाव सहित **(वट्टदि)** वर्तता है **(सो)** वह **(अण्णवसो)** अन्यवश **(होदि)** होता है **(तम्हा)** इसलिए **(तस्स)** उसका **(कम्मं दु)** कर्म तो **(आवस्सयलक्खणं)** आवश्यक लक्षण **(ण हवे)** नहीं होता है।

गाथार्थ–''जो साधु अशुभकर्म के उदय से अन्यवश रहता है उसके आवश्यक नामक कर्म नहीं होता ॥१४३॥''

टीकार्थ–जो मुन्याभास अप्रशस्तरागादि अशुभभाव के कारण द्रव्यलिंगी होता है अर्थात् स्व-स्वरूप के सिवाय अन्य परद्रव्यों के वश होकर रहता है जघन्य रत्नत्रय रूप परिणति करने वाले उसे जीव के स्वात्मा के आश्रय से होने वाला निश्चय धर्मध्यान रूप परमावश्यक कर्म नहीं हो सकता। जब इसके नहीं हो सकता तब जो केवल भोजन के लिए द्रव्यलिंग-नग्नवेश ग्रहण कर स्वात्मकार्य से विमुख रहता हुआ परम तपश्चरणादिक को भी छोड़कर जिनमन्दिर अथवा तत्सम्बन्धी खेत, मकान, धन-धान्यादिक को ''सर्व कुछ मेरा है'' ऐसा समझता है उसकी बात तो दूर ही है।

टीकाकार कहते हैं कि–''त्रिभुवनरूपी भवन के अन्दर अन्धकार की राशि के समान

वैभाविकी अशुभ आशय बो रहा है, जो अन्य के, श्रमण हो, वश हो रहा है।
आवश्यका न उसका वह कार्य होता, अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४३॥

शार्दूलविक्रीडित

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलङ्कपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः।
सोऽयं सम्प्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

शिखरिणी

तपस्या लोकेऽस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ॥२४२॥

आर्या

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ॥२४३॥

आचरण करने वाला मुनियों का यह कोई भारी और नूतन मोह है जिसके कारण वे तीव्र वैराग्य भाव से तृण की वसतिका तक को छोड़ देते हैं, परन्तु अनुपम मनोहर वसतिकाओं को अपना समझते रहते हैं। निज की तृण वसतिका को छोड़कर भी पर की बड़ी-बड़ी वसतिकाओं को अपना मानते रहते हैं ॥२४०॥''

''इस कलिकाल में भी कहीं कोई ऐसे पुण्यात्मा मुनि होते हैं जो कि मिथ्यात्वादि कलंक पंक से रहित तथा समीचीन धर्म की रक्षा करने वाले मणितुल्य हैं। अनेक परिग्रह के समूह का त्याग करने वाले और पाप रूपी अटवी को भस्म करने के लिए अग्नि तुल्य वे मुनिराज अपनी वर्तमान पर्याय में पृथ्वीतल पर पूजे जाते हैं और आगामी पर्याय में स्वर्ग में देवों द्वारा पूजे जाते हैं ॥२४१॥''

''इस लोक में समस्त विद्वज्जनों को तपस्या ही प्राणों के समान प्रिय है वह यदि योग्य है-वास्तविक है तो मनुष्यों की बात जाने दीजिये सौ इन्द्रों के द्वारा भी पूजनीय होती है। इस उत्तम तपस्या को पाकर भी कामान्धकार से पूर्ण संसार से उत्पन्न हुए सुख में जो कोई रमण करने लगता है खेद है कि वह मूर्ख कलिकाल के द्वारा हता गया है - ठगा गया है ॥२४२॥''

''जो कोई मुनि का वेष धारण कर भी अन्य के वश रहता है वह संसारी है और निरन्तर दुःखों को प्राप्त होता रहता है। पर जो स्ववश रहता है वह जीवन्मुक्त है - जीवित रहता हुआ भी मुक्त के समान है और श्रीजिनेन्द्रदेव से कुछ ही न्यून है ॥२४३॥''

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥२४४॥

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम् –

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुति-शतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादशक्रियातत्परः, पाक्षिक-मासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणपाठकर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकंचुकितधर्मशरीरः

''यही कारण है कि श्रीजिनेन्द्रदेव के मार्गानुगामी मुनियों के समूह में जो स्ववश है वही निरन्तर सुशोभित होता है और जो अन्यवश है वह भृत्यों के समूह में राजा के प्रिय भृत्य के समान मालूम होता है ॥२४४॥''

इस गाथा में भी अन्य पदार्थों के वश रहने वाले अशुद्धान्तरात्मा जीव का लक्षण कहा गया है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(संजदो)** संयत **(खलु)** निश्चय से **(सुहभावे)** शुभभाव में **(चरदि)** आचरण करता है **(सो)** वह **(अण्णवसो)** अन्यवश **(हवेइ)** होता है **(तम्हा)** इसलिए **(तस्स कम्मं)** उसका कर्म **(दु)** तो **(आवासयलक्खणं)** आवश्यक लक्षण **(ण हवे)** नहीं होता है।

गाथार्थ–''जो साधु शुभ भावों में प्रवृत्ति करता है, वह अन्यवश होता है और इसलिए उसका कार्य आवश्यक नहीं हो सकता ॥१४४॥''

टीकार्थ–जो श्री जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से प्रकट हुआ आचार शास्त्र के क्रमानुसार संयमी होता हुआ शुभोपयोग में प्रवृत्ति करता है, तथा व्यावहारिक धर्मध्यान में प्रवृत्त होता हुआ आचार प्रधान बनता है, स्वाध्याय का समय देखकर स्वाध्याय करता है प्रतिदिन भोजन करने के बाद चतुर्विध आहार का त्याग करता है, तीनों संध्याओं में भगवान् अर्हन्त परमेश्वर की लाखों-अनेक स्तुतियों द्वारा जिसका मुखकमल मुखरित होता है जो त्रिकालसम्बन्धी अपने गृहीत नियमों में तत्पर रहता है, इस प्रकार रात-दिन में ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है,

---

जो साधु, भाव शुभ में रत हो रहा है, भाई नितान्त पर के वश हो रहा है।
आवश्यका, न उसका वह कार्य होता, अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४४॥

अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साह-परायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्य व्युत्सर्गनामधेयेषु-चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्य-वश इत्युक्तः। अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेश-परम्परया शुभोपयोग-फलात्मभिः प्रशस्तरागाङ्गारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमतत्त्व-श्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानात्मक शुद्धनिश्चय-रत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति।

हरिणी

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम्।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ॥२४५॥

पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण पाठ के सुनने से उत्पन्न हुए संतोष सूचक रोमाञ्चों द्वारा जिसका धर्ममय समस्त शरीर व्याप्त हो रहा है, अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशयनासन और कायक्लेश नामक छह बाह्य तपों में जो निरन्तर उत्साह के साथ तत्पर रहता है, स्वाध्याय, ध्यान शुभाचरण से च्युत होने पर पुनः उसी में स्थित करने रूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य और व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तपों के करने में जिसकी बुद्धि अत्यन्त कुशल है, परन्तु वह निरपेक्ष तपस्वी- साधु मोक्ष का साक्षात् कारण, स्वात्मा के आश्रय से होने वाला आवश्यक कर्म तथा परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को नहीं जानता इसलिए परद्रव्यों में उलझा होने से अन्यवश कहा गया है। जिसका चित्त परम तपश्चरण में लीन है, ऐसा यह अन्यवश साधु स्वर्गलोकादि के क्लेश उठाता हुआ शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारों के द्वारा पच्यमान होता रहता है और जब अत्यन्त निकट भव्यत्वगुण का उदय आता है तब परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप शुद्धनिश्चय रत्नत्रय की परिणति के द्वारा निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त होता है।

टीकाकार कहते हैं कि-

''उत्तम मुनि को चाहिए कि वह स्वर्ग लोकादि रूप क्लेश में प्रीति को छोड़े और अपने उस सहज परमात्मतत्त्व का भजन करे जो कि परमानन्दरूप है, मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि का उपादानकारण है, सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान का आवास है, निरावरणरूप है और नय तथा अनय के समूह से दूर है ॥२४५॥''

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम् –

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहियंति एरिसयं ॥१४५॥

यः कश्चिद् द्रव्यलिङ्गधारी भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते, क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थ-व्यंजनपर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दलक्षणनिजकारणसमयसार-स्वरूप-निरतसहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः।

प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वान्तसंघाताः परमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः-श्रमणा हि महाश्रमणाः परमश्रुतकेवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशम् अन्यवशस्य स्वरूपमिति।

इस गाथा में भी अन्य पदार्थों के वश रहने वाले साधु का स्वरूप कहा है –

अन्वयार्थ–(जो) जो **(दव्वगुणपज्जयाणं)** द्रव्य, गुण, पर्यायों में **(चित्तं)** चित्त **(कुणइ)** लगाता है। **(सो)** वह **(वि)** भी **(अण्णवसो)** अन्यवश है **(मोहंधयार-ववगय-समणा)** मोहांधकार से रहित श्रमण **(एरिसयं)** ऐसा **(कहियंति)** कहते हैं।

गाथार्थ–''जो द्रव्य, गुण और पर्यायों में अपना चित्त लगाता है, वह भी अन्यवश है, ऐसा मोहान्धकार से रहित महाश्रमण श्री श्रुतकेवली कहते हैं ॥१४५॥''

टीकार्थ–जो कोई द्रव्यलिङ्गधारी, भगवान् अर्हन्त देव के मुखारविन्द से निकले हुए मूलोत्तर पदार्थ समूह के प्रतिपादन करने में समर्थ है वह कहीं तो छह द्रव्यों में अपना चित्त लगाता है, कही उनके मूर्त–अमूर्त, चेतन–अचेतन गुणों में मन करता है और कभी उनके अर्थ, व्यंजनपर्याय में बुद्धि लगाता है। किन्तु त्रिकाल में निरावरण नित्यानन्द लक्षण निज कारणसमयसार के स्वरूप में निरत एवं सहजज्ञानादि शुद्ध गुणपर्यायों के आधारभूत निजात्म तत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता वह तपोधन अन्यवश है।

जिन्होंने दर्शन–चारित्र मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है और जो परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखरूपी अमृत के पान करने में सन्मुख है ऐसे परम श्रुतकेवली श्रमण या महाश्रमण हैं। वे अन्यवश साधु का स्वरूप पूर्वोक्त प्रकार कहते हैं।

पर्याय द्रव्य-गुण में मन है लगाता, वो भी यती वश रहा पर के कहाता।
मोहान्धकार परिपूर्ण भगा रहे हैं, ऐसा कहे श्रमण जो कि जगा रहे हैं ॥१४५॥

तथा चोक्तम् –

अनुष्टुप्

''आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परचिन्तया॥''

तथा हि – **यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः।**
यथेन्धनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्धनम् ॥२४६॥

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम् –

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

यस्तु निरुपरागनिरञ्जनस्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं-सदा निरावरणत्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्टाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः। तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रियाकाण्डाडम्बरविविध-

---

ऐसा ही कहा है–''आत्मा में लीन रहने वाले साधुओं को आत्मकार्य छोड़कर उस प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरुद्ध परपदार्थों की चिन्ता से क्या प्रयोजन है?''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''जब तक जीवों के पर-पदार्थों की चिन्ता है तभी तक संसार है, जिस प्रकार कि जब तक अग्नि ईन्धन से सहित है तभी तक उसकी वृद्धि होती है ॥२४६॥''

यहाँ साक्षात् स्ववश रहने वाले परम जितेन्द्रिय योगीश्वर का स्वरूप कहा गया है –

अन्वयार्थ– (अप्पाणं) आत्मा के **(परभावं)** परभाव को **(परिचत्ता)** छोड़कर **(णिम्मलसहावं)** निर्मल स्वभाव को **(झादि)** ध्याता है **(सो)** वह **(अप्पवसो)** आत्मवश **(होदि हु)** होता है **(तस्स)** उसका **(कम्मं दु)** कर्म ही **(आवासं)** आवश्यक **(भणंति)** कहा जाता है।

गाथार्थ–''जो परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश-स्ववश कहलाता है और उसके कर्म को आवश्यक कहते हैं ॥१४६॥''

टीकार्थ–जो साधु निरावरण-निरञ्जन स्वभाव होने के कारण औदयिक आदि पर भावों के समूह को छोड़कर शरीर, इन्द्रिय तथा वचन के अगोचर आवरण-रहित होने से निर्मल स्वभाव युक्त और समस्त पापरूपी वीर शत्रुओं की पताका को लूटने वाले निज कारण परमात्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश कहा गया है और अभेदानुपचार रत्नत्रयस्वरूप उस साधु का

सध्यान में श्रमण अन्तरधान हो के, रागादि भाव पर है पर भाव रोके।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे, जाते अवश्यक कहें उन कार्य सारे॥१४६॥

विकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानन्दानन्दप्रदनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकपरमाश्यवककर्म भवतीति।

पृथ्वी

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रणष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्मावलिः।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ॥२४७॥

अनुष्टुप्

प्रध्वस्तपञ्चबाणस्य पञ्चाचारराञ्चिताकृतेः।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसम्पदः ॥२४८॥
इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।
निर्वाणसम्पदं याति यस्तं वन्दे पुनः पुनः ॥२४९॥

द्रुतविलम्बित

स्ववशयोगिनिकायविशेषक - प्रहतचारुवधूकनकस्पृहः।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥२५०॥

समस्त बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर से होने वाले अनेक प्रकार के विकल्पों के महाकोलाहल से विरुद्ध महान् आनन्द को देने वाला जो निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानरूप कार्य है वह परमावश्यक कर्म है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जिसकी बुद्धि अतिशय उदार है, जिसने संसार के कारणों को नष्ट कर दिया है और जो पूर्वबद्ध कर्मों की आवली को नष्ट कर चुका है, ऐसा स्ववश रहने वाला योगियों का समूह जयवन्त हो। ऐसा योगी ही अपने स्पष्टरूप से प्रकट हुए विवेक से स्पष्ट शुद्ध ज्ञानात्मक एवं सदानन्दमय मुक्ति को हर्षपूर्वक प्राप्त होता है ॥२४७॥''

''जिन्होंने काम की बाधा को नष्ट कर दिया है और पंचआचार से जिनकी आकृति - शरीर सुशोभित है, ऐसे प्रामाणिक आचार्य महाराज के वचन ही मुक्ति के कारण हैं ॥२४८॥''

''इस प्रकार मोक्ष के कारणस्वरूप जिनेन्द्रदेव के मार्ग को जानकर जो मोक्ष सम्पदा को प्राप्त होता है उसे मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥२४९॥''

''हे स्ववश रहने वाले श्रेष्ठ योगीश्वर! आपने सुन्दर स्त्री और सुवर्ण की स्पृहा-इच्छा को नष्ट कर दिया है। इस संसाररूपी वन में कामरूपी किरात के द्वारा जिनके चित्त क्षत-विक्षत हो रहे हैं ऐसे हम लोगों को आप ही शरण हैं ॥२५०॥''

अनशनादितपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम्।
तव पदाम्बुरुहद्वयचिन्तया स्ववश जन्म सदा सफलं मम ॥२५१॥

मालिनी

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समन्तात्।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥२५२॥

अनुष्टुप्

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां चिन्मोहा जडा वयम् ॥२५३॥
एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।
स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥२५४॥

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत् –

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

''अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा केवल शरीर शोषण रूप फल होता है अन्य नहीं। किन्तु हे भगवन्! आपके चरण कमल युगल के ध्यान से स्ववश रहने वाला मेरा जन्म सदा सफल ही रहता है ॥२५१॥''

''जिनके स्वाभाविक तेज की राशि में समस्त लोक निर्मग्न है, जिन्होंने स्वरस के प्रवाह से समन्तात् पाप नष्ट कर दिये हैं, सहज समरस के प्रभाव से जो पुण्य से आपूर्ण हैं, पुराण रूप हैं और निरन्तर अपने मन में स्थित रहते हैं ऐसे शुद्ध सिद्ध भगवान् सदा जयवन्त हों ॥२५२॥''

''सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं ॥२५३॥''

इस संसार में एक महामुनि ही सदा धन्य हैं, तथा अन्य पदार्थों में आसक्ति से रहित स्ववश रहने वाला साधु ही कर्मों से दूर रहता है ॥२५४॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है, होके समाहित स्व में मन मारना है।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती, सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥१४७॥

इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपञ्चकल्लोलिनीकलकलध्वानश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्म-शुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजाल-विनिर्मुक्तनिरञ्जननिजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषुसततनिश्चल-स्थिरभावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातम्, अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः। अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्ध्रिकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति।

तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवैः— मालिनी

''यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः।
तदनवरतमन्तर्मग्नसंलग्नचित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामापि यस्त्वम्॥''

यह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आवश्यक प्राप्ति के उपायों के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(जइ) यदि **(आवासं)** आवश्यक की **(इच्छसि)** तुम इच्छा करते हो **(अप्पसहावेसु)** तो आत्म स्वभाव में **(थिरभावं)** स्थिर भाव **(कुणदि)** करता है **(तेण)** उससे **(जीवस्स)** जीव को **(सामण्णगुणं)** श्रामण्य का गुण **(संपुण्णं)** सम्पूर्ण **(होदि दु)** होता है।

गाथार्थ–''यदि आवश्यक कर्म की चाह है तो आत्मस्वभाव में भाव को स्थिर करो, क्योंकि उसी से जीव का सामायिक गुण पूर्ण होता है ॥१४७॥''

टीकार्थ–इस लोक में बाह्य छह आवश्यकों के विस्तार रूप नदी के कलकल शब्द के सुनने से पराङ्मुख रहने वाले हे शिष्य! यदि तू संसाररूपी बेल के मूल को काटने के लिए कुठार के समान शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप, स्वात्मा से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक को चाहता है और उसके लिए समस्त विकल्प जाल से रहित निरञ्जन- निर्लेप निज परमात्मस्वरूप सहज ज्ञान, सहजदर्शन, सहज चारित्र एवं सहज सुख आदि गुणों में निरन्तर निश्चल रहने वाला स्थिर भाव करता है, उसी से मुमुक्षु जीव के निश्चय सामायिक गुण की पूर्णता हो जाती है और तब उस जीव के बाह्य षडावश्यक क्रियाओं से क्या होता है अर्थात् कुछ भी उपादेय फल नहीं होता। अतः निश्चय और मुक्ति रूपी स्त्री के संभोग तथा हास्य में प्रवीण निश्चल परमावश्यक के द्वारा ही सामायिक चारित्र पूर्ण होता है।

ऐसा ही श्री योगीन्द्रदेव ने कहा है–''यदि किसी कारण तेरा मन स्वस्वरूप से विचलित होता है और बाह्य पदार्थों में घूमता है तो इससे तेरे समस्त दोषों का प्रसंग आता है अतः तू निरन्तर अन्तरात्मा में निमग्न चित्त हो–अन्तरात्मा के ध्यान में अपना मन लीन कर। तू संसार का अन्त करने वाले तेज से सम्पन्न है।''

तथा हि –

शार्दूलविक्रीडित

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोऽयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२५५॥

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम् –

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयनयेन परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीण-श्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–इस प्रकार निज आत्मा में स्थिर रहने वाला तथा सांसारिक दुःखों को दूर करने वाला यह चारित्र मुक्तिरूपी लक्ष्मी से उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट सुख का कारण है ऐसा समझकर जो सदा निष्पाप समयसार को जानता है वह बाह्य क्रियाओं को छोड़ने वाला मुनीश्वर पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान है ॥२५५॥

इस गाथा में शुद्धोपयोग के सन्मुख रहने वाले साधु को कुछ शिक्षा कही गई है–

अन्वयार्थ–(आवासएण) आवश्यक से **(हीणो)** हीन **(समणो)** श्रमण **(चरणदो)** चारित्र से **(पब्भट्ठो)** प्रभ्रष्ट **(होदि)** होता है **(तम्हा)** इसलिए **(पुणो)** पुनः **(पुव्वुत्तकमेण)** पूर्वोक्त क्रम से **(आवासयं)** आवश्यक **(कुज्जा)** करना चाहिए।

गाथार्थ–''चूँकि जो साधु आवश्यक से हीन है वह चारित्र से भ्रष्ट कहा जाता है, इसलिए प्रत्येक साधु को ऊपर बतलाये हुए क्रमानुसार आवश्यक अवश्य ही करना चाहिए ॥१४८॥''

टीकार्थ–यहाँ कहते हैं कि जो साधु व्यवहारनय की अपेक्षा भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यकों से हीन है वह चारित्र भ्रष्ट है तथा जो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा परम अध्यात्म भाषा द्वारा कहे हुए निर्विकल्पक परम समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रियाओं

जो साधु ना हि षडवश्यक पालता है, चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है, आलस्य त्याग षडावश्यक पालना है ॥१४८॥

स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति।

मन्दाक्रान्ता

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ॥२५६॥

अनुष्टुप्

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम्।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ॥२५७॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः —

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधान-

---

से हीन है वह निश्चय चारित्र से भ्रष्ट है। अतः पहले कहे हुए परम जिनेन्द्र योगीश्वर के जिस प्रकार निश्चयावश्यक होते हैं, उसी प्रकार महामुनि को भी स्वात्मा के आश्रय से रहने वाले निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के रूप में सदा आवश्यक कर्म करना चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि–''आत्मावश्यक और सहज परमावश्यक दोनों एक ही हैं, दोनों ही उत्कृष्ट हैं, पापों के समूह को हरने वाले और मोक्ष के मूलकारण हैं, जो इन्हें करता है वह निरन्तर अध्यात्मरस के समूह से पुण्य की पूर्ति करने वाला पुराणपुरुष वचनों से दूरवर्ती किसी अद्भुत सहज शाश्वत-स्थायी सुख को प्राप्त होता है ॥२५६॥''

''अपने वश रहने वाले साधु को अपने आत्मा का चिन्तन करना ही उत्तम है, क्योंकि उनका वही आवश्यक कर्म है और मोक्ष सुख का मूल कारण है ॥२५७॥''

इस गाथा में आवश्यक कर्मों का अभाव होने पर मुनि बहिरात्मा हो जाता है, यह कहा है –

अन्वयार्थ–(आवासएण) आवश्यक से **(जुत्तो)** युक्त **(सो)** वह **(समणो)** श्रमण **(अंतरंगप्पा)** अन्तरात्मा **(होदि)** होता है **(आवासयपरिहीणो)** आवश्यक से परिहीन **(सो)** वह **(समणो)** श्रमण **(बहिरप्पा)** बहिरात्मा **(होदि)** होता है।

जो साधु सादर अवश्यक धारता है, सो अंतरातम रहा मन मारता है।
पै साधु हो नहिं अवश्यक पालता है, सो है अवश्य बहिरातम, बालता है ॥१४९॥

परमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असंयतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यान्तरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः। निश्चयव्यवहारनयद्वय-प्रणीतपरमावश्यक्रियाविहीनो बहिरात्मेति।

उक्तं च मार्गप्रकाशे –

अनुष्टुप्

''बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः॥''
''जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्मप्रयुक्तः
संसारोऽस्थ प्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८॥

गाथार्थ–''जो साधु आवश्यक कर्म से युक्त है, वह अन्तरात्मा है और जो आवश्यक से रहित है वह बहिरात्मा है ॥१४९॥''

टीकार्थ–अभेदानुपचार-रत्नत्रय स्वरूप स्वात्मा के अनुष्ठान में लीन परमावश्यक कर्म से जो निरन्तर संयुक्त रहता है, ऐसा स्ववश -आत्मवश नाम का धारी महामुनि सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है, यह महात्मा सोलह कषायों का अभाव हो जाने से क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर स्थित रहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है और इन दोनों के मध्यवर्ती मध्यम अन्तरात्मा है। जो साधु निश्चय और व्यवहार दोनों ही नयों से प्रणीत परमावश्यक क्रिया से रहित होता है वह बहिरात्मा है।

ऐसा ही श्रीमार्गप्रकाशग्रन्थ में कहा ही है–''परमात्मा रूप स्वसमय के सिवाय अन्यसमय-अन्य आत्मा के बहिरात्मा और अन्तरात्मा की अपेक्षा दो भेद हैं, इनमें से शरीर तथा इन्द्रियों में जिसके आत्मबुद्धि उदित उत्पन्न है वह बहिरात्मा है।''

''अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं उनमें अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है, क्षीणमोह-बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और इनके मध्य के मध्यम अन्तरात्मा हैं।''

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम् —

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

यस्तु जिनलिङ्गधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अशनशयनयानस्थानादिषु सत्कारादिलाभलोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्च करोति स बहिरात्मा जीव इति। स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादन्तरात्मेति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''जो मुनि सदा सहज परमावश्यक कर्म से युक्त रहता है उसके प्रबल सुख-दुःख की अटवी रूप संसार सदा दूर रहता है। इसलिए ही अन्तरात्मा अतिशय रूप से आत्मा में स्थिर रहता है, आत्मा को ही आत्मा समझता है और स्वात्मा से च्युत हुआ बहिरात्मा बाह्य तत्त्वों में स्थित रहता है-शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य पदार्थों को आत्मा समझता रहता है ॥२५८॥''

यह बाह्याभ्यन्तरवाद का निराकरण है–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(अन्तरबाहिरजप्पे)** अंतरंग और बाहरी जल्प में **(वट्टइ)** रहता है **(सो)** वह **(बहिरप्पा)** बहिरात्मा **(हवेइ)** होता है **(जो)** जो **(जप्पेसु)** जल्पों में **(वट्टइ ण** नहीं वर्तता है **(सो)** वह **(अन्तरंगप्पा)** अन्तरात्मा **(उच्चइ)** कहा जाता है।

गाथार्थ–''जो अन्तरंग और बहिरंग वाद के विकल्प में विद्यमान है वह बहिरात्मा है और जो इनमें नहीं पड़ता वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥१५०॥''

टीकार्थ–जो जिनलिंग को धारण करने वाला झूठ-मूठ का तपस्वी पुण्यकर्म की इच्छा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प को करता है और अनशन, शयन, गमन तथा स्थान आदि के विषय में सत्कार आदि लाभ का लोभी होता हुआ अन्तर्जल्प में मन करता है, वह बहिरात्मा जीव है तथा जो स्वात्मा के ध्यान में तत्पर होता हुआ सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख हो प्रशस्त-अप्रशस्त सभी विकल्पजालों में कभी भी प्रवृत्ति नहीं करता, वही परम तपस्वी साक्षात् अन्तरात्मा है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि–

जो अंतरंग बहिरंग-प्रजल्पधारी, होता नितांत बहिरातम है विकारी।
सम्पूर्ण जल्प भर से अति दूर होता, सो अंतरात्म रहा सुख पूर होता ॥१५०॥

वसन्ततिलका

''स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥''

तथा हि —

मन्दाक्रान्ता

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम्।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तराङ्गान्तरात्मा।
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥२५९॥

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम् —

जो धम्मसुक्क झाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

''इस प्रकार जिसमें स्वेच्छा से अनेक विकल्पों के समूह समुच्छलित हो रहे हैं ऐसी बड़ी भारी नयपक्ष की कक्षा को उल्लंघन कर यह साधु अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग दोनों ही में एक समरस स्वभाव को धारण करने वाले अनुभूति मात्र स्वकीय तत्त्व को प्राप्त होता है।''

टीकाकार भी कहते हैं—''जब यह संसार सम्बन्धी भय करने वाले बाह्य-अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर निरन्तर समरस रूप एक चैतन्य चमत्कार मात्र का निरन्तर स्मरण करता है, तभी मोह के क्षीण होने पर ज्ञानज्योति के द्वारा निज अन्तरङ्ग को प्रकट करता हुआ अद्भुत परम तत्त्व के दर्शन करता है ॥२५९॥''

इस गाथा में स्वात्मा के आश्रय से होने वाले निश्चयधर्म ध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ही उपादेय है—यह कहा है—

अन्वयार्थ—(जो) जो **(धम्मसुक्कझाणम्हि)** धर्म, शुक्लध्यान में **(परिणदो)** परिणत है **(सो वि)** वही **(अंतरंगप्पा)** अन्तरात्मा है **(झाणविहीणो)** ध्यान से विहीन **(समणो)** श्रमण **(बहिरप्पा)** बहिरात्मा है **(इदि)** ऐसा **(विजाणीहि)** जानो।

सद्धर्म-शुक्लमय ध्यान-सुधा सुपीता, सो अंतरात्म सुख जीवन नित्य जीता।
पै साधु हो तदपि ध्यान नहीं लगाता, होता नितांत बहिरात्म वही कहाता ॥१५१॥

इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः। तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडश-कषायाणाम-भावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव (स) सहजचिद्विलासलक्षणमत्य-पूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति। आभ्यां ध्यानाभ्यां विहीनो द्रव्यलिङ्गधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्यत्वं जानीहि।

वसन्ततिलका

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ।
ताभ्यां विहीनमुनिपो बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥२६०॥

किं च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते —

अनुष्टुप्

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥२६१॥

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम् —

गाथार्थ—''जो मुनि धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है–लीन है, वह अन्तरात्मा है और जो उक्त ध्यानों से रहित है वह बहिरात्मा है, ऐसा जानो ॥१५१॥''

टीकार्थ—इस संसार में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषाय हैं। चूँकि उनके सोलहकषायों का अभाव होने से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूपी कर्मों का राजा नष्ट हो चुकता है अतएव वे सहज चिद्विलास रूप लक्षण से युक्त अत्यन्त अपूर्व आत्मा का शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा निरन्तर ध्यान करते हैं। जो इन दोनों ध्यानों से रहित है वह द्रव्यलिंगी –द्रव्यमुनि बहिरात्मा है, ऐसा हे शिष्य! तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि– ''कोई मुनि समरस रूप निरन्तर निर्मल रहने वाले धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी अमृत में लीन रहता है जो कि अन्तरात्मा कहलाता है और कोई उन दोनों से रहित होता है जो कि बहिरात्मा कहलाता है। मैं इन दोनों में से पूर्वोक्त–अन्तरात्मा की शरण लेता हूँ ॥२६०॥''

अथवा केवल शुद्धनिश्चयनय का स्वरूप इस प्रकार कहा जाता है कि–बहिरात्मा और अन्तरात्मा वह दोनों ही विकल्प हैं जो कि कुबुद्धि जीवों के होते हैं, संसाररूपी वनिता को प्रिय लगने वाले यह दोनों ही विकल्प सुबुद्धि जीवों के नहीं होते ॥२६१॥

यहाँ परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपस्वी मुनि का स्वरूप कहा गया है–

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

यो हि विमुक्तैहिकव्यापार: साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षु: परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चय-प्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधन-स्तिष्ठति इति।

मन्दाक्रान्ता

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
य: संसारोद्भवसुखकर: कर्मयुक्तो विमुक्ते:।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशि:
तं वन्देऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशाङ्कम् ॥२६२॥

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम् –

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयणवयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ॥१५३॥

अन्वयार्थ–(णिच्छयस्स) निश्चयनय से **(चारित्तं)** चारित्र **(पडिकमणपहुदिकिरियं)** प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को **(कुव्वंतो)** करता है **(तेण दु)** जिससे **(समणो)** श्रमण **(विरागचरिए)** विरागचर्या (वीतराग चारित्र) में **(अब्भुट्ठिदो)** उपस्थित **(होदि)** होते हैं।

गाथार्थ–''जो साधु निश्चय चारित्र रूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करता है वह उसी के द्वारा वीतराग चारित्र में स्थित होता है ॥१५२॥''

टीकार्थ–जिसने इस लोक सम्बन्धी समस्त व्यापार छोड़ दिये हैं ऐसा साक्षात् मोक्ष की इच्छा रखने वाला जो महा-मुमुक्षु समस्त इन्द्रिय सम्बन्धी व्यापारों को छोड़कर निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत्क्रिया को करता है वह परम तपोधन उसी के द्वारा स्व स्वरूप में विश्रान्तिरूप परम वीतराग चारित्र में स्थित रहता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो अनुपम महिमा का धारक है, जिसने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को नष्ट कर दिया है जो संसार सम्बन्धी सुख को करने वाला है एवं कर्मों से रहित है, ऐसा जो आत्मा मोक्ष के मूलकारण निरतिचार चारित्र में स्थित रहता है वह आचार की राशि है। मैं समरस रूप अमृत के समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्णचन्द्र के समान उस शुद्ध आत्मा की वन्दना करता हूँ ॥२६२॥''

सामायिकादि षडवश्यक नित्य पाले, जो साधु निश्चय सुचारित भव्य धारे।
तो वीतराग शुचि चारित में यमी वो, शीघ्रातिशीघ्र फलत: नित उद्यमी हो ॥१५२॥

पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्यमुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च पौद्गलिकवचन-मयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जानीहि इति।

मन्दाक्रान्ता

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदात: समस्तां
निर्वाणश्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्य:।
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥२६३॥

तथा चोक्तम् –

''परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ॥''

यह समस्त वचन सम्बन्धी व्यापार के त्याग का उपदेश है–

अन्वयार्थ–(वयणमयं) वचनमय **(पडिकमणं)** प्रतिक्रमण **(वयणमयं)** वचनमय **(पच्चखाण)** प्रत्याख्यान **(च णियमं)** और नियम **(वयणमयं)** वचनमय **(आलोयण)** आलोचना **(तं सव्वं)** उस सबको **(सज्झायं)** स्वाध्याय **(जाण)** जानो।

गाथार्थ–''वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचन इन सबको स्वाध्याय जानो ॥१५३॥''

टीकार्थ–पाक्षिकादि प्रतिक्रमण क्रिया के कारण, निर्यपकाचार्य के मुखकमल से उत्पन्न, समस्त पापों के क्षय का हेतु एवं वचनवर्गणा के योग्य जो कुछ द्रव्यश्रुत है, वह सब पुद्गलद्रव्य रूप होने से ग्राह्य नहीं है अत: प्रत्याख्यान नियम और आलोचना आदि जो कुछ है वे सर्व पौद्गलिक वचनरूप होने से स्वाध्याय हैं ऐसा हे शिष्य तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि–''चूँकि वचन रचना पौद्गलिक होने से ग्राह्य नहीं है अत: मुक्ति लक्ष्मी के स्तनयुगल के आलिङ्गन से उत्पन्न होने वाले सुख की इच्छा से युक्त भव्य जीव समस्त वचन रचना को छोड़कर नित्यानन्द आदि अनुपम महिमा के धारक स्व-स्वरूप में स्थित होकर समस्त जगज्जाल को तृण के समान देखता है ॥२६३॥''

ऐसा ही कहा भी है–''परिवर्तन, वाचन, पृच्छन, अनुप्रेक्षण और धर्मकथा ये स्तुति तथा मंगल से संयुक्त होकर पाँच प्रकार के स्वाध्याय कहे गये हैं।''

आलोचना, नियम आदिक मूर्तमान, भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान।
स्वाध्याय से सफल है गुरु हैं बताते, होते विकल्पमय भेद चरित्र तातैं ॥१५३॥

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम् –

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चय-क्रियाश्चैव कर्तव्याः संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभ-सहजवैराग्यप्रासाद-शिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्र-परिग्रह। शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति।

शिखरिणी

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधिया
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

यहाँ शुद्ध निश्चयधर्मध्यान रूप प्रतिक्रमणादि ही करना चाहिए यह कहा है–

अन्वयार्थ–(जदि) यदि **(कादुं)** करने में **(सक्कदि)** समर्थ है तो **(जो)** इन **(पडिकमणादिं)** प्रतिक्रमण आदि को **(झाणमयं)** ध्यानमय **(करेज्ज)** करना चाहिए **(जइ)** यदि **(जा)** जब तक **(सत्तिविहीणो)** शक्ति रहित है **(जा)** तब तक **(सद्दहणं)** श्रद्धान **(चेव)** ही **(कायव्वं)** करना चाहिए।

गाथार्थ–''अहो मुनिजन! यदि किया जा सकता है तो ध्यानरूप प्रतिक्रमणादि को करना ही चाहिए और यदि शक्ति से विहीन हो तो उनका श्रद्धान ही करना चाहिए ॥१५४॥''

टीकार्थ–''जिनके मुखकमल से परमागम रूपी मकरन्द झर रहा है, जो सहज वैराग्य रूपी महल की शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान है, परद्रव्य से पराङ्मुख हैं, जिनकी बुद्धि स्वद्रव्य में अतिशय निपुण हैं एवं जो पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारक हैं ऐसे हे श्रेष्ठ मुनि सिंह! यदि संहनन शक्ति का प्रादुर्भाव है तो मुक्तिरूपी सुन्दरी के प्रथम मिलन के समय भेंट देने योग्य निश्चय प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, प्रत्याख्यान आदि शुद्ध निश्चय की विषयभूत क्रियाएँ अवश्य ही करना चाहिए और यदि इस दुष्काल अथवा अकाल में शक्ति से हीन हो तो तुम्हें निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिए।''

टीकाकार कहते हैं कि–''कलिकाल के विलास से युक्त पाप बहुल इस असार संसार में

संवेग-दारक यथोचित शक्ति वाले, ध्यानाभिभूत षडावश्यक साधु पाले।
ऐसा नहीं यदि बने उर धार लेना, श्रद्धान तो दृढ़ रखो अघ मार देना ॥१५४॥

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम् –

[१]जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५५॥

श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मक प्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसङ्गव्यासङ्गं मुक्त्वा चैकाकीभूय मौनव्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निंद्यमानोऽप्यभिन्नः (प्यखिन्नः) सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासंभोगसौख्यमूलमनवरतं साधयेदिति।

चूँकि इस समय पापरहित श्री जिनेन्द्रदेव के मार्ग द्वारा मुक्ति नहीं हो सकती अतः अध्यात्म ध्यान-उत्कृष्ट धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान कैसे हो सकता है? इस समय तो संसार के भय को हरने वाला निर्मल अभिप्राय से किया हुआ स्वात्म श्रद्धान ही करने योग्य है ॥२६४॥''

इस गाथा में साक्षात् अन्तर्मुख रहने वाले परम जितेन्द्रिय योगी को कुछ शिक्षा कही गई है –

अन्वयार्थ–(जिणकहिय-परमसुत्ते) जिनकथित परम सूत्र में **(पडिकमणादिय)** प्रतिक्रमण आदि की **(फुडं)** स्पष्ट रूप से **(परीक्खऊण)** परीक्षा करके **(जोई)** योगी **(मोणव्वएण)** मौनव्रत से **(णिच्चं)** निज कार्य को **(णियकज्जं)** नित्य **(साहये)** साधे।

गाथार्थ–''योगी को जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए परमागम में प्रतिक्रमणादि का स्वरूप अच्छी तरह देखकर स्पष्ट मौनव्रत से निरन्तर अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए ॥१५५॥''

टीकार्थ–जिसके चार अनुयोगों में श्रीमान् अर्हन्त देव के मुखकमल से निकले हुए समस्त पदार्थ गर्भित हैं, ऐसे द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमात्मध्यान स्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रियाओं को जानकर केवल अपने कार्य में तत्पर रहने वाला परम जितेन्द्रिय योगीश्वर, शुभ-अशुभ सभी प्रकार की वचन रचना और समस्त परिग्रहासक्ति को छोड़कर एकाकी होता हुआ मौनव्रत के साथ मुक्ति रूपी स्त्री के संभोगसुख का मूल कारण जो अपना कार्य उसे निरन्तर सिद्ध करे, इस कार्य में यद्यपि समस्त अज्ञानीजन उसकी निन्दा भी करते हैं तो भी उसे खेदखिन्न नहीं होना चाहिए।

सामायिकादि विधि की कर लो परीक्षा, सो जैन शास्त्र कहता बन के निरीच्छा।
योगी बने इसलिये मन मौन धारो, साधो स्वकार्य नित पै अघ को न धारो ॥१५५॥

---

१. जो प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, उनमें यह गाथा मूल में नहीं है, केवल संस्कृत छाया ही दी है, संस्कृत छाया के आधार पर उसका प्राकृत पाठ इस प्रकार माना जा सकता है।

मन्दाक्रान्ता

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम्।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥२६५॥

वसन्ततिलका

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम्।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ॥२६६॥

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम् –

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

टीकाकार कहते हैं कि–''आत्मा का अनुभव करने वाला मुमुक्षु आत्मा मोक्ष प्राप्ति के लिए अज्ञानी जीवों द्वारा किये हुए लौकिक भय को छोड़कर भयंकर संसार को करने वाली शुभ-अशुभ सभी प्रकार की वचन रचना और सुवर्ण तथा स्त्री सम्बन्धी मोह को छोड़ता है एवं अपने आपके द्वारा अपने ही आत्मा में अविचल स्थिति को प्राप्त होता है ॥२६५॥''''

''आत्मा के निरूपण करने में कुशल और परमात्मा का अनुभव करने वाला मुनि अज्ञानी मनुष्यों के द्वारा किये हुए भय तथा समस्त लौकिक जल्पों के समूह को छोड़कर शाश्वत सुख को देने वाले एक आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है ॥२६६॥''

यह वचन विषयक व्यापार को दूर करने के कारणों का निरूपण है–

अन्वयार्थ–(णाणाजीवा) अनेक प्रकार के जीव हैं **(णाणाकम्मं)** अनेक प्रकार के कर्म हैं **(णाणाविहं)** अनेक प्रकार की **(लद्धी)** लब्धियाँ **(हवे)** हैं **(तम्हा)** इसलिए **(सग-पर-समयेहिं)** स्व-पर समयों के साथ **(वयणविवादं)** वचन विवाद **(वज्जिज्जो)** छोड़ देना चाहिए।

गाथार्थ–''चूँकि इस संसार में जीव नाना हैं, कर्म नाना हैं, और लब्धियाँ भी नाना हैं, अतः निज और परसमय द्वारा वचनों का विवाद वर्जनीय है-छोड़ने योग्य है ॥१५६॥''

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं, ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से, साधर्मि से अनुज से पर से अरी से ॥१५६॥

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः त्रसाः स्थावराः। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिभेदात् पञ्च त्रसाः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। भाविकाले स्वभावानन्त-चतुष्टयात्मसहजज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता अभव्याः। कर्म नानाविधं द्रव्यभाव-नोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्रमन्दमन्दतरोदयभेदाद्वा। जीवानां सुखादि-प्राप्तेर्लब्धिः कालकरणोपदेशोपशम (क्षयोपशम) प्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा। ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति।

शिखरिणी

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम्।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ॥२६७॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः —

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१५७॥

टीकार्थ—जीव नाना प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी, भव्य और अभव्य। संसारी जीव दो तरह के हैं त्रस और स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी के भेद से त्रस पाँच तरह के हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से स्थावर भी पाँच प्रकार के हैं। भविष्यत् काल में जो स्वभावभूत अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणों से युक्त होने के योग्य हैं वे भव्य हैं, और जो इनसे विपरीत हैं वे अभव्य हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म अथवा मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति अथवा तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर उदय के भेद से कर्म नाना प्रकार के हैं।

जीवों को सुखादि की प्राप्ति होना लब्धि है, वह काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशम (क्षयोपशम) लब्धि और प्रायोग्यता लब्धि के भेद से पाँच प्रकार की है। अतः परमार्थ के जानने वालों को स्वपर समय में विवाद नहीं करना चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि—''जीवों के जो अनेक प्रकार के विकल्प हैं वे संसार को करने वाले हैं, अनेक प्रकार के कर्म भी सदा संसार के जनक हैं एवं निर्मल जैनधर्म में प्रसिद्ध जो लब्धियाँ हैं वे भी नाना हैं, अतः स्वपर समय द्वारा परस्पर विवाद नहीं करना चाहिए ॥२६७॥''

ज्यों वित्त को खरचता निज पोषणों में, भोगी सुभोग करता दिन-रात्रियों में,
पा नित्यज्ञान निधि, नित्य नितांत ज्ञानी, त्यों भोगता न रमता पर में अमानी ॥१५७॥

कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः हि फलं सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति दृष्टान्तपक्षः। दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरम-तत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदासन्नभव्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगल-निरतिशयभक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमुकुरुन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य तेषां जनानां स्वरूपविकलानां ततिं समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति।

शालिनी

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम्।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसङ्गो ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ॥२६८॥

यहाँ दृष्टांत के द्वारा सहज तत्त्व के आराधन की विधि कही है–

अन्वयार्थ–(एक्को) एक कोई **(णिहिं)** निधि को **(लद्धूण)** प्राप्त करके **(तस्स)** उसका **(फलं)** फल **(सुजणत्ते)** सुजनत्व से **(अणुहवेइ)** अनुभव करता है **(तह)** उसी प्रकार **(णाणी)** ज्ञानी **(परतत्तिं)** पर तृप्ति को और परजनों का समूह **(चइत्तु)** छोड़ करके मुनिजनों का समूह **(णाणणिहिं)** ज्ञाननिधि को **(भुंजेइ)** भोगता है।

गाथार्थ–''जिस प्रकार कोई एक दरिद्र मनुष्य निधि को पाकर उसके सौजन्यरूप फल का अनुभव करता है, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य पर पदार्थों के समूह को छोड़कर ज्ञानरूपी निधि का अनुभव करता है ॥१५७॥''

टीकार्थ–जिस प्रकार कोई दरिद्र मनुष्य पुण्योदय से कभी कहीं पर निधि को पाकर उसके फल स्वरूप सौजन्य को जन्मभूमि आदि रहस्यपूर्ण–एकान्त स्थान में स्थित होकर अत्यन्त गूढ़ रूप से अनुभव करता है, उसी प्रकार सहज परम तत्त्व ज्ञानी जीव कहीं निकट भव्यत्व रूप गुण का उदय होने पर सहज वैराग्य रूप संपत्ति के रहते हुए श्री परमगुरु के चरण कमल युगल की अनुपम भक्ति के द्वारा मुक्तिरूपी सुन्दरी का मुख देखने के लिए दर्पण के समान जो सहज ज्ञान निधि उसे प्राप्त कर स्वरूप से च्युत रहने वाले अन्य जनों के समूह को ध्यान के विघ्न का कारण समझ कर छोड़ देता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''इस संसार में जिस प्रकार कोई लौकिकजन पुण्योदय से सुवर्ण का समूह प्राप्त कर अन्य मनुष्यों की संगति छोड़ता हुआ छिपकर रहता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव अन्य की संगति को छोड़कर अपने ज्ञान की रक्षा करता है ॥२६८॥''

मन्दाक्रान्ता

त्यक्त्वा सङ्गं जननमरणातङ्कहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम्।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानन्दनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ॥२६९॥

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् —

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपं बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षकादिशुद्धनिश्चय-परमावश्यकं साक्षादपुनर्भववाराङ्गनाङ्गसुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थकरपरमदेवादयः स्वयंबुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चाप्रमत्तादिसयोगिभट्टारकगुणस्थानपङ्क्तिमध्या रूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्ष-ज्ञानधराः परमावश्यकात्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति।

''हम जन्म-मरण रूप आतंक के कारणभूत समस्त बाह्य संग को छोड़कर सम्यग्ज्ञान के द्वारा हृदयकमल में पूर्ण वैराग्य भाव करते हैं और शक्त्यनुसार सहज परमानन्द रूप निर्द्वन्द्व स्वरूप में स्थित रहकर मोह के क्षीण होने पर इस लोक को सदा तृण के समान समझते हैं ॥२६९॥''

यह परमावश्यकाधिकार के उपसंहार का निरूपण है–

अन्वयार्थ–(सव्वे) सभी **(पुराण-पुरिसा)** पुराण पुरुष **(एवं)** इस प्रकार **(आवासयं)** आवश्यकों को **(काऊण)** करके **(च)** और **(अपमत्तपहुदिठाणं)** अप्रमत्त आदि स्थान को **(पडिवज्ज)** प्राप्त करके **(केवली य)** केवली **(जादा)** हुए हैं।

गाथार्थ–''सभी पुराण-पुरुष इस प्रकार आवश्यककर्म करके अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त होते हुए केवली हुए हैं ॥१५८॥''

टीकार्थ–स्वयम्बुद्ध अथवा बोधितबुद्ध जो तीर्थंकर परमदेव आदि पुराणपुरुष हैं वे सभी मुक्तिरूपी वारांगना के शरीर सम्बन्धी सुख के कारण एवं स्वात्मा के आश्रय से होने वाले निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान रूप बाह्यावश्यकादि क्रियाओं के विरोधी शुद्ध निश्चय परमावश्यक को करके अप्रमत्तसंयतादि सयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ होते हुए परमावश्यक रूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से सकल प्रत्यक्षज्ञान के धारक केवली हुए हैं।

जो भी पुराण पुरुषोत्तम रे! हुए हैं, सामायिकादि षडावश्यक वे किये हैं।
सप्तादि पूर्ण गुणथान पुनः चढ़े हैं, हैं केवली बने फिर हमसे बड़े हैं ॥१५८॥

शार्दूलविक्रीडित

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चिताङ्घ्रिकमलः पापाटवीपावकः ॥२७०॥

मन्दाक्रान्ता

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालङ्कृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ॥२७१॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशः श्रुतस्कन्धः॥

टीकाकार कहते हैं–''पूर्व काल में सभी प्राचीन पुरुष स्वात्मा की आराधना के द्वारा ही योगी हुए हैं तथा समस्त कर्मरूपी राक्षसगण को नष्टकर विजयी विष्णु हुए हैं, जो मुक्ति का अभिलाषी अन्य पदार्थों से निस्पृह होता हुआ अनन्य मनस्क होकर निरन्तर उन्हें प्रणाम करता है वह पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि तुल्य होता है और उसके चरण कमल सर्वजन से पूजित होते हैं ॥२७०॥''

''हे मन! तू छोड़ने योग्य सुवर्ण और स्त्री सम्बन्धी मोह को छोड़कर निर्मल सुख के लिए धर्म को प्राप्त कर और फिर शीघ्र ही उस परमात्मा में प्रवेश कर जो कि नित्य आनन्द रूप है, अनुपम गुणों से अलंकृत है, दिव्यज्ञान से सम्पन्न है और अव्यग्र रूप है ॥२७१॥''

इस प्रकार जो उत्तम कविजनों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान है और पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्रीपद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में निश्चयपरमावश्यकाधिकार नाम का ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

१२.

शुद्धोपयोगाधिकारः

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम् –

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वंसनेनासाादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परमभट्टारकः, ''पराश्रितो व्यवहारः'' इति वचनात्। शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञ-वीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनीसमुद्भूतमूलध्यानाभिवादः स

अब समस्त कर्मों के नाश में कारणभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है–

इस गाथा में ज्ञानी जीव कथञ्चित् स्व-पर स्वरूप का प्रकाशक है, यह कहा है–

अन्वयार्थ–(ववहारणयेण) व्यवहारनय से **(केवली भगवं)** केवली भगवान **(सव्वं)** सबको **(जाणदि)** जानते हैं **(पस्सदि)** देखते हैं। **(णियमेण)** नियम से **(केवलणाणी)** केवलज्ञानी **(अप्पाणं)** आत्मा को **(जाणदि)** जानते हैं **(पस्सदि)** देखते हैं।

गाथार्थ–''केवली भगवान् व्यवहारनय से समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं और निश्चयनय से मात्र आत्मा को जानते-देखते हैं ॥१५९॥''

टीकार्थ–''परम भट्टारक भगवान् परमेश्वर व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मगुणों को घात करने वाले घातिया कर्मों के नाश होने से प्रकट हुए सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन से तीनों लोक और तीनों काल सम्बन्धी समस्त चराचर द्रव्य, गुण एवं पर्यायों को एक ही समय में जानते-देखते हैं क्योंकि व्यवहार पराश्रित है, ऐसा पूर्वाचार्यों का वचन है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा महादेवाधिदेव परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग देव के परद्रव्यों के जानने-देखने एवं उपदेश देने आदि अनेक विकल्पों की परम्परा से मूल ध्यान में बाधा उत्पन्न होती है अतः वही भगवान्

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते, हैं जानते सकल विश्व निहार पाते,
पै केवली नियम से निज को अमानी, हैं जानते निरखते पर को न ज्ञानी ॥१५९॥

भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च। किं कृत्वा? ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तस्माद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति, आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।

उक्तं च षण्णवतिपाषण्डिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः —

अनुष्टुप्

''यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥''

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात्, ''स्वाश्रितो निश्चयः'' इति वचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधान लक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतः कारणात् एतदात्मगतदर्शनसुख-चारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति।

स्वयं कार्यपरमात्मा रूप होकर भी तीनों कालों में उपाधि-आवरण रहित निर्भय, नित्य शुद्ध सहज ज्ञान एवं सहज दर्शन के द्वारा निज कारण परमात्मा को जानते-देखते हैं। यदि यहाँ कोई कहे कि सर्वज्ञ वीतराग देव पदार्थों को क्या करके जानते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि दीपक की तरह स्व और पर को प्रकाशित करना-यह ज्ञान का धर्म-स्वभाव है। जिस प्रकार घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने वाला प्रदीप उनसे भिन्न होकर भी स्वयं प्रकाश स्वरूप होने से निज और पर को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी परंज्योतिः स्वरूप होने से व्यवहारनय की अपेक्षा जगत्त्रय-कालत्रय तथा स्वयं प्रकाश रूप अपने आपको भी प्रकाशित करता है-जानता-देखता है।''

ऐसा ही छियानवे पाषण्डियों को जीतने से बहुत भारी कीर्ति को उपार्जित करने वाले श्री महासेन पण्डित ने कहा है कि-''वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, यह सम्यग्ज्ञान दीपक की तरह स्व-पर व्यवसायात्मक है- निज पर को जानने वाला है और प्रमिति से कथञ्चित् पृथक् है।''

इसी प्रकार चूँकि आत्मा निरन्तर निरावरण निरञ्जन स्व-स्वभाव में निरत रहता है अतः निश्चयनय के पक्ष में भी वह स्व-पर प्रकाशक ही है क्योंकि ''निश्चयनय स्वाश्रित है'' ऐसा आचार्यों का वचन है। सहजज्ञान संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न-भिन्न कथन होने के कारण यद्यपि आत्मा से भिन्न है तथापि वस्तुवृत्ति से-यथार्थ में भिन्न नहीं है इसलिए यह सहजज्ञान आत्मा सम्बन्धी दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जिस प्रकार जानता है उसी प्रकार कारण परमात्मा स्वरूप अपने आत्मा को भी जानता है।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः —

मन्दाक्रान्ता

''बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतं स्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारं स्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥''

तथा हि —

स्रग्धरा

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनस्ते
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति॥२७२॥

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम् —

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥१६०॥

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि–''जो प्रतिपक्षी कर्मबन्ध का छेद हो जाने से अतुल्य एवं अविनाशी मोक्ष पद का अनुभव करता है, निरन्तर प्रकाशमान रहता है, जिसमें आत्मा की सहज अवस्था प्रकट हुई है, जो एकान्ततः शुद्ध है–सर्वथा शुद्ध है, एकाकार है। आत्मरस के भार से अत्यन्त गम्भीर एवं धीर है और जो अपनी अविनाशी महिमा में लीन है ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान होता है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''केवलज्ञान रूप आत्मा निरन्तर समस्त संसार को जानता है, अतः देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव व्यवहारनय की अपेक्षा मुक्ति लक्ष्मी रूपी स्त्री के कोमल मुखकमल पर सौभाग्य चिह्न से युक्त अतिशय देदीप्यमान कोई अद्भुत शोभा को बढ़ाते हैं और निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्यमल और भावमल को नष्ट करते हुए स्व-स्वरूप को जानते हैं॥२७२॥''

इस गाथा में केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ रहते हैं, यह कहा है–

अन्वयार्थ–(केवलणाणिस्स) केवलज्ञानी को **(णाणं)** ज्ञान **(तहा)** तथा **(दंसणं च)** दर्शन **(जुगवं)** एक साथ **(वट्टइ)** रहते हैं **(जह)** जैसे **(दिणयरपयासतावं)** दिनकर का प्रकाश

ये ज्ञान दर्शन स्वयं जिन के, बली के, हो एक साथ सुन मित्र सु केवली के।
होते प्रभाकर प्रकाश प्रताप जैसे, देते सभी सदुपदेश अपाप ऐसे॥१६०॥

अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्र-किरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते, तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रयकाल-त्रयवर्तिषु स्थावरजङ्गमद्रव्यगुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तेते। किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे —

''णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं॥''

अन्यच्च —

''दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि॥''

तथा हि —

स्रग्धरा

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समन्तात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचने जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ॥२७३॥

और ताप **(वट्टइ)** रहता है **(तह)** उसी प्रकार **(मुणेयव्वं)** जानना चाहिए।

गाथार्थ—''जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और प्रताप दोनों एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन दोनों एक साथ रहते हैं ॥१६०॥''

जिस प्रकार लोक में कहीं किसी समय मेघ जनित क्षोभ का अभाव रहने पर आकाश के मध्य में स्थित सूर्य में प्रकाश और प्रताप दोनों एक साथ विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार तीर्थाधिनाथ भगवान् परमेश्वर के जगत्त्रय और कालत्रय में रहने वाले चराचर द्रव्य और उनके गुण-पर्यायरूप ज्ञेय-पदार्थों में एक साथ समस्त निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन विद्यमान रहते हैं। हाँ, संसारी जीवों का ज्ञान दर्शन पूर्वक अवश्य होता है। जैसा कि श्री प्रवचनसार में कहा है कि– ''केवली भगवान् का ज्ञान पदार्थों के अन्त को प्राप्त है अर्थात् जितने पदार्थ हैं उन सबको जानता है, उनका दर्शन लोक-अलोक में विस्तृत है, उनके सब अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो कुछ इष्ट है वह उन्हें प्राप्त हो चुकता है।''

और भी कहा है कि–''छद्मस्थ जीवों का ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है, उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते, पर केवली भगवान् के दोनों ही एक साथ होते हैं।''

टीकाकार कहते हैं कि–''धर्मतीर्थ के अधिपति, सर्वज्ञ, अनुपम और समस्त लोक के

वसन्ततिलका

सद्बोधपोतमतिरुह्य भवाम्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानां (किमिहोत्तमं नः)॥२७४॥

मन्दाक्रान्ता

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित्।
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानङ्गसौख्यप्रदायाः
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः॥२७५॥

अनुष्टुप्

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः।
अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम्॥२७६॥

अथात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम् —

एक स्वामी श्री भगवज्जिनेन्द्र में निरन्तर ज्ञान और दर्शन सब ओर सब पदार्थों के विषय में एक साथ विद्यमान रहते हैं और ये उसी तरह विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार कि समस्त अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले, तेज की राशि तथा जगत् के नेत्र स्वरूप सूर्य में ताप और प्रकाश विद्यमान रहते हैं॥२७३॥''

''हे जिननाथ! चूँकि आपने सम्यग्ज्ञान रूपी जहाज पर आरूढ़ होकर संसार रूपी समुद्र को पार कर सहसा मोक्षपुरी प्राप्त की है अतः उसी मार्ग से मैं भी इस समय चल रहा हूँ। हम लोगों को संसार में इससे बढ़कर दूसरा शरण क्या हो सकता है? ॥२७४॥''

''केवलज्ञान रूपी सूर्य से युक्त वह एक जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें जो कि समरस रूपी काय सुख को देने वाली मुक्ति रूपी प्रिया के मुखकमल पर स्वेच्छानुसार अद्भुत कान्ति को विस्तृत करते रहते हैं, ठीक ही है, अपनी प्रेमपात्र प्रिया के लिए कौन निरन्तर सुख नहीं देता? ॥२७५॥''

''वह श्री जिनेन्द्रदेव प्रथम तो मुक्ति रूपी वनिता के मुखकमल में भ्रमर की लीला को प्राप्त हुए और फिर अनुपम काम सुख को ॥२७६॥''

यह आत्मा के स्व-पर प्रकाशक होने में विरोध का प्रदर्शन है–

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पपयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत्। ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तस्सकाशादपरः कश्चिज्जनः। अथ ह्यविरुद्धा स्याद्वाददेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतम्। तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति; न केवलं स्यान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति। दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा। व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न

अन्वयार्थ—(णाणं) ज्ञान **(परप्पयासं)** पर प्रकाशक है **(दिट्ठी)** दृष्टि **(अप्प पयासया चेव)** आत्मप्रकाशक ही है। **(अप्पा)** आत्मा **(सपरपयासो)** स्वपर प्रकाशक **(होदि)** है **(त्ति)** ऐसा **(हि)** निश्चय से **(जदि हि)** यदि तुम **(मण्णसे)** मानते हो [उसमें विरोध आता है।]

गाथार्थ—''ज्ञान पर-प्रकाशक है, दर्शन आत्मप्रकाशक है, और उन दोनों का आधार होने से आत्मा स्व-परप्रकाशक है, ऐसा यदि मानते हो तो निम्नांकित दोष आता है ॥१६१॥''

टीकार्थ—यहाँ कोई यह पूछता है कि आत्मा में स्व-पर प्रकाशकपना किस प्रकार सिद्ध होता है? उसके उत्तर में प्रतिवादी कहता है कि आत्मा ज्ञान-दर्शनादि विशेष गुणों से समृद्ध है, उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा के प्रकाशित करने में असमर्थ होने से पर-प्रकाशक ही है और जब ज्ञान पर प्रकाशक ही है तब दर्शन निरंकुश होकर केवल अभ्यन्तर में स्वात्मा को ही प्रकाशित करता है इस प्रकार आत्मा दोनों का आधार होने से स्व-पर प्रकाशक है।

आचार्य प्रतिवादी के उक्त कथन का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे मन्दमति, प्राथमिक शिष्य! तुम दर्शनशुद्धि सम्यक्त्व की निर्मलता का अभाव होने से ऐसा मानते हो, तुमसे बढ़कर कोई दूसरा मूर्ख नहीं है। यथार्थता का निर्णय करने के लिए विरोध रहित स्याद्वादरूपी देवता की अर्चा सत्पुरुषों को निरन्तर करते रहना चाहिए। उस स्याद्वादविद्या में कहा है कि ज्ञान एकान्त रूप से पर प्रकाशक ही हो सो बात नहीं है और न दर्शन भी स्याद्वादसिद्धान्त में एकान्तरूप से शुद्ध आत्मा को ही देखता है क्योंकि आत्मा दर्शन-ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। व्यवहार पक्ष से भी विचार किया जाय तब भी केवल पर-पदार्थों को ही प्रकाशित करने वाले ज्ञान का आत्मा के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता क्योंकि बाह्य प्रकाशक होने से ज्ञान सदा बाहर ही अवस्थित रहेगा और चूँकि उससे आत्मा की प्रतिपत्ति का अभाव है अतः वह सर्वगत

होता सदैव वह ज्ञान परप्रकाशी, होता नितांत वह दर्शन स्वप्रकाशी।
आत्मा तथा स्वपर का रहता प्रकाशी, ऐसा कहो यदि अरे! विषयाभिलाषी ॥१६१॥

वात्मसम्बन्ध: सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् स सर्वगतत्वं; अत: कारणादिदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव। दर्शनपक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति। सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षु:, स्वस्याभ्यन्तरस्थितांकनीनिकां न पश्यत्येव। अत: स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव। तत: स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति।

तथा चोक्तं – स्रग्धरा

''जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगिति द्योतयन् ज्ञानमूर्ति:॥''

तथा हि – मन्दाक्रान्ता

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम्।
दृष्टि: साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देव: स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥२७७॥

नहीं हो सकेगा। इस कारण ज्ञान ज्ञान नहीं रह जावेगा, वह मृगतृष्णा में जल ज्ञान की तरह केवल प्रतिभास मात्र ही रह जावेगा। इसी प्रकार दर्शन के विषय में चर्चा कर लेनी चाहिए, वह इस प्रकार कि जो दर्शन केवल आभ्यन्तर प्रतिपत्ति का कारण है वह दर्शन नहीं है, यह कोई नियम नहीं है कि दर्शन को अभ्यन्तर प्रतिपत्ति का कारण होना ही चाहिए जैसे कि नेत्र सदा सब पदार्थों को देखता है पर अपने भीतर स्थित कनीनिका-पुतली को नहीं देख पाता। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान और दर्शन दोनों में ही स्व-पर प्रकाशकपना विरोध रहित है। जबकि ज्ञान और दर्शन स्वपर-प्रकाशक हैं तब वे ही जिसके लक्षण हैं ऐसा आत्मा भी स्व-पर प्रकाशक सिद्ध हो जाता है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि-''यद्यपि यह आत्मा मोह का अभाव हो जाने से भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप समस्त संसार को एक साथ जानता है, परन्तु कर्मरहित होने के कारण पररूप परिणमन नहीं करता, इसलिए यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अतिशयरूप से विकास को प्राप्त हुए ज्ञान के विस्तार में प्राप्त ज्ञेयाकार तीन लोकों को पृथक्-पृथक् जानता हुआ सदा मुक्त ही रहता है।''

टीकाकार कहते हैं कि-''ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोक-अलोक अथवा उनमें स्थित समस्त ज्ञेयजाल-पदार्थसमूह को जानता है, इसी प्रकार नित्य शुद्ध रहने वाला क्षायिक दर्शन भी स्व और पर दोनों को विषय करता है। इन दोनों ही-ज्ञान-दर्शन के द्वारा आत्मारूपी देव स्व-पर विषयक ज्ञेय राशि को जानता है ॥२७७॥''

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम् —

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव। परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य स्वप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्यविंध्ययोरिव, भागीरथीश्रीपर्वतवत्। आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य तु शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः। तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम्, इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्यभिहितम्।

पूर्व गाथा में कहे हुए पूर्वपक्ष का यह सिद्धान्त पक्ष है–

अन्वयार्थ–(णाणं) ज्ञान **(परप्पयासं)** पर प्रकाशक है **(तइया)** तो फिर **(णाणेण)** ज्ञान से **(दंसणं)** दर्शन **(भिण्णं)** भिन्न होगा **(तम्हा)** क्योंकि **(दंसणं)** दर्शन **(परदव्वगयं)** परद्रव्यगत **(ण हवदि)** नहीं होता है **(इदि वण्णिदं)** ऐसा कहा गया है।

गाथार्थ–''यदि ज्ञान को परप्रकाशक ही माना जाये तो दर्शन उससे भिन्न हुआ और पर प्रकाशक होने से ज्ञान जिस प्रकार स्व-द्रव्य को नहीं जानता उसी प्रकार दर्शन भी परद्रव्य को नहीं जान सकेगा–ऐसा आगम में वर्णन किया गया है ॥१६२॥''

टीकार्थ–यदि ज्ञान केवल पर पदार्थों का ही प्रकाशक माना जायेगा तो उसमें पर प्रकाशकत्व की ही प्रधानता होगी और उस दशा में दर्शन-ज्ञान से भिन्न ही रहेगा। यदि कोई कहे कि पर-प्रकाशक ज्ञान और स्व प्रकाशक दर्शन का परस्पर क्या सम्बन्ध है? तो उसका उत्तर यह है कि आपके मन्तव्यानुसार उन दोनों का सम्बन्ध सह्य और विन्ध्यपर्वत अथवा गंगानदी और श्रीपर्वत के समान है अर्थात् जिस प्रकार सह्य और विन्ध्यपर्वत का तथा गंगानदी और श्रीपर्वत का विभिन्न स्थानों में स्थित होने से कोई सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होगा क्योंकि आपके कहे अनुसार दर्शन आत्मा में रहता है और ज्ञान इतर पदार्थों में। इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि आत्मा में रहने वाला जो दर्शन है उसकी सत्ता तो सिद्ध हो जायेगी पर निराधार होने से ज्ञान में शून्यता की आपत्ति आ जायेगी। अथवा ज्ञान जिन-जिन द्रव्यों को जानता है वे सर्व चेतनता को प्राप्त हो जावेगी और उसका परिणाम यह होगा कि तीनों लोकों में कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं रह जायेगा क्योंकि ज्ञान सभी पदार्थों को जानता है–यह एक बड़े भारी दूषण का अवतार है। यदि आप यहाँ यह कहें कि

तू ज्ञान को परप्रकाशक ही कहेगा, तो ज्ञान से पृथक दर्शन हो रहेगा।
औ अन्य-द्रव्यगत दर्शन भी नहीं है, यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६२॥

ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति।

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपण्डितदेवैः -

''ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥''

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्टयोः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन बह्न्युष्णवत्सः ॥२७८॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम् –

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

ज्ञान केवल पर-प्रकाशक ही नहीं है तो हे शिष्य यह भी कहना चाहिए कि दर्शन केवल आत्मगत नहीं है। इस प्रकार यही समाधान शास्त्र सम्मत निकलता है कि ज्ञान और दर्शन दोनों में ही कथञ्चित् स्व-पर प्रकाशकपना है।

ऐसा ही श्रीमहासेन पण्डितदेव ने कहा है कि-''ज्ञान से आत्मा न भिन्न है, न अभिन्न है, किन्तु कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है पूर्व और पर पदार्थों को जानने वाला जो ज्ञान है वही आत्मा है, ऐसा कहा गया है।''

टीकाकार कहते हैं कि-''जिस प्रकार आत्मा ज्ञान नहीं है उसी प्रकार दर्शन भी नहीं है किन्तु दोनों से युक्त है और स्व-पर पदार्थों को जानता है। पापों के समूह को हरने वाले आत्मा तथा ज्ञान और दर्शन में संज्ञा भेद - नामभेद से ही भेद है वास्तव में भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और उष्णता में संज्ञाभेद से भेद है यथार्थ में भेद नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान-दर्शन में संज्ञाभेद से भेद है, यथार्थ में - प्रदेश की अपेक्षा भेद नहीं है ॥२७८॥''

आत्मा एकान्तरूप से परप्रकाशक है, इसका खण्डन करते हैं-

अन्वयार्थ–(अप्पा) आत्मा **(परप्पयासो)** पर प्रकाशक है **(तइया)** तो **(अप्पेण)** आत्मा से

आत्मा मनो पर प्रकाशक ही रहा हो, तो आत्म से पृथक दर्शन ही रहा वो।
औ अन्य-द्रव्य गत दर्शन भी नहीं है, यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६३॥

यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतम्, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तदैव प्रत्यादिष्टं-भावभावावतोरेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वात्। पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम्। अत्रात्मनः परप्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम्। अपि चात्मा न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम्। ततः खल्वात्मा स्वपरप्रकाशक इति यावत्। यथा कथंचित्स्वपर-प्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति।

मन्दाक्रान्ता

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम्।
सम्यग्दृष्टि र्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥२७९॥

(दंसणं) दर्शन **(भिण्णं)** भिन्न होगा **(तम्हा)** इसलिए **(दंसणं)** दर्शन **(परदव्वगयं)** पर द्रव्यगत **(ण हवदि)** नहीं होता है **(इदि वण्णिदं)** ऐसा कहा है।

गाथार्थ—''यदि आत्मा को एकान्त से परप्रकाशक माना जावेगा तो दर्शन उससे भिन्न रहेगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है, ऐसा वर्णन किया गया है ॥१६३॥''

टीकार्थ—पहले एकान्त से ज्ञान में पर प्रकाशकत्व का निराकरण कर आये हैं, इस समय यदि कोई कहे कि आत्मा केवल पर प्रकाशक है तो इसका निराकरण भी पहले ही किया हुआ समझना चाहिए, क्योंकि भावगुण में जिसका अभाव बताया जा चुका है उसका भाववान् - गुणी में अभाव स्वतः सिद्ध होता है। यहाँ ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है तथा दोनों का एकरूप अस्तित्व है। पहले कह आये हैं कि ज्ञान को पर प्रकाशक ही मानोगे तो दर्शन उससे भिन्न ठहरेगा, यहाँ कह रहे हैं कि यदि आत्मा को भी केवल पर प्रकाशक ही मानोगे तो दर्शन आत्मा से भिन्न ठहरेगा क्योंकि आप दर्शन को स्वद्रव्यगत ही मानते हैं पर द्रव्यगत नहीं मानते। यदि आप यह कहें कि आत्मा परद्रव्यगत नहीं है तो दर्शन उससे अभिन्न हो जावेगा। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा स्व-पर प्रकाशक है। जिस प्रकार पहले ज्ञान में कथञ्चित् स्व-परप्रकाशकपना सिद्ध किया था उसी प्रकार आत्मा में भी समझना चाहिए क्योंकि धर्म और धर्मी, गुण और गुणी, अग्नि और उष्णता की तरह एक स्वरूप होते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि–''आत्मा धर्मी है तथा ज्ञान-दर्शन रूप धर्म से युक्त है। समस्त इन्द्रिय समूह रूपी कुहरा के नष्ट करने के लिए सूर्य के समान जो सम्यग्दृष्टि है वह उसी आत्मा में निरन्तर निश्चल स्थिति को प्राप्त कर उस मुक्ति को प्राप्त होता है जो कि प्रकट हुई निज की सहज अवस्था रूप से अवस्थित है ॥२७९॥''

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनम् –

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

इह हि सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादितसकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतन-परद्रव्य गुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत्? ''पराश्रितो व्यवहारः'' इति वचनात् व्यवहारनय-बलेनेति। ततो दर्शनमपि तादृशमेव। त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरपरम देवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवन्दना-योग्यस्य कार्य-परमात्मनश्च तद्वदेव परप्रकाशकत्वम्। तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति।

तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ –

यह व्यवहारनय की सफलता का कथन है–

अन्वयार्थ–(ववहारणयेण) व्यवहारनय से **(णाणं)** ज्ञान **(परप्पयासं)** परप्रकाशक है **(तम्हा)** इसलिए **(दंसणं)** दर्शन भी है **(ववहारणयेण)** व्यवहारनय से **(अप्पा)** आत्मा **(परप्पयासो)** परप्रकाशक है **(तम्हा)** इसलिए **(दंसणं)** दर्शन भी है।

गाथार्थ–''चूँकि व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है अतः तत्सदृश दर्शन भी परप्रकाशक है और चूँकि व्यवहारनय से आत्मा पर प्रकाशक है अतः उससे अभिन्न रहने वाला दर्शन भी पर प्रकाशक है ॥१६४॥''

टीकार्थ–यहाँ यदि कोई यह कहे कि समस्त कर्मक्षय के प्रादुर्भाव से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में पुद्गल आदि मूर्तिक-अमूर्तिक तथा चेतन-अचेतन रूप परद्रव्य गुण और पर्यायों के समूह को प्रकाशित करने की शक्ति किस प्रकार है? तो उसका उत्तर यह है कि व्यवहारनय की अपेक्षा केवलज्ञान परद्रव्यादि को प्रकाशित करता है क्योंकि ''जो पराश्रित हो वह व्यवहार है'' ऐसा आगम का वचन है। जबकि व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशक है तथा उसकी सदृशता रखने वाला दर्शन भी व्यवहारनय से पर प्रकाशक ही है। इसी प्रकार सौ इन्द्रों के द्वारा प्रत्यक्ष वन्दना करने के योग्य तथा तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने के कारणभूत तीर्थंकर परमदेव रूप जो कार्यपरमात्मा हैं उनके भी व्यवहारनय की अपेक्षा परप्रकाशकपना है एवं उसी व्यवहारनय के बल से उन भगवान् तीर्थंकर परमदेव का जो केवलदर्शन है वह भी पर प्रकाशक ही है।

ऐसा ही श्रुतबिन्दु में कहा गया है कि–

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों अन्य का यह सुदर्शन भी प्रकाशी।
ज्यों आत्म मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों अन्य का वह सुदर्शन भी प्रकाशी ॥१६४॥

मालिनी

''जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्जिनेन्द्रः।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योऽन्यवृत्तिं निषेद्धुम्॥''

तथा हि –

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् –

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

''जिन्होंने दोषों को जीत लिया है, जिनके चरण मनुष्यों तथा देवेन्द्रों के मुकुटों पर सुशोभित होने वाली बड़ी-बड़ी मालाओं से पूजित हैं, और जिनके पूर्वोक्त ज्ञान-दर्शन विषय द्रव्यों में परस्पर की प्रवृत्ति को निषेध करने के लिए ही मानो एक साथ तीनों लोक और अलोक को व्याप्त करते हैं–जानते हैं, वे श्री जिनेन्द्र देव सदा जयवन्त हों॥''

टीकाकार कहते हैं कि–''जब यह आत्मा ज्ञान का पुंज तथा अत्यन्त प्रकट दर्शन से युक्त होता है और व्यवहारनय से समस्त लोक को देखने एवं समस्त मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थों के समूह को जानने वाला होता है तभी मोक्ष लक्ष्मीरूपी स्त्री का प्रिय वल्लभ होता है ॥२८०॥''

यह निश्चयनय से स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(णिच्छयणयएण) निश्चयनय से **(णाणं)** ज्ञान **(अप्पपयासं)** आत्मप्रकाशक है **(तम्हा)** इसलिए **(दंसणं)** दर्शन स्वप्रकाशक है **(णिच्छयणयएण)** निश्चयनय से **(अप्पा)** आत्मा **(अप्पपयासो)** आत्मप्रकाशक है **(तम्हा)** इसलिए **(दंसणं)** दर्शन स्वप्रकाशक है।

गाथार्थ–''निश्चयनय से ज्ञान आत्मा को प्रकाशित करने वाला है, अतः दर्शन भी आत्मा को प्रकाशित करने वाला है और निश्चयनय से आत्मा आत्मा को प्रकाशित करने वाला है अतः

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी।
ज्यों आत्म निश्चयतया निज का प्रकाशी, त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ॥१६५॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिदमभिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव। आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत्। दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव। इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहज शुद्धज्ञान-दर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजङ्गमात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्याय विषयेषु आकार-प्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सन् (सत्तया) स्वस्वरूपे संज्ञालक्षणप्रकाशतया निरवशेषेणान्तर्मुखत्वादनवरतम् अखण्डाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति।

मन्दाक्रान्ता

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालम्बना सापि चैषः।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥२८१॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् —

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

दर्शन भी आत्मा को प्रकाशित करने वाला है ॥१६५॥''

टीकार्थ—जिस प्रकार निश्चयनय से शुद्धज्ञान स्वप्रकाशकत्व लक्षण से युक्त कहा गया है उसी प्रकार समस्त आवरण से रहित शुद्धदर्शन भी स्वप्रकाशकत्व लक्षण से युक्त है। चूँकि आत्मा समस्त इन्द्रियों के व्यापार से रहित होने के कारण स्व-प्रकाशक लक्षण से युक्त है अतः दर्शन भी बाह्य विषयों से विमुक्त होने के कारण स्वप्रकाशक ही है। इस प्रकार स्वरूप प्रत्यक्षीकरण रूप लक्षण से युक्त अखण्ड सहज शुद्धज्ञान एवं शुद्धदर्शन से तन्मय होने के कारण निश्चयनय से आत्मा तीन लोक और तीन काल सम्बन्धी चर-अचर रूप समस्त द्रव्य, गुण और पर्यायों के आकार प्रकाशन आदि विकल्पों से दूर रहकर स्व-स्वरूप को ही प्रकाशित करता है और समस्तरूप से अन्तर्मुखाकार होने से निरन्तर अखण्ड-अद्वैत चैतन्य-चमत्कार मूर्ति होकर रहता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो स्वप्रकाशात्मक ज्ञान है वह आत्मा है इसी प्रकार बाह्य-आलम्बन को छोड़कर स्वस्वरूप को प्रकाशित करने वाला जो दर्शन है वह आत्मा है। अपने एक आकार को लिए हुए अपने आत्मरस के समूह से पूर्ण एवं समीचीन आत्मा अपनी निर्विकल्पक महिमा में निरन्तर निवास करता है ॥२८१॥''

ये केवली नियम से निज को निहारे, ना देखते सकल लोक अलोक सारे।
कोई मनो यदि कहे इस भाँति भाई, क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई ॥१६६॥

व्यवहारेण पुद्‌गलादित्रिकालविषयद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाधारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरञ्जननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानन्दमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति [1]शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोऽपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिन-योगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति।

मन्दाक्रान्ता

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपञ्चः ॥२८२॥

यह शुद्धनिश्चय की विवक्षा से आत्मा के परदर्शी होने का निराकरण है–

अन्वयार्थ–(केवली भगवं) केवली भगवान **(अप्पसरूवं)** आत्मस्वरूप को **(पेच्छदि)** देखते हैं **(लोयालायं ण)** लोक-अलोक को नहीं जानते हैं **(जइ)** यदि **(कोइ)** कोई **(एवं)** इस प्रकार **(भणइ)** कहता है। **(तस्स)** उसको **(किं य)** क्या **(दूसणं)** दूषण **(होइ)** हो?

गाथार्थ–''केवली भगवान् आत्मस्वरूप को ही देखते हैं, लोक-अलोक को नहीं देखते, यदि ऐसा कोई कहता है तो इसमें क्या कोई दूषण है? ॥१६६॥''

यद्यपि भगवान् अरहन्त, व्यवहारनय की अपेक्षा पुद्‌गलादिक त्रिकालविषयक द्रव्य, गुण और पर्यायों को एक ही साथ जानने में समर्थ सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञानमय होना आदि महिमाओं के आधार है और केवलदर्शन रूप तृतीय लोचन से सहित है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा पर-पदार्थों से निरपेक्ष होने के कारण सम्पूर्ण रूप से अन्तरङ्ग की ओर ही उन्मुख रहते हैं और केवल स्वरूपमात्र के प्रत्यक्षीकरण रूप व्यापार में लीन निरंजन स्वकीय सहजदर्शन के द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को ही जानते हैं–इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से शुद्ध अन्तस्तत्त्व को जानने वाला कोई परम जितेन्द्रिय योगी यदि निरूपण करता है तो उसके दोष नहीं है।

टीकाकार कहते हैं कि–

''जो अपने अन्तःकरण की शुद्धि का आवास होना आदि महिमा का आधार है अत्यन्त धीर है एवं निश्चल रूप से सदा अपने आपमें निमग्न रहता है ऐसे एक विशुद्ध सहज परमात्मा को ही आत्मा जानता है, स्वभाव से ही महान् श्रेष्ठ रहने वाले उस आत्मा में यह व्यवहारनय सम्बन्धी प्रपञ्च नहीं रहता ॥२८२॥''

---

१. निश्चयस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंसवेदी इत्यपि क्वचित् पाठः।

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत् –

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्‌गलस्य पञ्चानां अमूर्तत्वम्; चेतनत्वं जीवस्यैव पञ्चानामचेतनत्वम्। मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं त्रिकालविषयम्, अनवरतं पश्यतो भगवतः श्रीमदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे –

''जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवइ पच्चक्खं॥''

तथा हि –

यह केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(मुत्तमुमत्तं) मूर्त, अमूर्त **(चेयणमियरं)** चेतन-अचेतन **(दव्वं)** द्रव्य **(सगं च)** स्व को **(सव्वं च)** सर्व को **(पेच्छइ तस्स)** देखने वाले का **(णाणं दु)** ज्ञान **(पच्चक्खं)** प्रत्यक्ष **(अणिंदियं)** अतीन्द्रिय **(होइ)** होता है।

गाथार्थ–''मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन-अचेतन, निज और पर सभी द्रव्यों को जानने वाले अरहन्त का जो अतीन्द्रिय ज्ञान है वह प्रत्यक्षज्ञान - केवलज्ञान है ॥१६७॥''

टीकार्थ–जीवादि छह द्रव्यों के मध्य में पुद्‌गल द्रव्य मूर्तिक है अन्य पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, एक जीवद्रव्य चेतन है और अन्य पाँच द्रव्य अचेतन हैं। इस प्रकार मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन-अचेतन, स्वद्रव्य-परद्रव्य आदि त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को निरन्तर जानने वाले श्री भगवान् अर्हन्त परमेश्वर का क्रम और व्यवधान से रहित जो अतीन्द्रिय सकल विमल केवलज्ञान है वह सकलप्रत्यक्ष है।

ऐसा ही श्रीप्रवचनसार में कहा है–

''जो अमूर्तिक पदार्थों को जानता है, मूर्तिक पदार्थों में अतीन्द्रिय एवं प्रच्छन्न पदार्थों को भी जानता है और समस्त निज तथा परद्रव्य को जानता है उसका ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान - केवलज्ञान है।''

टीकाकार कहते हैं कि -

संसार के अमित मूर्त अमूर्त सारे, ये द्रव्य चेतन अचेतन आदि प्यारे।
जो जानता निज समेत इन्हें सुचारा, प्रत्यक्ष है वह अतीन्द्रिय ज्ञान सारा ॥१६७॥

मन्दाक्रान्ता

सम्यग्वर्ती (सम्यग्वेत्ति) त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥२८३॥

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् –

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥

पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतनगुणाः, षड्हानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः अर्थपर्यायाः

''शाश्वत और अनन्त ज्योति के धारक तीन लोक के गुरु-अरहन्त देव जिसके द्वारा लोक-अलोक, चेतन-अचेतन एवं समस्त स्व-परद्रव्य को अच्छी तरह से जानते हैं, तथा जो उनके तृतीय नेत्र के समान है, वह केवलज्ञान नाम का श्रेष्ठ ज्ञान है। श्री तीर्थपति जिनेन्द्र उसी केवलज्ञान के द्वारा महिमा को प्राप्त हुए हैं ॥२८३॥''

इस गाथा में केवलदर्शन के बिना सर्वज्ञता नहीं हो सकती, यह कहा है –

अन्वयार्थ–(णाणागुण-पज्जएण) अनेक गुणों की पर्यायों से **(संजुत्तं)** संयुक्त **(पुव्वुत्तसयलदव्वं)** पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को **(जो)** जो **(सम्मं)** अच्छी तरह **(ण य पेच्छइ)** नहीं देखता है **(तस्स)** उसकी **(परोक्खदिट्ठी)** परोक्ष दृष्टि **(हवे)** होती है।

गाथार्थ–''जो नाना गुण और पर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को सम्यक् प्रकार से नहीं देखता उसकी परोक्षदृष्टि होती है'' वह सर्वज्ञ नहीं होता ॥१६८॥''

टीकार्थ–समस्त गुणपर्याय रूप मूर्त आदि द्रव्यों का निरूपण पूर्व गाथा में किया जा चुका है, यहाँ कुछ गुण और पर्यायों का विवेचन करते हैं-मूर्त द्रव्य के मूर्तगुण होते हैं, अचेतन द्रव्य के अचेतनगुण होते हैं, अमूर्तिक द्रव्य के अमूर्तिक गुण होते हैं और चेतन द्रव्य के चेतन गुण होते हैं। पर्याय के दो भेद हैं–अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। षड्गुणी हानिवृद्धि रूप सूक्ष्म तथा परमागम की प्रामाणिकता से स्वीकार करने योग्य जो पर्याय हैं वे अर्थपर्याय हैं ये अर्थपर्याय

पूर्वोक्त द्रव्य दल जो दिखता अपारा, नाना गुणों विविध-पर्यय का पिटारा।
जाने सही न उसको युगपत् कदापि, होता परोक्ष वह ज्ञान कहें अपापी ॥१६८॥

षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकादिव्यंजनपर्यायाः जीवानां पञ्चसंसारप्रपञ्चानां, पुद्गलानां स्थूल-स्थूलादिस्कन्धपर्यायाश्च, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्धपर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य संसारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति।

वसन्ततिलका

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥२८४॥

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम् –

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥

छहों द्रव्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। पञ्चपरिवर्तनरूप संसार के प्रपञ्च में पड़े हुए जीवों की नर-नारकादि पर्याय तथा पुद्गलों की स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्याय व्यंजनपर्याय हैं। जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों की जो अर्थपर्याय हैं वे शुद्धपर्याय कहलाती हैं क्योंकि वे कभी अन्य रूप नहीं होतीं। इन समस्त गुण और पर्यायों से सहित द्रव्यों के समूह को जो नहीं देखता उसकी दृष्टि अन्य संसारी प्राणियों की दृष्टि की तरह परोक्षदृष्टि है।

टीकाकार कहते हैं कि–"जो तीनों लोक और तीनों काल को एक ही समय शीघ्रता से नहीं देखता और अपने को सर्वज्ञ मानता है उस मूर्ख के जब अनुपम प्रत्यक्ष दृष्टि ही नहीं है तब सर्वज्ञता कैसे हो सकती है? ॥२८४॥"

यह व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का कथन है–

अन्वयार्थ–(केवली भगवं) केवली भगवान् **(लोयालोयं)** लोक-अलोक को **(जाणइ)** जानते हैं **(अप्पाणं)** आत्मा को **(णेव)** नहीं जानते हैं। **(जइ)** यदि **(कोइ)** कोई **(एवं)** इस प्रकार **(भणइ)** कहता है **(तस्स य)** तो उसको **(किं)** क्या **(दूसणं)** दोष **(होइ)** हो ?

गाथार्थ–"केवली भगवान् लोक और अलोक को जानते हैं आत्मा को नहीं जानते, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसके क्या कोई दोष हैं? ॥१६९॥"

हैं देखते सकल लोक अलोक सारे, ये केवली पर नहीं निज को निहारें।
कोई मनो यदि कहें इस भाँति भाई, क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई ॥१६९॥

सकलविमलकेवलज्ञानतृतीयलोचनो भगवान् अपुनर्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्ण-लोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च जानाति, ''पराश्रितो व्यवहारः'' इति मानात्, व्यवहारेण व्यवहार-प्रधानत्वात्, निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथतत्त्व-विचारलब्धः (लब्धवर्णः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्, तस्य न खलु दूषणमिति।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः —

अपरवक्त्र

''स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलांछनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते॥''

तथा हि —

वसन्ततिलका

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथ
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम्।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ॥२८५॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः —

टीकार्थ—सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान ही जिनका तृतीय नेत्र है और मुक्तिरूपी सुन्दरी स्त्री के जो वल्लभ हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र देव व्यवहार नय की अपेक्षा छह द्रव्यों से भरे हुए तीन लोक को और शुद्ध - केवल आकाश मात्र अलोक को जानते हैं, क्योंकि ''व्यवहारनय पराश्रित होता है'' ऐसा आगम का प्रमाण है, तथा व्यवहारनय की प्रधानता से वही जिनेन्द्र निरावरण शुद्ध आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते...यदि जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों के विचार करने में निपुण कोई यति व्यवहारनय की विवक्षा से कभी ऐसा कहता है तो उसके दोष नहीं है।

ऐसा ही श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि–''यह चराचर जगत् प्रत्येक समय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षण से युक्त है–यह वचन वक्ताओं में श्रेष्ठ जो आप सो आपकी सर्वज्ञता को सूचित करने वाला है।''

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि–''तीर्थपति भगवान् जिनेन्द्र समस्त लोक को जानते हैं, निज सुख में स्थिर रहने वाले निर्मल स्वात्मा को नहीं जानते, इस प्रकार व्यवहारमार्ग की प्रधानता से यदि कोई मुनीश्वर कहता है तो उसके दोष नहीं है ॥२८५॥''

इस गाथा में ''जीव ज्ञान स्वरूप है'' यह वितर्क द्वारा कहा है–

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि वदिरित्तं ॥१७०॥

इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं बहिर्व्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववादः। अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः। कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति (संतिष्ठते)। यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति। हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः। किं बहुना। तज्ज्ञानमात्मानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि

अन्वयार्थ—(णाणं) ज्ञान **(जीवसरूवं)** जीव का स्वरूप है **(तम्हा)** इसलिए **(अप्पा)** आत्मा **(अप्पगं)** आत्मा को **(जाणेइ)** जानता है **(अप्पाणं)** आत्मा को **(ण वि जाणदि)** नहीं जानता है तो **(अप्पादो)** आत्मा से **(वदिरित्तं)** भिन्न ज्ञान **(होदि)** होता है।

गाथार्थ—''चूँकि ज्ञान जीव स्वरूप है—आत्मस्वरूप है—आत्मा है अतः यह कहना ठीक ही है कि आत्मा (ज्ञान) आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो वह उससे भिन्न हो जायगा ॥१७०॥''

टीकार्थ—यहाँ बताया गया है कि ज्ञान जीव स्वरूप है इसलिए कोई भव्य आत्मा अखण्ड-अद्वैत स्वभाव में लीन, अतिशय रहित उत्कृष्ट भावना से सहित, मुक्ति सुन्दरी के नाथ और बाह्य कौतूहलों से दूर रहने वाले निज परमात्मा को जानता है—यह यथार्थ में स्वभाववाद है—वस्तु के स्वभाव का कथन है और इससे विपरीत जो वितर्क है वह विभाववाद है—प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है। किस प्रकार? ''आत्मा पूर्वोक्त स्वरूप आत्मा को नहीं जानता, वह तो निज स्वरूप में ही स्थित रहता है, जिस प्रकार कि अग्नि क्या उष्ण स्वरूप अग्नि के स्वरूप को जानता है? नहीं जानता, इसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प का अभाव होने से आत्मा आत्मस्वरूप में ही स्थित रहता है—न कि उसे जानता भी है।''...यह है प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय। अब इस पर विचार करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे प्राथमिक शिष्य! क्या यह आत्मा अग्नि की तरह अचेतन है? नहीं, अथवा अधिक कहने से क्या लाभ? इतना वितर्क ही पर्याप्त है कि ''यदि वह ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो देवदत्त से रहित फरशा की तरह अर्थक्रियाकारी नहीं रह जायेगा अर्थात् जिस प्रकार देवदत्त से जुदा रहने वाला फरशा अपना

है ज्ञान आतम सरूप सदा सुहाता, आत्मा अतः बस निजातम जान पाता।
माना न ज्ञान निज आतम को जनाता, तो आत्म से पृथक ज्ञान बना, न पाता ॥१७०॥

नार्थ-क्रियाकारि, अत एव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति। तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः –

अनुष्टुप्

[1]''ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥''

तथा हि —

मन्दाक्रान्ता

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम्।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

तथा चोक्तम् —

''णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो॥''

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् —

कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मा को न जानने वाला ज्ञान अपना कार्य नहीं कर सकता और इस तरह वह आत्मा से भिन्न हो जायेगा''...परन्तु यह स्वभाव का स्वभाववान् से जुदा होना स्वभाववादियों को इष्ट नहीं है।

ऐसा ही श्रीगुणभद्र स्वामी ने कहा है–''चूँकि आत्मा ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव से च्युत नहीं होना ही स्वभाव की प्राप्ति कहलाती है, अतः जो स्वभाव से अच्युति की इच्छा करता है–यह चाहता है कि हमारा ज्ञान नष्ट न हो वह निरन्तर ज्ञान की भावना करे।''

टीकाकार कहते हैं कि–''यह बिलकुल ठीक है कि ज्ञान शुद्ध जीव स्वरूप है अतः निश्चित ही आत्मा (ज्ञान) आत्मा को जानता है। यदि वह ज्ञान स्फुटित हुई अपनी सहजावस्था से सम्पन्न आत्मा को नहीं जानता है तो यह स्पष्ट है कि वह अपने निश्चल स्वरूप से भिन्न जुदा हो जायेगा ॥२८६॥''

ऐसा ही अन्यत्र कहा गया है–''ज्ञान जीव से अव्यतिरिक्त है–अभिन्न है अतः वह आत्मा को जानता है। यदि आत्मा को न जानेगा तो वह उससे भिन्न–पृथक् हो जावेगा।''

यह गुण और गुणी में भेद के अभाव का कथन है–

---

१. अयं श्लोको मुद्रितपुस्तके नास्ति।

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मेति जानीहि। तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति।

अनुष्टुप्

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि हि दृग्ज्ञानमात्मकम्।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

सर्वज्ञवीतरागस्य वांछाभावत्वमत्रोक्तम् –

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥१७२॥

अन्वयार्थ–(अप्पाणं) आत्मा को **(णाणं)** ज्ञान **(विणु)** जानो **(णाणं)** ज्ञान को **(अप्पगो)** आत्मा **(विणु)** जानो **(संदेहो ण)** इसमें संदेह नहीं है **(तम्हा)** इसलिए **(सपरपयासं)** स्व-पर प्रकाशक **(णाणं)** ज्ञान **(तह)** तथा **(दंसणं)** दर्शन **(होदि)** होता है।

गाथार्थ–''आत्मा को ज्ञान और ज्ञान को आत्मा जानो इसमें कुछ भी संदेह नहीं है और इसीलिए जिस प्रकार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है उसी प्रकार दर्शन भी स्व-पर प्रकाशक है ॥१७१॥''

टीकार्थ–हे शिष्य! तुम समस्त परद्रव्यों से पराङ्मुख रहने वाले आत्मा को स्व स्वरूप के जानने में समर्थ सहज ज्ञान स्वरूप जानो तथा ज्ञान को आत्मा समझो। स्वपर को प्रकाशित करने वाले ज्ञान और दर्शन दोनों ही तत्त्व हैं, इसमें सन्देह नहीं।

टीकाकार कहते हैं कि–''आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप और ज्ञान को आत्मारूप जानो। जो कुछ भी स्व-पर तत्त्व है आत्मा उसे स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है ॥२८७॥''

यहाँ सर्वज्ञ वीतराग देव के इच्छा का अभाव है...यह कहा है–

अन्वयार्थ–(केवलिणो) केवली के **(ईहापुव्वं)** इच्छापूर्वक **(जाणंतो)** जानना **(पस्संतो)** देखना **(ण होइ)** नहीं होता है **(तम्हा)** इसलिए **(केवलणाणी)** उन्हें केवलज्ञानी कहा है **(तेण)** जिससे **(सो)** वे **(अबंधगो दु)** अबंधक ही **(भणिदो)** कहे गए हैं।

तू आत्म को समझ ज्ञान अनूप प्याला, औ ज्ञान को समझ आतम रूपवाला।
ये ज्ञान दर्शन अतः स्वपर-प्रकाशी, संदेह के बिन, कहे मुनि सत्यभाषी ॥१७१॥

इच्छा किये बिन सुकेवल ज्ञानधारी, हैं जानते निरखते सब को अघारी।
होते अतः सब अबंधक निर्विकारी, रोते यहाँ सतत बंधक ये विकारी ॥१७२॥

भगवानर्हत्परमेष्ठी साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावः शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अबन्धक इति।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

''ण वि परिणमदि ण गेण्हइ उप्पज्जइ णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो॥''

तथा हि—

मन्दाक्रान्ता

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

गाथार्थ—''केवली भगवान् पदार्थों को जानते हैं, देखते हैं, परन्तु उनका वह जानना देखना इच्छा पूर्वक नहीं होता इसीलिए वे केवलज्ञानी हैं—मात्र जानने वाले हैं और इसीलिए वे कर्मबन्ध से रहित कहे गये हैं ॥१७२॥''

टीकार्थ—सादिअनिधन अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव वाले भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी शुद्धसद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा केवलज्ञान आदि शुद्ध गुणों का आधार होने से यद्यपि बिना किसी विश्राम के समस्त संसार को जानते देखते हैं तथापि मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से उन परम भट्टारक केवली भगवान् का वह जानना देखना इच्छापूर्वक नहीं होता इसलिए वे भगवान् केवलज्ञानी इस नाम से प्रसिद्ध हैं अर्थात् वे जानते ही है इच्छा-रागद्वेष आदि नहीं करते और इसी कारण वे अबन्धक-बन्ध रहित कहे गये हैं।

ऐसा ही श्री प्रवचनसार में कहा है—''आत्मा न तो पदार्थों के आकार परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है ओर न उनमें उत्पन्न होता है सिर्फ जानता है इसलिए अबन्धक-बन्ध रहित कहा गया है।''

टीकाकार कहते हैं कि—''सहज महिमा के धारी, ज्ञानज्योति के द्वारा पाप रूपी मल को नष्ट करने वाले और सर्वलोक का साक्षात्कार करने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव यद्यपि लोक रूपी भवन के भीतर स्थित समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं परन्तु मोह का अभाव होने से सर्व पर-पदार्थों को कभी नहीं ग्रहण करते ॥२८८॥''

इह हि ज्ञानिनो बन्धाभावस्वरूपमुक्तम् —

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनः परिणामपूर्वकमिति यावत्। कुतः? ''अमनस्काः केवलिनः'' इति वचनात्। अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बन्धकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकं जीवस्य बन्धकारणं भवति, केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो

इस गाथा में ज्ञानी जीव के बन्ध का अभाव है ... यह कहा है–

अन्वयार्थ–(परिणामपुव्ववयणं) परिणामपूर्वक वचन **(जीवस्स)** जीव के **(बंधकारणं य होई)** बन्ध का कारण होते हैं **(तम्हा)** इसलिए **(परिणामरहियवरणं)** परिणामरहित वचन **(णाणिस्स)** ज्ञानी के **(बंधो ण हि)** बन्ध का कारण नहीं है **(ईहापुव्वं)** ईहापूर्वक **(वयणं)** वचन **(जीवस्स)** जीव के **(बंधकारणं)** बन्ध के कारण **(य होइ)** होते हैं **(तम्हा)** इसलिए **(ईहारहियं वयणं)** ईहा रहित वचन **(णाणिस्स)** ज्ञानी के **(बंधो ण हि)** बन्ध नहीं कराते हैं।

गाथार्थ–''मनोव्यापार पूर्वक कहे हुए वचन जीव के बन्ध के कारण हैं, चूँकि केवली भगवान् के वचन मनोव्यापार से रहित हैं अतः उनके बन्ध नहीं होता। इच्छापूर्वक कहे हुए वचन जीव के बन्ध के कारण हैं चूँकि केवली भगवान् के वचन इच्छा रहित हैं अतः उनके बन्ध नहीं होता ॥१७३-१७४॥''

टीकार्थ–केवलज्ञानी जीव कहीं कभी स्वबुद्धि पूर्वक वचन नहीं कहते अर्थात् अपने मनो व्यापारपूर्वक वचन नहीं बोलते क्योंकि ''केवली मन रहित होते हैं'' ऐसा आगम का वचन है। सामान्य जीव के वचन मनोव्यापार पूर्वक होते हैं अतः बन्ध के कारण है परन्तु केवली भगवान् के वचन मनोव्यापार पूर्वक नहीं होते अतः बन्ध के कारण नहीं हैं। सामान्य जीव के वचन ईहापूर्वक अर्थात् अभिलाषापूर्वक ही होते हैं इसलिए बन्ध के कारण हैं परन्तु

संकल्पपूर्वक कभी कुछ बोलना है, सो बंध हेतु, पय में विष घोलना है।
संकल्प-मुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी, होता न बंध उनको सुन भव्यप्राणी! ॥१७३॥

इच्छा समेत कुछ भी वह बोलना है, लो बंध हेतु, पय में विष घोलना है।
इच्छा विमुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी, होता न बंध उनको सुन भव्य! प्राणी ॥१७४॥

दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणं, ततः सम्यग्ज्ञानिनो बन्धाभाव इति।

मन्दाक्रान्ता

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमस्यास्ति नैव
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बन्धः कथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं द्वेषरागादिजालम् ॥२८९॥
एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्धः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम्।
आरातीये भगवति जिने नैव बन्धो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥
न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपञ्चो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

केवली भगवान् के मुखारविन्द से निकली हुई दिव्यध्वनि ईहापूर्वक न होकर भी समस्त मनुष्यों के हृदय को आनन्द करने वाली है अतः सम्यग्ज्ञानी-केवली भगवान् के बन्ध का अभाव है।

टीकाकार कहते हैं कि–''केवली भगवान् की वचन रचना ईहापूर्वक नहीं होती यह उनकी प्रकट महिमा है, वे समस्त लोक के एक स्वामी हैं। जबकि उनके मोह का अभाव है तब द्रव्य और भावरूप बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि रागद्वेषादिक का जितना जाल है वह सब मोह के अभाव में नहीं आता ॥२८९॥''

''जो तीनों लोकों के गुरु हैं, जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं और यह सारा संसार तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओं का समूह जिनके ज्ञान में स्थित है वे श्री जिनेन्द्र देव एक – प्रमुख देव हैं। उन भगवान् जिनेन्द्रदेव के न बन्ध है, न मोह है, न कोई मूर्च्छा हैं और न विषयानुभूति रूप चेतना है ॥२९०॥''

''इन भगवान् जिनेन्द्र के न तो कोई कर्म है न कर्मों का प्रपञ्च ही है, राग का अभाव होने से यह वीतराग होकर ही सुशोभित होते हैं, यह अतुल्य महिमा वाले हैं, श्रीमान् हैं, आत्मस्वरूप में लीन हैं, मुक्ति रूपी वनिता के स्वामी हैं, तथा ज्ञान रूप ज्योति के द्वारा समस्त संसार के प्राङ्गण को सब ओर से व्याप्त करने वाले हैं ॥२९१॥''

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत्—

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनम्; अतः स भगवान् न चेहते। मनःप्रवृत्तेरभावात्; ''अमनस्काः केवलिनः'' इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिकं करोति। ततस्तस्य तीर्थकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबन्धो न भवति। स च बन्धः पुनः किमर्थं जातः कस्य सम्बन्धश्च? मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः, साक्षार्थं अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणामेव बन्ध इति।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे -

यह केवली भट्टारक के अमनस्कत्व मन रहितपने का निरूपण है—

अन्वयार्थ—(केवलिणो) केवली के **(ठाणणिसेज्जविहारा)** खड़े होना, बैठना और विहार करना **(ईहापुव्वं)** इच्छापूर्वक **(ण होइ)** नहीं होता है **(तम्हा)** इसलिए **(ण होइ बंधो)** उनके बन्ध नहीं होता है **(मोहणीयस्स)** मोहनीय का **(साक्खट्ठं)** इन्द्रिय विषयों से प्रयोजन रखने वाले को बन्ध होता है।

गाथार्थ—''केवली भगवान् के ठहरना, बैठना तथा विहार करना ईहापूर्वक नहीं होते अतः उनके बन्ध नहीं होता। बन्ध तो इन्द्रियों के विषयों के लिए मोहनीय के वशीभूत हुए संसारी जीवों के होता है ॥१७५॥''

टीकार्थ—उत्कृष्ट आर्हन्त्य लक्ष्मी से सुशोभित - परम वीतराग - सर्वज्ञ श्री केवली भगवान् की कुछ भी प्रवृत्ति इच्छापूर्वक नहीं होती इसलिए वे भगवान् इच्छा नहीं करते। मानसिक प्रवृत्ति का अभाव होने से अथवा ''केवली मनरहित होते हैं'' आगम में ऐसा वचन होने से वे इच्छापूर्वक न ठहरते हैं, न बैठते हैं और न श्रीविहार आदि ही करते हैं और इसीलिए न उन तीर्थंकर परम देव के द्रव्य-भाव रूप चार प्रकार का बन्ध होता है। वह बन्ध किसलिए और किसके होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह मोहनीयकर्म के विलास से वृद्धि को प्राप्त होता है और अक्षार्थ अर्थात् इन्द्रियों के प्रयोजन से मोहनीय के वशीभूत संसारी जीवों के ही होता है।

ऐसा ही श्री प्रवचनसार में कहा है—

इच्छा बिना सहज से उठ बैठ जाते, है केवली इसलिये नहीं बंध पाते।
मोही बना जगत ही विधि बन्ध पाता, ऐसा वसन्ततिलका वह छन्द गाता ॥१७५॥

''ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं॥''

शार्दूलविक्रीडित

देवेन्द्रासनकम्पकारणमहत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥२९२॥

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् –

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७६॥

स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृ-

---

''उन अरहन्त देव के यथासमय ठहरना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना यह सब उस प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार कि स्त्रियों का मायाचार स्वाभाविक होता है।''

टीकाकार कहते हैं कि–''इन्द्रासनों को कम्पित करने में कारण अतिशय विशाल केवलज्ञान का उदय होने पर मुक्तिलक्ष्मी रूप स्त्री के मुखकमल को विकसित करने के लिए सूर्य तुल्य तथा समीचीन धर्म के रक्षामणि श्री जिनेन्द्रदेव की जो कुछ भी प्रवृत्ति होती है वह सर्व मन पूर्वक नहीं होती। यह उनकी पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान अपरिमित महिमा ही है ॥२९२॥''

यह शुद्ध जीव के स्वाभाविक गति प्राप्त होने के उपायों का कथन है –

अन्वयार्थ–(पुणो) फिर **(आउस्स)** आयु के **(खयेण)** क्षय से **(सेसपयडीणं)** शेष प्रकृतियों का **(णिण्णासो)** नाश **(होइ)** होता है **(पच्छा)** बाद में **(समयमेत्तेण)** समयमात्र में **(सिग्घं)** शीघ्र **(लोयग्गं)** लोकाग्र को **(पावइ)** प्राप्त कर लेते हैं।

गाथार्थ–''आयु कर्म का क्षय होने के बाद शेष कर्मप्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है और पश्चात् यह जीव शीघ्र – समयमात्र में लोकाग्र को प्राप्त हो जाता है ॥१७६॥''

टीकार्थ–स्वाभाविक गति रूप क्रिया में परिणत, षट्क अपक्रम अर्थात् चार दिशाओं और ऊपर–नीचे इस प्रकार छह दिशाओं में गमन से रहित एवं सिद्धक्षेत्र के सन्मुख जीव के

है आयु का प्रथम तो अवसान होता, निश्शेष कर्म दल का फिर नाश होता।
पश्चात् सुशीघ्र शिव दे पल में लसेंगे, लोकाग्र पे स्थित शिवालय में बसेंगे ॥१७६॥

तत्फलप्राप्तिप्रयोजनविकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयु:कर्मक्षये जाते वेदनीयनामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्णाशो भवति। शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति।

अनुष्टुप्

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवा: ॥२९३॥

मन्दाक्रान्ता

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ॥२९४॥

अनुष्टुप्

पञ्चसंसारनिर्मुक्तान् पञ्चसंसारमुक्तये।
पञ्चसिद्धानहं वन्दे पञ्चमोक्षफलप्रदान् ॥२९५॥

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् —

ध्यान-ध्येय, ध्याता और उसकी फलप्राप्ति रूप प्रयोजन के विकल्प से रहित तथा स्वस्वरूप में अविचल स्थिति रूप परम शुक्लध्यान के द्वारा जब आयुकर्म का क्षय हो चुकता है तब वेदनीय, नाम और गोत्र नामक शेष कर्मों का भी अत्यन्त नाश हो जाता है। यद्यपि वे भगवान् शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमा से युक्त आत्मस्वरूप में अवस्थित रहते हैं, तो भी व्यवहारनय से क्षणार्ध में ही लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार सिद्धों का लक्षण षट्कापक्रम से युक्त संसारी जीवों के लक्षण से पृथक् जानना चाहिए क्योंकि वे ऊर्ध्वगामी सिद्धपरमेष्ठी सदा आनन्द रूप रहते हैं ॥२९३॥

टीकाकार कहते हैं कि–''कर्मबन्ध के छेद से जिनकी अतुल्य महिमा प्रकट हो रही है और जो अब देव तथा विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन के विषय नहीं रह गये हैं ऐसे अतिशय प्रसिद्ध देवाधिदेव श्री सिद्ध परमेष्ठी यद्यपि व्यवहारनय से लोकाग्र भाग में स्थित है तथा निश्चयनय से अपने आत्मस्वरूप में ही निश्चल रूप से अवस्थित रहते हैं ॥२९४॥''

''मैं पञ्च परिवर्तन रूप संसार से युक्त एवं पञ्च परिवर्तन रूपी संसार से मुक्ति रूपी फल को देने वाले पञ्च सिद्धों को पञ्चविध संसार से मुक्ति पाने के लिए नमस्कार करता हूँ ॥२९५॥''

यह कारणभूत परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है–

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

निसर्गतः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितम्, परमपारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परमम्, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात्, कर्माष्टकवर्जितम्, द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धम्, सहजज्ञानसहजदर्शन-सहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वाज्ज्ञानादिचतुः स्वभावम्, सादिसनिधनमूर्तेन्द्रियात्मकविजातीयविभाव-व्यंजनपर्यायवीतत्वादक्षयम् प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशम्, वधबन्धच्छेद-योग्यमूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति।

मालिनी

अविचलितमखण्डज्ञानमद्वन्द्वमिष्टं
निखिलदुरितदुर्गव्रातदावाग्निरूपम्।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२९६॥

अन्वयार्थ—(जाइजरमरणरहियं) जन्म, जरा, मरण से रहित **(परमं)** परम **(कम्मट्ठ-वज्जियं)** आठ कर्मों से रहित **(सुद्धं)** शुद्ध **(णाणाइ-चउसहावं)** ज्ञानादि चार स्वभाव वाले **(अक्खयं)** अक्षय **(अविणासं)** अविनाशी **(अच्छेयं)** अच्छेद्य हैं।

गाथार्थ—''जो जन्म, जरा, मरण से रहित है, उत्कृष्ट है, अष्ट कर्मों से रहित है, शुद्ध है, ज्ञानादि चतुर्गुणरूप स्वभाव से युक्त है, अक्षय है, अविनाशी है और अच्छेद्य है वह कारण परमतत्त्व है ॥१७७॥''

टीकार्थ—वह कारण परमतत्त्व स्वभाव से ही संसार का अभाव होने के कारण जन्म, जरा और मरण से रहित है, परम पारिणामिक भाव से उत्कृष्ट स्वभाव रूप होने के कारण परम है, तीनों काल में उपाधि रहित स्वरूप होने के कारण आठ कर्मों से रहित है, द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित होने के कारण शुद्ध है, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजचैतन्य शक्ति से तन्मय होने के कारण ज्ञानादि चतुःस्वभाव है। सादिसान्त मूर्तेन्द्रियात्मक विजातीय विभावव्यंजनपर्याय से रहित होने के कारण अक्षय है, शुभ-अशुभ गति के कारणभूत पुण्य-पाप कर्मों के द्वन्द्व-युगल का अभाव होने से अविनाश है और वध, बन्धन तथा छेदन के योग्य मूर्ति-शरीर से रहित होने के कारण अच्छेद्य है।

टीकाकार कहते हैं कि-''हे आत्मन्! तू उस दिव्य सुख-मोक्षसुखरूपी अमृत का सेवन

दुष्टाष्ट कर्म तजते सकलावभासी, होते अछेद्य परमोत्तम ना विनाशी।
ज्ञानादि अक्षय चतुष्टय रूप धारे, वार्धक्य जन्म-मृति-मुक्त सुसिद्ध सारे ॥१७७॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम् –

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

अखिलदुरघवीरवैरिवरूथिनीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधम्, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियम्, त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यम्, संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावात्पुण्यपापनिर्मुक्तम्, पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमविरहितम्-नित्यमरणतद्भवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यम्, निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादचलम्, परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति।

कर जो कि चञ्चलतारहित है, अखण्ड ज्ञान से युक्त है, द्वन्द्व रहित है, इष्ट है, समस्त पापरूपी वन के समूह को जलाने के लिए दावानल है और अपने ही आत्मा से उत्पन्न है। उस दिव्यसुखरूप अमृत से ही तुझे सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होगी ॥२९६॥''

इस गाथा में भी निरुपाधि स्वरूप ही जिसका लक्षण है ऐसे परमात्मतत्त्व कहा गया है –

अन्वयार्थ–(अव्वाबाहं) अव्याबाध **(अणिंदियं)** अतीन्द्रिय **(अणोवमं)** अनुपम **(पुण्ण-पाव-णिम्मुक्कं)** पुण्य-पाप से निर्मुक्त **(पुणरागमण-विरहियं)** पुनः आगमन से विरहित **(णिच्चं)** नित्य **(अचलं)** अचल **(अणालंबं)** अनालंब हैं।

गाथार्थ–''वह परमात्मतत्त्व अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य-पाप से निर्मुक्त है, पुनरागमन से रहित है, नित्य है, अविचल है और अनालम्ब है–परद्रव्य के आलम्बन से रहित है ॥१७८॥''

टीकार्थ–वह परमात्मतत्त्व समस्त दुष्ट पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के क्षोभ से रहित, सहजज्ञान रूप दुर्ग में अवस्थित होने से अव्याबाध है–बाधारहित है, समस्त आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय है, बहिरात्मादि तीन तत्त्वों में श्रेष्ठ होने से अनुपम है, संसाररूपी स्त्री के संभोग से समुद्भूत सुख-दुःख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप से निर्मुक्त है, पुनरागमन में कारणभूत शुभ-अशुभ मोह, राग तथा द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन से रहित है, नित्यमरण और तद्भवमरण का कारणभूत शरीर सम्बन्ध का अभाव होने से नित्य है, अपने गुण और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है एवं परद्रव्य के आलम्बन का अभाव होने से अनालम्ब है।

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे, वे सिद्ध हैं अचल नित्य अनूप सारे।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते, हैं पुण्य-पाप-विधि-मुक्त मुझे सुहाते ॥१७८॥

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः –

मन्दाक्रान्ता

''आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरितः स्थायिभावत्वमेति॥''

तथा हि –

शार्दूलविक्रीडित

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयः सम्यग्दृशां गोचरः।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२९७॥

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तम् –

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि–''अनादिसंसार से पद-पद पर निरन्तर मत्त रहने वाले ये रागी पुरुष जहाँ शयन कर रहे हैं वह अपद है–अपना स्थान नहीं है, हे अन्धे प्राणियों! जागो, और इधर आओ, यह तुम्हारा पद है, जिसमें कि अत्यन्त शुद्ध तथा स्वरस से भरा हुआ चैतन्य रूप धातु स्थायीभाव को प्राप्त हो रहा है–निरन्तर रह रहा है।''

टीकाकार भी कहते हैं कि–''कुल भाव पाँच हैं, उनमें पञ्चम पारिणामिक भाव श्रेष्ठ है, क्योंकि वही सदा स्थायी रहता है, संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टि जीवों का विषय है। जो बुद्धिमान समस्त रागद्वेष के समूह को छोड़कर उसी पारिणामिक भाव को जानता है वही एक, पाप रूप अटवी को जलाने के लिए अग्नि तुल्य यतीश्वर इस कलियुग में शोभा पाता है ॥२९७॥''

इस गाथा में सांसारिक विकार समूह का अभाव होने पर ही निर्वाण होता है–यह कहा है–

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा, आती न गन्ध दुख की सुख की न क्रीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते, निर्वाण जान वह है गुरु यों बताते ॥१७९॥

निरुपरागरत्नत्रयात्मकपरमात्मन: सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्यवाऽशुभ-परिणतेरभावान्न चाशुभकर्म अशुभकर्माभावान्न दु:खम्, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभकर्माभावान्न खलु संसारसुखम्, पीडायोग्ययातना (योग्ययतन) शरीराभावान्न मरणम्, असातावेदनीयकर्माभावान्नैव विद्यते बाधा, पञ्चविध-नोकर्माभावान्न मरणम्, पञ्चविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्न जननम्। एवंलक्षणलक्षिता-क्षुण्णविक्षेपणविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति।

मालिनी

भवभवसुखदु:खं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२९८॥

अन्वयार्थ—(दुक्खं) दु:ख **(णवि)** नहीं है **(सुक्खं)** सुख **(णवि)** नहीं है **(पीडा)** पीड़ा **(णवि)** नहीं है **(बाहा)** बाधा **(णेव विज्जदे)** नहीं रहती है **(मरणं)** मरण **(णवि)** नहीं है **(जणणं)** जन्म **(णवि)** नहीं है **(तत्थेव)** वहीं ही **(णिव्वाणं य)** निर्वाण **(होइ)** होता है।

गाथार्थ—''जहाँ न दु:ख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण होता है ॥१७९॥''

टीकार्थ—जो निरन्तर अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्म स्वरूप में लीन हैं ऐसे निरुपराग - शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप परमात्मा के अशुभ परिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं होते और अशुभकर्मों का अभाव होने से दु:ख भी नहीं होता, इसी प्रकार शुभ परिणति का अभाव होने से शुभ कर्म नहीं होते ओर शुभकर्मों का अभाव होने से संसार सुख भी नहीं होता, पीड़ा का योग्य आयतन-स्थान जो शरीर उसका अभाव होने से पीड़ा नहीं होती, असातावेदनीय कर्म का अभाव होने से बाधा नहीं होती, पञ्च प्रकार के नोकर्म-शरीर का अभाव होने से मरण नहीं होता और पञ्च प्रकार के नोकर्मों के कारणभूत कर्मरूप पुद्गल का ग्रहण न होने से जन्म नहीं होता, इस प्रकार इन लक्षणों से सहित अखण्ड एवं विक्षेप रहित जो परमात्मतत्त्व है उसी का निर्वाण होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–

''जिसके भव-भव के दु:ख नहीं हैं, बाधा नहीं है और जन्म-मरण की पीड़ा भी नहीं है, मैं कामसुख से पराङ्मुख होता हुआ मुक्ति जनित सुख की प्राप्ति के लिए निरन्तर उसी को नमस्कार करता हूँ, उसी की स्तुति करता हूँ और उसी की भावना-चिन्तन करता हूँ ॥२९८॥''

अनुष्टुप्

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।
अहमात्मानमानन्दमन्दिरं नौमि नित्यशः ॥२९९॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् –

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

अखण्डैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपञ्चेन्द्रियव्यापाराः, देवमानव-तिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति, क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्नदर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीय-द्वितयमपि, बाह्यप्रपञ्चविमुखत्वान्न विस्मयः, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा, असातावेदनीय-कर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च। तत्र परमब्रह्मणि नित्यं भवतीति।

तथा चोक्तममृताशीतौ –

''आत्मा की आराधना से हीन मनुष्य चूँकि सापराध माना गया है अतः मैं आनन्द के मन्दिर स्वरूप आत्मा की ही निरन्तर स्तुति करता हूँ – आत्मा की ही आराधना करता हूँ ॥२९९॥''

यह परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है –

अन्वयार्थ–जहाँ **(इंदिय-उवसग्गा)** इन्द्रियाँ और उपसर्ग **(णवि)** नहीं हैं **(मोहो)** मोह **(णवि)** नहीं है **(विम्हिओ)** विस्मय **(णिद्दा य)** और निद्रा **(ण)** नहीं है **(तिण्हा)** तृष्णा **(ण य)** नहीं है **(छुहा)** क्षुधा **(णेव)** नहीं है **(तत्थेव)** वहीं **(णिव्वाणं य)** निर्वाण **(होइ)** है।

गाथार्थ–''जहाँ न इन्द्रिय हैं, न उपसर्ग हैं, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न प्यास है और न क्षुधा है वहीं निर्वाण होता है ॥१८०॥''

टीकार्थ–उस परम ब्रह्म रूप परम तत्त्व में अखण्डैक प्रदेशी ज्ञानस्वरूप होने से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पञ्च इन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत उपसर्ग नहीं हैं, क्षायिक सम्यग्दर्शन और यथाख्यात चारित्र से तन्मय होने के कारण दर्शन और चारित्र के भेद से विभक्त दोनों प्रकार का मोह नहीं है, बाह्य प्रपञ्च से विमुख रहने के कारण विस्मय–आश्चर्य नहीं है, निरन्तर प्रकट रहने वाले शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से निद्रा नहीं है और असातावेदनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षुधा–तृषा भी नहीं है।

ऐसा ही अमृताशीति ग्रन्थ में कहा है–

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है, ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं हैं।
होते कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा हैं, निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥१८०॥

मालिनी

‘‘ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात्॥’’

तथा हि –

मन्दाक्रान्ता

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पेऽ-
क्षाणामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित्।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् –

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्क झाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

‘‘जिसमें ज्वर-जन्म और जरा की पीड़ा नहीं है, जिसका मृत्यु पराभव नहीं कर सकती एवं जो गति-आगति से रहित है, वह परमतत्त्व, गुणों से श्रेष्ठ गुरुओं के चरण कमलों की सेवा के प्रसाद से हम लोगों के भी अतिशय निर्मल चित्त में प्राप्त किया जा सकता है।’’

टीकाकार कहते हैं कि–‘‘अनुपम गुणों से सुशोभित विकल्पातीत जिस परब्रह्म में इन्द्रियों की कुछ भी विविध एवं विषय प्रवृत्ति नहीं है और न संसार के मूलभूत संसारी जनोचित अन्य गुणों के समूह ही विद्यमान हैं उसी परब्रह्म - परमात्मतत्त्व में निरन्तर आत्मसुख से तन्मय निर्वाण सुशोभित होता है ॥३००॥’’

यह समस्त कर्मों से रहित शुभ-अशुभ-शुद्ध ध्यान तथा ध्येय के विकल्प से निर्मुक्त परम तत्त्व के स्वरूप का कथन है–

अन्वयार्थ–(कम्मं) कर्म **(णवि)** नहीं है **(णोकम्मं)** नोकर्म **(णवि)** नहीं है **(चिंता अट्टरुद्दाणि)** चिंता, आर्त-रौद्र ध्यान **(णेव)** नहीं है **(धम्मसुक्कझाणे)** धर्म-शुक्लध्यान **(णवि)** भी नहीं है **(तत्थेव य)** वहीं **(णिव्वाणं)** निर्वाण **(होइ)** होता है।

चिंता नहीं उपजती चिति में जरा-सी, नो कर्म भी नहिं नहीं वसु कर्म राशी।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों, निर्वाण है वह, सुधी तुम यों विचारो ॥१८१॥

सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टकं, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वान्न नोकर्मपञ्चकं च, अमनस्कत्वान्न चिन्ता, औदयिकादिविभावभावानामभावादार्तरौद्रध्याने न स्तः, धर्मशुक्लध्यानयोग्यचरमशरीराभावात्तद्द्वितय न भवति। तत्रैव च महानन्द इति।

मन्दाक्रान्ता

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम्।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥३०१॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत् –

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

गाथार्थ–''जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त्तरौद्र ध्यान हैं और न धर्म-शुक्लध्यान हैं वहीं निर्वाण होता है ॥१८१॥''

टीकार्थ–जहाँ सदा निरञ्जन होने से आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, तीनों काल में उपाधि रहित होने से पाँच नोकर्म नहीं हैं, मन रहित होने से चिन्ता नहीं है, औदयिक आदि विभाव भावों का अभाव होने से आर्त्तरौद्रध्यान नहीं हैं तथा धर्म-शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर का अभाव होने से धर्म-शुक्लध्यान भी नहीं हैं वहाँ महान् आनन्दरूप निर्वाण होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''जो निर्वाण में स्थित है, जिन्होंने पापरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अतिशय विशुद्ध है और ज्ञान के पुञ्ज स्वरूप हैं उन परं ब्रह्म सिद्ध भगवान् में न कोई कर्म ही शेष रह जाते हैं और न चार ध्यान ही रहते हैं उनके तो एक वह अनिर्वचनीय मुक्ति होती है जो कि वचन और मन दोनों से दूर रहती है ॥३०१॥''

यह सिद्ध भगवान् के स्वाभाविक गुणों का कथन है –

अन्वयार्थ–(केवलणाणं) वहाँ केवलज्ञान **(केवलसोक्खं)** केवलसुख **(केवलं विरियं च)** केवल वीर्य **(केवलदिट्ठि)** केवल दृष्टि **(अमुत्तं)** अमूर्तत्व **(अत्थित्तं)** अस्तित्व **(सप्पदेसत्तं)** सप्रदेशत्व **(विज्जदि)** रहता है।

गाथार्थ–''उन सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान है, केवलसौख्य है, केवलवीर्य है, केवलदर्शन है, अमूर्तत्व है, अस्तित्व है और सप्रदेशत्व है ॥१८२॥''

कैवल्य - बोध - सुख - दर्शन - वीर्यवाला, आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला।
निर्वाण में निवसता निज नीति धारी, अस्तित्त्व से विलसता जग आर्तहारी ॥१८२॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्व-सप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवन्ति इति।

मन्दाक्रान्ता

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यन्तिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणः शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ॥३०२॥

सिद्धसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत्—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८३॥

टीकार्थ—सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखाकार स्वात्मा के आश्रय से होने वाले निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का विनाश हो चुकने पर भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसुख, अमूर्तत्व, अस्तित्व तथा सप्रदेशत्व आदि स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि–''कर्मबन्ध का छेद हो जाने से निरन्तर शुद्ध रहने वाले अतिशय प्रसिद्ध सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, समस्त पदार्थों को विषय करने वाला केवलदर्शन, आत्यन्तिक – अविनाशी सुख और निरन्तर शुद्ध रहने वाले वीर्य आदि अन्य गुण रूप मणियों का समूह प्रकट हो जाता है ॥३०२॥''

यह सिद्ध और सिद्धि में एकत्व – अभेद का निरूपण है –

अन्वयार्थ—(णिव्वाणं) निर्वाण **(एव)** ही **(सिद्धा)** सिद्ध हैं **(सिद्धा)** सिद्ध ही **(णिव्वाणं)** निर्वाण है **(इदि)** ऐसा **(समुद्दिट्ठा)** कहा है **(कम्मविमुक्को)** कर्म से रहित **(अप्पा)** आत्मा **(लोयग्गपज्जंतं)** लोक के अग्रभाग पर्यंत तक **(गच्छइ)** जाता है।

गाथार्थ—''निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं ऐसा कहा गया है—मुक्त और मुक्ति प्राप्त जीवों में अभेद है। जो आत्मा कर्म से मुक्त होता है वह लोक के अग्रभाग तक जाता है ॥१८३॥''

निर्वाण ही परम सिद्ध रहा सुहाता, या सिद्ध शुद्ध निर्वाण सदा कहाता।
जो कर्म-मुक्त बनते अविराम जाते, लोकाग्र लौं फिर सुसिद्ध विराम पाते ॥१८३॥

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्ठो भवति। कथमिति चेत्, ''निर्वाणमेव सिद्धा'' इति वचनात्। सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठन्तीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवन्तः स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति। ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धाश्च निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम्। अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलङ्कपङ्क विमुक्तः सन् परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति।

मालिनी

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०३॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम्—

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायऽभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

टीकार्थ—यहाँ निर्वाण शब्द दो अर्थों में स्थित है। किस प्रकार? ''निर्वाण ही सिद्ध है'' मुक्ति ही मुक्त है—ऐसा आगम का वचन होने से। सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं .. यह व्यवहारनय की अपेक्षा कथन है परन्तु निश्चयनय से स्व-स्वरूप में ही स्थित रहते हैं इसलिए निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण है ... इस क्रम से निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द में एकत्व सिद्ध हो जाता है।

जो अतिशय निकट भव्य जीव है वह परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त हुई परम पारिणामिक भाव की भावना के द्वारा समस्त कर्मरूपी कलंक पंक से मुक्त होता हुआ परमात्मा होकर लोक के अग्रभाग तक जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि—''हमें जैनधर्म में कही हुई मुक्ति तथा मुक्त जीव के बीच युक्ति तथा आगम से कहीं भी भेद नहीं मालूम होता। जो निकट भव्य है वह समस्त कर्मों का निर्मूलन कर मुक्ति लक्ष्मीरूपी स्त्री का प्रियवल्लभ होता है ॥३०३॥''

अब सिद्ध क्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों का गमन निषिद्ध है, यह कहते हैं –

अन्वयार्थ—(जाव) जहाँ तक **(धम्मत्थी)** धर्मास्तिकाय है **(जीवाण पुग्गलाणं)** जीव-

---

यों प्राणि पुद्गल, जहाँ तक धर्म होता, जाते वहाँ नहिं जहाँ नहिं धर्म होता।
यों जीव की व जड़ की गति में सहाई, धर्मास्तिकाय बनता सुन भव्य भाई ॥१८४॥

जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं, विभावक्रिया षट्कापक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः, विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः। अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति, परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिकायस्याभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति। अत एव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति।

अनुष्टुप्

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः।
नैवास्ति गमनं तस्माद् गतिहेतोरभावतः ॥३०४॥

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम् –

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोहो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८५॥

पुद्गलों का **(गमणं)** गमन **(जाणेइ)** जानो। **(धम्मत्थिकायभावे)** धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर **(तत्तो)** उससे **(परदो)** आगे **(ण गच्छंति)** नहीं जाते हैं।

गाथार्थ–''जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक है जहाँ तक कि धर्मास्तिकाय है, धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे वे नहीं जाते ॥१८४॥''

टीकार्थ–जीव और पुद्गल में स्वभाव-विभाव दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। सिद्धिक्षेत्र तक गमन करना जीवों की स्वभावक्रिया है। और षट्काय के क्रम से युक्त होना जीवों की विभावक्रिया है। परमाणु में गति होना पुद्गल की स्वभाव क्रिया है और द्व्यणुक आदि स्कन्धों में गति होना पुद्गल की विभाव क्रिया है। इन जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया त्रिलोकशिखर के ऊपर नहीं हैं क्योंकि उसके आगे गमन में कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है जिस प्रकार कि जल के अभाव में मच्छों का गमन नहीं होता उसी प्रकार धर्मास्तिकाय का अभाव होने से त्रिलोकशिखर के आगे जीव और पुद्गलों का गमन नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ तक धर्मास्तिकाय रहता है उसी क्षेत्र पर्यन्त स्वभाव एवं विभावगति रूप क्रिया में परिणत जीव और पुद्गलों का गमन होता है।

टीकाकार कहते हैं कि–''त्रिलोकशिखर के ऊपर जीव और पुद्गल – दोनों का ही गमन नहीं होता क्योंकि उसके आगे गति के कारण अर्थात् धर्मास्तिकाय का अभाव है ॥३०४॥''

शास्त्र के आदि में ग्रहण किये हुए नियम शब्द और उसके फल का यह उपसंहार है –

हो शास्त्र भक्तिवश शास्त्र सही बनाया, मैंने यहाँ 'नियम' के फल को दिखाया।
पूर्वापरा यदि विरोध यहाँ दिखावें, शास्त्रज्ञ दूर कर नित्य पढ़ें पढ़ावें ॥१८५॥

नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः। तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम्। न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत्। यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्त्विति।

मालिनी

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात्।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम्—

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चा अभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

अन्वयार्थ—(णियमं) नियम **(णियमस्स)** नियम का **(फलं)** फल **(पवयणस्स)** प्रवचन की **(भत्तीए)** भक्ति से **(णिद्दिट्ठं)** निर्दिष्ट किया है **(जदि)** यदि **(पुव्वावरविरोहो)** पूर्वापर विरोध हो तो **(समयण्हा)** समयज्ञ पुरुष **(अवणीय)** उसे दूर करके **(पूरयंतु)** पूर्ति करें।

गाथार्थ—''मैंने नियम और नियम के फल का केवल प्रवचन की भक्ति से ही निर्देश किया है यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगम के जानकार विद्वान् उसे दूर कर उसकी पूर्ति करें ॥१८५॥''

टीकार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैंने यहाँ शुद्ध रत्नत्रय के व्याख्यान द्वारा नियम और उसके फल स्वरूप निर्वाण का जो प्रतिपादन किया है वह कवित्व के अहंकार से नहीं किया है केवल प्रवचन की भक्ति से इन सबका प्रतिपादन किया है, यदि इसमें पूर्वापर दोष हो तो उस दोषात्मक प्रकरण को दूर कर आगम के जानकार परम कवीश्वर उसे उत्तम-उत्कृष्ट निर्दोष करें।

टीकाकार कहते हैं कि-''वह नियमसार और उसका फल जयवन्त रहे जो कि उत्तम मोक्ष का कारण होने से उत्तम मनुष्यों के हृदयकमल में सदा विद्यमान रहता है। प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने जिस नियम का प्रतिपादन किया है निश्चय से वही समस्त भव्य जीवों के मोक्ष का मार्ग है ॥३०५॥''

यहाँ भव्य जीव को शिक्षा कही गई है-

ईर्ष्याभिभूत जन सुंदर पंथ की भी, निंदा करे शरण ले अघ ग्रन्थ की भी।
भाई कभी न उनसे अनुकूल होना, आस्था जिनेश पथ की मत भूल खोना ॥१८६॥

केचन मन्दबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रयप्रतिपक्षमिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचार-रत्नत्रयात्मकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गे हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति।

शार्दूलविक्रीडित

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशान्तिकरालकालदहने शुष्यन्मनीषावने।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ् मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥३०६॥

तथा हि—

अन्वयार्थ—(पुणो) फिर भी **(केई)** कितने ही लोग **(ईसाभावेण)** ईर्ष्याभाव से **(सुंदरं मग्गं)** सुन्दर मार्ग की **(णिंदंति)** निंदा करते हैं **(तेसिं)** उनके **(वयणं)** वचन **(सोच्चा)** सुनकर **(जिणमग्गे)** जिनमार्ग में **(अभत्तिं)** अभक्ति **(मा कुणह)** मत करो।

गाथार्थ—''कितने ही जीव ईर्ष्याभाव से समीचीन मार्ग की निन्दा करते हैं सो उनके वचन सुनकर जैनमार्ग में अभक्ति न करो ॥१८६॥''

टीकार्थ—कितने ही मन्दबुद्धि, त्रिकाल निरावरण-नित्यानन्दैकलक्षण से युक्त, निर्विकल्पक निजकारण परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और तल्लीनतारूप शुद्ध रत्नत्रय के विरोधी मिथ्यात्वकर्म के उदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में तत्पर होते हुए ईर्ष्याभाव अर्थात् समत्सर परिणाम से सुन्दर मार्ग अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग जो कि पापक्रिया की निवृत्तिरूप लक्षण से युक्त भेदोपचार रत्नत्रयरूप अथवा अभेदोपचार रत्नत्रय रूप है निन्दा करते हैं, उन स्वरूप भ्रष्ट मनुष्यों के कुहेतु और कुदृष्टान्त से युक्त कुतर्करूप वचनों को सुनकर जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत शुद्धरत्नत्रय के मार्ग में हे भव्य! तू अभक्ति न कर। तुझे भक्ति ही करना चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि—''जो शरीर समूहरूपी वृक्षों की पंक्ति से भय को देने वाला है जिसमें दुःखसमूह ही हिंसक जन्तु हैं, जिसमें सर्वप्रकार की अशान्ति रूपी भयंकर कालाग्नि जल रही है, जिसमें बुद्धिरूपी वन सूख रहा है और जो अनेक प्रकार के मिथ्यानयरूपी मार्गों से दुर्गम हो रहा है ऐसे संसाररूपी अटवी के संकट में दृष्टि भ्रान्त जीवों को यदि शरण है तो एक जैन दर्शन ही शरण है ॥३०६॥''

और भी कहा है—

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकम्पिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम्।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
मन्ये तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्ममेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोऽयम्—

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

अत्राचार्यः प्रारब्धस्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावनानिमित्तमशुभवंचनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम्। किं कृत्वा पूर्वं? ज्ञात्वा अवंचकपरम-गुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति। कम्? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशम्। तं पुनः किं विशिष्टम्? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहरागद्वेषाभावादाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति।

''लोक और अलोक में फैला हुआ यह केवलज्ञान ही जिनका शरीर है एवं शंख ध्वनि के द्वारा जिन्होंने समस्त भूमि को कम्पित कर दिया है, ऐसे श्री नेमिनाथ स्वामी की स्तुति करने के लिए लोकत्रय में कौन मनुष्य अथवा देव समर्थ हैं? मैं तो मानता हूँ कि उत्सुकता से भरी हुई मेरी भक्ति ही उनके स्तवन का कारण है ॥३०७॥''

यहाँ शास्त्र का नाम बतलाते हुए उसका उपसंहार करते हैं -

अन्वयार्थ—(पुव्वावर-दोस-णिम्मुक्कं) पूर्वापर दोष से रहित **(जिणोवदेसं)** जिनोपदेश को **(णच्चा)** सुनकर **(मए)** मैंने **(णियभावणा-णिमित्तं)** निज आत्मा के निमित्त **(णियमसार-णामसुदं)** नियमसार नाम का श्रुत **(कदं)**रचा है।

गाथार्थ—''मैंने पूर्वापर दोष से रहित जिनोपदेश को जानकर अपनी भावना के लिए यह नियमसार नाम का शास्त्र रचा है ॥१८७॥''

टीकार्थ—यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सैकड़ों परमाध्यात्म शास्त्रों में कुशलता रखने वाले मैंने अपनी भावना के निमित्त अर्थात् अशुभ से बचने के लिए यह नियमसार नाम का शास्त्र रचा है और प्रारब्ध ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होने से मैं अत्यन्त कृतार्थता को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके इस ग्रन्थ को रचा है? प्रामाणिक परम गुरु के प्रसाद से जानकर। क्या जानकर? वीतराग देव के मुखारविन्द से निकले हुए परमोपदेशरूप जिनोपदेश को जानकर। जिनोपदेश कैसा है? पूर्वापर दोष से रहित है अर्थात् पूर्वापर दोषों के कारणभूत समस्त मोह,

---

पूर्वापरा-सकल दोष-विहीन प्यारा, होता जिनागम अपार अगाध न्यारा।
मैंने स्वकीय-शुचिभाव-निमित्त भाया, जाना उसे 'नियमसार' पुनः रचाया ॥१८७॥

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अञ्चितपञ्चास्तिकायपरिसनाथस्य सञ्चितपञ्चाचारप्रपञ्चस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पञ्चभावप्रपञ्चप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचना नियम-व्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाडम्बरसमृद्धस्य उपयोगत्रय विशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। सूत्रतात्पर्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्, शास्त्रतात्पर्यं त्विदमुपदर्श्यते। भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मक-निर्व्याबाध-निरन्तरानङ्गपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरञ्जननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनय-निचयांचितं पञ्चमगतिहेतुभूतं पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चयव्यवहार-नययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपञ्चाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूप-श्रद्धान परिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्ष स्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति।

राग, द्वेष के अभाव से युक्त श्री अरहंत भगवान् के मुख से निर्गत होने के कारण निर्दोष है।

यहाँ कुछ और भी कहते हैं–जो समस्त आगम के अर्थ समूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, जिसमें नियम शब्द के द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। जो सुशोभित पञ्चास्तिकाय से सहित है, जिसमें पञ्च आचारों के प्रपञ्च का संचय है, जो षड्द्रव्यों से विचित्र है, जिसमें सप्त तत्त्व और नव पदार्थों का वर्णन किया गया है, जो औपशमिकादि पाँच भावों के प्रपञ्च के प्रतिपादन करने में तत्पर है, जो निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परमालोचना, नियम और व्युत्सर्ग आदि समस्त परमार्थभूत क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध है तथा शुभोपयोग आदि तीन उपयोग से विशाल है ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का तात्पर्य दो प्रकार का–एक सूत्र तात्पर्य और दूसरा शास्त्र तात्पर्य। इनमें से सूत्र तात्पर्य तो प्रत्येक गाथा में पद्यों द्वारा किया जा चुका है, शास्त्र तात्पर्य यहाँ बतलाते हैं–

''यह भगवत्प्ररूपित शास्त्र मुक्तिरूपी सुन्दरी से होने वाले परम वीतरागात्मक, अव्याबाध एवं अन्तर उत्कृष्ट अनंग सुख को देना वाला है, अतिशयरहित–नित्यशुद्ध निरञ्जन–निज कारण परमात्मा की भावना का कारण है, समस्त नयों से सुशोभित है, पञ्चमगति–मोक्ष का कारण है और पञ्चेन्द्रियों से रहित–शरीरमात्र परिग्रह के धारक श्री कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा इसे जो निश्चय और व्यवहारनय का विरोध न करते हुए जानते हैं वे महान् पुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्र के हृदय को जानने वाले, परमानन्द रूप वीतराग सुख के अभिलाषी, चौबीस प्रकार के बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के प्रपंच को छोड़ने वाले तथा त्रिकाल में उपाधि रहित स्वस्वरूप में लीन निजकारण परमात्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरणरूप भेदोपचार की कल्पना से निरपेक्ष होकर केवल स्व–स्वरूप सम्बन्धी रत्नत्रय में तत्पर होते हुए शब्दब्रह्म का फल जो नित्यसुख–मोक्षसुख उसके भोक्ता होते हैं।''

मालिनी

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत्।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

अनुष्टुप्

पद्मप्रभाभिधानोद्धसिन्धुनाथसमुद्भवा।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत्।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

वसन्ततिलका

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणैः परिवृत्तं सकलेन्दुबिम्बम्।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

टीकाकार कहते हैं कि–''यह उत्तम शास्त्र सुकवि जनरूपी कमलों को आनन्दित करने के लिए सूर्य तुल्य श्री कुन्दकुन्ददेव के द्वारा सुन्दरसुन्दर पदों के समूह से रचा गया है, विशुद्ध आत्मा की इच्छा करने वाला जो पुरुष इसे अपने हृदय में धारण करता है, वह मुक्ति लक्ष्मीरूपी स्त्री का इष्ट वर होता है ॥३०८॥''

पद्मप्रभ नामक श्रेष्ठ समुद्र से उत्पन्न हुई यह व्याख्या रूपी तरङ्गों की माला सज्जनों के चित्त में सदा विद्यमान रहे ॥३०९॥

''इस ग्रन्थ में यदि व्याकरण शास्त्र के विरुद्ध कोई पद हो तो उसे उत्तम कविजन दूर कर उसके स्थान पर उत्तम – निर्दोष पद की स्थापना करें ॥३१०॥''

''जब तक सुन्दर आकाश में तारागणों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल सुशोभित है तब तक हेय पदार्थों की सत्ता को दूर करने वाली यह तात्पर्यवृत्ति सत्पुरुषों के विशाल हृदय में विद्यमान रहे ॥३११॥''

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः श्रुतस्कन्धः॥

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः।

इस प्रकार सुकविजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य तुल्य तथा पञ्चेन्द्रियों के प्रसार से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारक श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक नियमसार की व्याख्या में शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवाँ श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा विरचित श्रीनियमसारसूत्र और श्री पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा विरचित उसकी तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या या हिन्दी अनुवाद पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर ने मार्गशीर्ष शुक्ल अष्टमी, वीर निर्वाण संवत् २४७४ को तदनुसार ईस्वी सन् १९३१ की रात्रि में आठ बजे मसुरयाई ग्राम (सागर) में पूर्ण किया।

कुन्दकुन्द आचार्य वर, हुए परम निर्ग्रन्थ।
नियमसार जिनने रचा किया प्रकट शिवपन्थ ॥१॥

पद्मप्रभमलधारि ने टीका रखी अनूप।
सुरभाषा में जिसे लखि, होत प्राप्त निज रूप ॥२॥

पञ्चमकाल कराल यह हुए मर्त्य मतिहीन।
जिनका कुछ उपकार हो यह विचार मन लीन ॥३॥

हिन्दी टीका मैं लिखी शब्द वाक्य अनुसार।
पढ़ो पढ़ावो भव्य जन, करो परिश्रम सार ॥४॥

पारगुवां में जन्म ले, सागर कीना वास।
गल्लीलालतनूज मैं हुआ विज्ञ जन दास ॥५॥

वर्णी जी की सत्कृपा से पाया कुछ ज्ञान।
जिससे निज मन में हुआ मोह तिमिर अवसान ॥६॥

दयाचन्द सद्गुरु मिले, सम्यग्दृष्टि अनूप।
विरले हैं इस विश्व में जिनसे विमल स्वरूप ॥७॥

धर्मशास्त्र के बोध में, आलोकित उन कीन।
मोहावृत्त मम आतमा, शुद्ध निजातम चीन ॥८॥

सिन्धु मुनीश्वर भूत युग संवत्सर कर जान।
मगशिर शुक्ला अष्टमी मसुराही वर थान ॥९॥

प्रथम प्रहर में रात्रि के पूरन कीना काम।
चार माह इसमें लगे रहे भाव निज धाम ॥१०॥

भूल चूक बुध जन लखो, धारो कृपा विवेक।
शुद्धचित्त हो करत हूँ विनती बार अनेक ॥११॥

सागर जिलान्तर्गत राहतगढ़ के निकटवर्ती मसुरहाई ग्राम में मार्गशीर्ष शुक्ल अष्टमी, वीर निर्वाण संवत् २४७४ को तदनुसार ईस्वी सन् १९३१ को रात्रि के प्रथम पहर में पूर्ण किया। इसके लेखन में चार माह का समय व्यतीत हुआ।

पद्यानुवाद प्रशस्ति

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

स्थान एवं समय परिचय

रहा तपोवन नियम से रम्य क्षेत्र थूबौन,
जहाँ ध्यान में उतरता मुनि का मन हो मौन ॥२॥

शांतिनाथ जिननाथ है दर्शन से अति हर्ष।
धारा वर्षायोग उन चरणन में इस वर्ष ॥३॥

गात्र गगन गति गंध की भाद्र पदी सित तीज।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥४॥

गाथानुक्रमणिका

टीकागत श्लोकानुक्रमणिका

उद्धृत श्लोक / गाथानुक्रमणिका